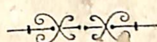


मानव-शरीर-रहस्य

द्वितीय भाग



लेखक

डॉक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा

बी० एस्-सी०, एम्० बी० बी० एस्०

चीफ़ मेडिकल आफ़िसर

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी.



सम्पादक

श्रीप्रेमचन्द



प्रकाशक

(राजा) रामकुमार प्रेस बुकडिपो

उत्तराधिकारी-नवलकिशोर-प्रेस बुकडिपो, लखनऊ.

द्वितीयावृत्ति]   १९५१   [मू[illegible]

विपिनबिहारी कपूर द्वारा
(राजा) रामकुमार यन्त्रालय में मुद्रित और प्रकाशित
उत्तराधिकारी—नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.

विषय-सूची

—::—::—

चित्र-सूची

प्लेट-सूची

मानव-शरीर-रहस्य

द्वितीय भाग

वृक्क और उसका कार्य

शरीर में उदर के भीतर दाहनी ओर बाईं ओर दो वृक्क स्थित हैं। शरीर की विषैली वस्तुओं का त्याग इनका कार्य है। शरीर में जो भिन्न-भिन्न रासायनिक क्रियाएँ होती हैं, उन सबसे कुछ-न-कुछ निकृष्ट पदार्थ बनते हैं। यदि वे पदार्थ शरीर हो में रहें, तो शरीर को उनसे हानि पहुँचे। कार्बन-डाइ-ओक्साइड एक ऐसी ही विषैली वायु है, जो भोजन के कुछ पदार्थों के भंजन से शरीर में बनती है। फुफ्फुस इस वायु को प्रश्वास द्वारा शरीर से निकाल देते हैं। यूरिया, अमोनिया, क्रियेटिनीन इत्यादि भी ऐसी ही वस्तु हैं, जिनको यकृत् रक्त से अलग कर लेता है और वे मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकाल दी जाती हैं।

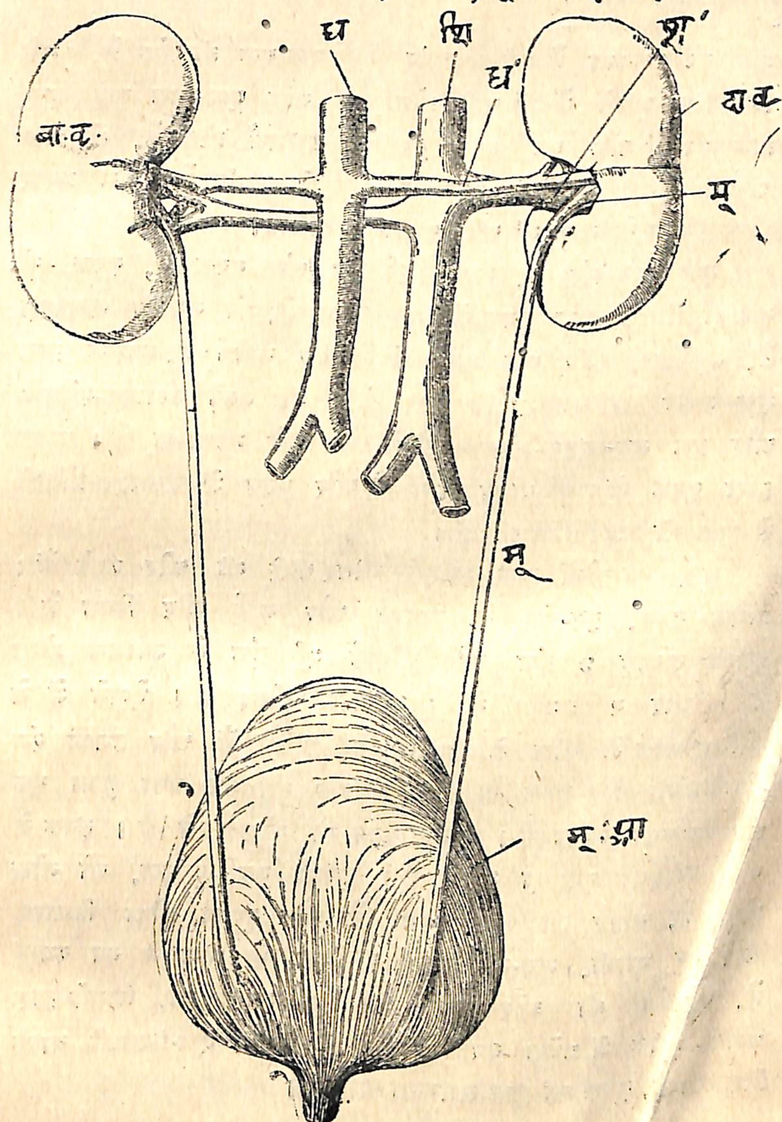
अतएव वृक्क को शरीर का शुद्धिकर्ता कहना चाहिए, क्योंकि यह अंग शरीर को सब विषैली वस्तुओं से मुक्त करता रहता है। जहाँ इसका कार्य बंद हो जाता है, जैसा कि इसके रोगग्रस्त होने में, तो शरीर की बहुत बुरी दशा हो जाती है। हम इसका अनुमान कर सकते हैं कि यदि हमारे मकान एक दो दिन भी

स्वच्छ न किए जायँ तो क्या दशा होगी ? इसी प्रकार यदि शरीर की स्वच्छता का कार्य किसी प्रकार रुक जाता है, तो शरीर-रूपी मकान की भी वही दशा होती है । सारे शरीर पर शोथ आ जाता है । मूत्र निकलना कम हो जाता है । यूरिया इत्यादि वस्तुएँ, जो साधारणतया मूत्र के द्वारा निकला करती हैं, निकलनी बंद हो जाती हैं । इससे सारे शरीर में विष का संचार हो जाता है और अंत में रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

किसी-किसी मनुष्य के शरीर में दो के स्थान में एक ही वृक्क देखने में आया है । कुछ रोगों में भी, जैसे कि वृक्क के अर्बुद में, रोगग्रस्त वृक्क को निकालना पड़ता है । ऐसा करने के पूर्व इस बात की भली भाँति परीक्षा कर ली जाती है कि दूसरा वृक्क अपनी क्रिया उत्तम प्रकार से कर रहा है और कर सकता है । ऐसी अवस्थाओं में दूसरा वृक्क जो शरीर में शेष रह जाता है, उसके आयाम में वृद्धि हो जाती है; क्योंकि उसको दो वृक्कों का काम करना पड़ता है । शरीर से सारा मूत्र और विषैली वस्तुएँ, जो पहले दोनों वृक्कों द्वारा शरीर से निकलते थे, वह अब एक ही वृक्क के द्वारा शरीर का त्याग करते हैं । 'इस कार्य की वृद्धि के कारण अंग को भी अपना आयाम बढ़ाना पड़ता है । अधिक कार्य करने के लिये अंग भी तो बड़ा होना चाहिए ।

प्रकृति ने सारे शरीर में यही प्रबंध रक्खा है । यदि दोनों अंगों में से एक अंग बेकाम हो जाता है, तो दूसरा अंग तुरंत ही उनका काम करने के लिये अपने शरीर को बढ़ा देता है । फुप्फुस में भी ऐसा होता है । कभी-कभी एक फुप्फुस को बेकाम कर देना पड़ता है । राजयक्ष्मा-रोग में ऐसा किया जाता है । उस समय दूसरा फुप्फुस बड़ा हो जाता है और वह सारे शरीर के रक्त को

चित्र नं० ५७—वृक्क, गवीनी, मूत्राशय इत्यादि ।



दा० वृ०—दाहना वृक्क बा० वृ०—बायाँ वृक्क ध०—बृहद् धमनी
सि—महाशिरा ध०—वृक्क की धमनी शि०—वृक्क की शिरा
मू०—गवीनी का मूत्राशयिक भाग मू०—गवीनी मू० आ०—मूत्राशय

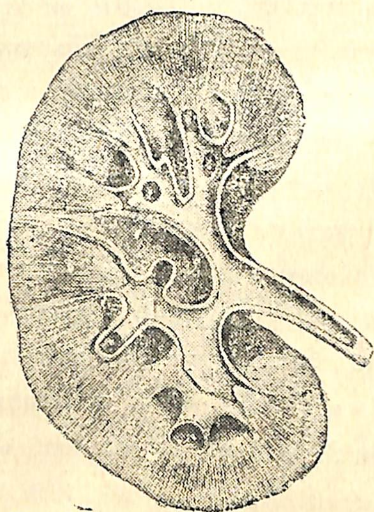
शुद्धि करने लगता है। जिस शरीर में केवल एक ही अंग है, उसके भिन्न-भिन्न भागों में भी यही होता है। यदि एक भाग कुछ विकृत हो जाता है और अपने काम करने में असमर्थ होता है, तो उस अंग के दूसरे भागों में तुरंत ही वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार विकृत भाग के कार्य की क्षति पूरी हो जाती है।

मूत्र-वाहक-संस्थान, जिसका प्रधान अंग वृक्क है, वृक्क, दो नलियाँ, जिनके द्वारा वृक्क से मूत्र जाता है, जो गवीनी कहलाती हैं, मूत्राशय, और एक नली से मिलकर बनता है, जिसके द्वारा मूत्र शरीर से बाहर निकलता है। यह नली उत्पादक-संस्थान और इस मूत्र-वाहक-संस्थान दोनों के लिये साधारण है। इसके द्वारा वृक्क से मूत्र बाहर आता है और पुरुष में उत्पादक-ग्रंथियों से शुक्र भी बाहर निकलता है।

वृक्क—ये दोनों वृक्क उदर के भीतर पीछे की ओर रहते हैं। प्रत्येक वृक्क, पृष्ठ-वंश के दाहनी और बाईं ओर स्थित है। इसकी लंबाई ४ इंच और चौड़ाई २½ इंच के लगभग होती है। भार २ छटाँक से कुछ ऊपर होता है। देखने में ये लोभिए शाक के बीज के समान दिखाई देते हैं और इनका रंग ैंगनी होता है। वृक्क के ऊपर सौत्रिक तंतु का बना हुआ एक ावरण चढ़ा रहता है। इसको वृक्क का कोष कहते हैं। वृक्क के पी बारहवीं पशु‍का रहती है। इसका वह किनारा, जो गोल होत है, बाहर की ओर रहता है और दूसरा छोटा किनारा, जहाँ र धमनी, मूत्र-नलिका और शिरा के निकलने का स्थान है, पृष्ठवंश की ओर रहता है। इस स्थान को, जिसके द्वारा धमनी वृक्क में प्रवेश करती है और शिरा और मूत्र-प्रणाली बाहर निकलती है, वृक्क का मुख समझना चाहिए।

आंतरिक रचना—वृक्क को यदि हम किसी तेज़ चाकू से लंबाई की ओर दो समान भागों में काट दें, तो उसकी आंतरिक रचना हमको दिखाई देगी। यह बड़ी ही विचित्र है। वस्तुतः वृक्क बहुत बारीक नलियों का एक समूह है। ये नलियाँ एकत्रित होकर एक विशेष रूप धारण कर लेती हैं। वृक्क के जो दो भाग हैं, वे इन नलियों के भिन्न-भिन्न भागों से बने हैं। वृक्क में दो भाग दिखाई देते हैं; एक मध्यस्थ और दूसरा प्रांतस्थ। मध्यस्थ भाग बीच में रहता है और उसका रंग गहरा बैंगनी होता है। प्रांतस्थ भाग बाहर की ओर रहता है और उसका रंग हलका बैंगनी होता है।

चित्र नं० ५८—वृक्क को लंबाई का परिच्छेद



चित्र में मीनारें और मूत्र-नलिकाओं के भाग दिखाए हैं, जिनमें होकर मूत्र मुख्य प्रणाली में पहुँचता है।

मध्यस्थ भाग में अनेक नलियाँ खुलती हैं। जिस स्थान में खुलती हैं, वह फैलकर एक मीनार के आकार का हो जाता है। इनको अँगरेज़ी में Pyramid कहते हैं। वस्तुतः यह वृक्क की सूक्ष्म नलियों का एक गुच्छा होता है। सारे वृक्क में इन मीनारों की संख्या १० या १२ के लगभग होती है। वृक्क से जो मूत्र-प्रणाली जिसको गवीनी कहते हैं, मूत्र को मूत्राशय तक ले जाती है। वह जिस स्थान पर वृक्क से निकलती है, वह स्थान आगे के भाग की अपेक्षा अधिक चौड़ा होता है। प्रत्येक नली जहाँ से आरंभ होती है, वहाँ अधिक चौड़ी होती है। ज्यों-ज्यों वे आगे चलती हैं, त्यों-त्यों उसकी चौड़ाई कम होती जाती है। इसी प्रकार गवीनी भी वृक्क के पास अधिक चौड़ी है। आगे उसकी चौड़ाई कम हो जाती है। वृक्क के भीतर गवीनी का यह विस्तृत भाग ८ या १० नलिकाओं में विभक्त हो जाता है और प्रत्येक भाग मीनार के शिखर से मिला रहता है, जिससे मीनारों के द्वारा जो कुछ भी मूत्र आता है, वह सीधा गवीनी की शाखाओं में चला आता है।

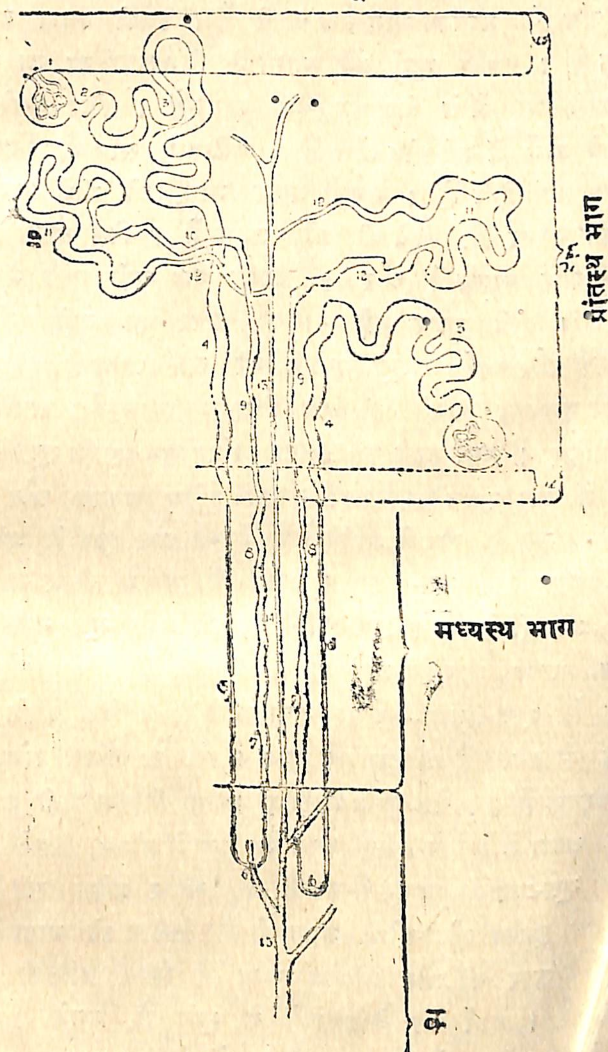
इन मीनारों की संख्या भिन्न-भिन्न पशुओं में भिन्न होती है। किसी-किसी पशु में केवल एक मीनार पाई जाती है।

इस प्रकार यह वृक्क केवल मूत्र लानेवाली सूक्ष्म नलिकाओं, केशिकाओं, शिराओं और रस-वाहिनी नलिकाओं का एक समूह है वृक्क के प्रांतस्थ भाग में सूक्ष्म रक्त-नलिकाओं के गुच्छे रहते हैं। इन गुच्छों के चारों ओर से ये मूत्र-नलिकाएँ आरंभ होती हैं और प्रांतस्थ भाग में होती हुई मध्यस्थ भाग में आकर गवीनी के भाग में समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार नलियाँ रक्त से जो कुछ मूत्र ग्रहण करती हैं, उनको गवीनी तक पहुँचा देती हैं।

ये सूक्ष्म मूत्र-नलिकाएँ, जो रक्त-नलिकाओं के गुच्छों, जिनको

मूत्रोत्सिका (Glomerulu) कहते हैं, के चारों ओर से आरंभ

चित्र नं० ५९—मूत्रोत्सिका

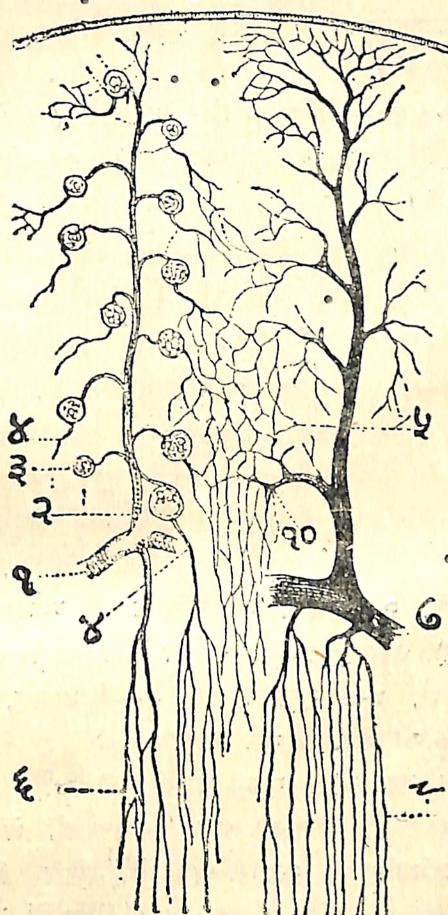


२,३,४,५,६,७,८,९,१०,११,१२—सूक्ष्म मूत्र प्रणालिका के भिन्न-भिन्न भाग जो १२ भाग के द्वारा मूत्र-प्रवाहिनी नलिका १३, १४ में मिल जाती है।

होकर अंग के मध्यस्थ भाग तक आती हैं। इनकी रचना बड़ी ही विचित्र है। इनका मार्ग कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। किसी भाग में वे बिलकुल सीधी रहती हैं। फिर दूसरे भाग में, इनके मार्ग में कई मोड़ होते हैं। नलिकाएँ साँप की गेंडली के समान दिखाई देती हैं। उनका प्रथम भाग, जो सीधे मार्ग का अवलंबन करता है, नीचे की ओर जाता है। फिर दूसरा भाग ऊपर की ओर चढ़ता है और वहाँ जाकर एक बड़ी नली में मिल जाता है। इसी प्रकार कई नलियाँ आकर एक बड़ी नली में मिलती हैं और वहाँ से मूत्र गवीनी की ओर जाता है। इसकी रचना को पूर्णतया जानने के लिये चित्र का ध्यानपूर्वक अवलोकन करना चाहिए। यहाँ कहने का इतना ही प्रयोजन है कि मूत्रोत्सिका वास्तव में वह स्थान है, जहाँ रक्त से दूषित अवयव और जल भिन्न होकर मूत्र के रूप में आ जाते हैं। यह अंग वृक्क के प्रांतस्थ भाग में रहता है। मूत्र-नलिकाएँ वहाँ से आरंभ होकर मध्यस्थ भाग की मीनारों के शिखरों में आती हैं जहाँ से मूत्र गवीनी में होता हुआ मूत्राशय में पहुँच जाता है।

वृक्क में रक्त-प्रवाह—जैसा ऊपर कहने से विदित है कि मूत्र रक्त-प्रवाह से बनता है। इसलिये वृक्क में रक्त का अधिक संचालन होना आवश्यक है। प्रत्येक वृक्क में बृहद् धमनी की एक बड़ी शाखा द्वारा रक्त आता है। ये शाखाएँ वृक्क के मुख में होकर, जिसके द्वारा शिरा और मूत्र-प्रणाली बाहर निकलती है, भीतर प्रवेश करती हैं। वहाँ पहुँचकर इनका छोटी-छोटी शाखाओं में विभाग हो जाता है। प्रत्येक शाखा ऊपर की ओर प्रांतस्थ भाग में स्थित उत्सिका की ओर जाती है। वहाँ जो केशिकाओं के झुंड हैं, उनमें इन्हीं शाखाओं से रक्त पहुँचता है। इन केशिकाओं में रक्त भ्रमण करने

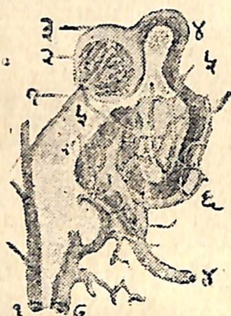
चित्र नं० ६०—वृक्क का रक्त वितरण



१—धमनी; २—धमनी की शाखा; ३—मूत्रोत्सिका; ४—उससे निकलनेवाली नलिका जो मध्यस्थ भाग को जाती है; ५—प्रांतस्थ भाग की केशिकाएँ; ६—मध्यस्थ भाग की केशिकाएं; ७—शिरा; ८—प्रांतस्थ भाग की शिराएँ; ९—वृक्क के भागों के बीच में जानेवाली शिराएँ।

के पश्चात् फिर एक शिरा में चला जाता है। वह शिरा फिर अनेक भागों में विभक्त होती है, जो मूत्र-वाहिनी सूक्ष्म नलिकाओं के बीच में वितरित हैं।

चित्र नं० ६१—मेलपिघियाई के अंग (Malpighian body) मूत्रोत्सिका, मूत्र-नलिका और रक्त-नलिका का संबंध दिखाया गया है।



१—धमनी, २—धमनी की नलिका जो ग्लोमेरूलस को जा रही है, २—मूत्रोत्सिका, ३—ऊपर का कोष जहाँ से मूत्र-नलिका आरंभ होती है, ४-४ मूत्र-नलिका, ५—केशिकाएँ, ६—केशिका-जाल, ७—वृक्क की शिरा की एक शाखा।

इस प्रकार यह शिरा एक धमनी की भाँति केशिकाओं में विभक्त हो जाती है, जिनसे सूक्ष्म नलिकाओं में रक्त पहुँचता है। इन केशिकाओं का रक्त फिर छोटी-छोटी शिराओं द्वारा एकत्रित होता है और अंत में उस बड़ी शिरा में, जो वृक्क से निकलकर महाशिरा में मिलती है, चला जाता है।

गवीनी—प्रत्येक वृक्क से मूत्र गवीनी नामक नलिकाओं द्वारा मूत्राशय तक जाता है। अतएव शरीर में दो गवीनी होती हैं; एक

दाहिनी ओर, दूसरी बाईं ओर। प्रत्येक गवीनी लगभग १६ इंच लंबी होती है। ऊपर की ओर यह वृक्क के मुख से आरंभ होकर नीचे की ओर मूत्राशय तक जाती है। वहाँ पहुँचकर, मूत्राशय की दीवार को छेदकर उसके भीतर एक छिद्र द्वारा प्रवेश करती हैं। शरीर के अंगों की अन्य समान नलियों की भाँति ये भी सौत्रिक तंतु से निर्मित हैं। उनके भीतर की ओर कुछ श्लैष्मिक कला रहती है। सौत्रिक तंतु और श्लैष्मिक कला के बीच में कुछ अनैच्छिक मांसपेशी का भाग रहता है।

इसी नली द्वारा मूत्र मूत्राशय में पहुँचता है। वृक्क के मूत्र में कभी-कभी पथरी इस प्रणाली में आकर रुक जाती है, जिससे रोगी को अत्यंत पीड़ा होती है।

मूत्राशय—मूत्राशय, जैसा इसके नाम से विदित है, मूत्र के आश्रय का स्थान है। यह एक थैला है, जिसमें मूत्र भरा रहता है। खाली होने पर यह कुछ त्रिकोणाकार-सा दीखता है। मूत्र के भरने पर बिलकुल गोल हो जाता है। इसका नीचे का भाग मूत्र-मार्ग से, जिसके द्वारा वह शरीर से बाहर निकलता है, जुड़ा रहता है। इस कारण वह धीरे-धीरे आकार में कम होता जाता है। यहाँ तक कि उस नली के साथ मिल जाता है। मूत्राशय में रक्त और लसीका की नलिकाएँ काफ़ी होती हैं।

मूत्राशय में ही अधिकतर पथरी बना करती है। इसका कारण, जैसा आगे चलकर विदित होगा। मूत्र में सम्मिलित कुछ लवणों का एकत्रित हो जाना होता है।

वृक्क का मस्तिष्क से नाड़ियों द्वारा संबंध रहता है।

वृक्क का कर्म—वृक्क का कर्म मूत्र बनाना है। धमनियों के द्वारा वृक्क में रक्त पहुँचता है और वृक्क से अशुद्ध रक्त और मूत्र

निकलता है। इस प्रकार वृक्क के पास एक प्रकार का तरल पदार्थ पहुँचता है। उससे वृक्क दो प्रकार के पदार्थ बना देता है।। ये दोनों पदार्थ उस पदार्थ से, जिससे वे बनते हैं, अवयवों में भिन्न होते हैं। यह काम वृक्क के सेलों का है। सेल स्वयं इस शक्ति को उत्पन्न करते हैं। मूत्र में रक्त की अपेक्षा, जो धमनी द्वारा वहाँ आता है, बहुत से पदार्थ अधिक होते हैं। यूरिया, यूरिक अम्ल इत्यादि रक्त की अपेक्षा मूत्र में अधिक होते हैं। मूत्र में यूरिया की मात्रा २% के लगभग होती है; पर रक्त में वह केवल ०·०३% होती है। इसी प्रकार दूसरी वस्तुएँ भी हैं। यह शक्ति वृक्क के सेलों में है, किंतु वे रक्त से कुछ विशेष वस्तुओं को भिन्न कर लेते हैं।

यह शक्ति उनको उस रक्त के द्वारा मिलती है जो उनका पोषण करता है। इस कारण यह आवश्यक है कि वृक्क में रक्त का प्रवाह उत्तम प्रकार से होता रहे। वृक्कों में जब रोग हो जाता है तो उस समय शुद्ध रक्त से लाभ उठाने की वृक्क में शक्ति नहीं रहती। वे मूत्र से दूषित अवयवों को दूर नहीं कर सकते; उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसे समय में ऐसी औषधि देना, जिससे अधिक मूत्र बने, व्यर्थ और हानिकारक है। ऐसी दशा में वृक्कों पर से कार्य का भार जितना भी हटाया जा सके उतना हटाने का उद्योग करना चाहिए जिससे उनको विश्राम मिले। आवश्यकता पड़ने पर चर्म से वृक्क का काम लिया जा सकता है।

मूत्र दो प्रकार के अवयवों से बना हुआ है। एक जल और दूसरे घन पदार्थ। इन दोनों के मिश्रण का नाम मूत्र है। घन पदार्थ में यूरिया, यूरिक अम्ल वे अन्य लवण, जिनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा, होते हैं। अब प्रश्न यह है कि वृक्क का कौन-कौन-सा भाग किस-किस पदार्थ को बनाता है। हम देख चुके हैं कि वृक्क में

कई प्रकार की रचनाएँ उपस्थित हैं। उत्सिका की रचना भिन्न ही है। जो मूत्र-प्रवाहिनी सूक्ष्म नलिकाएँ हैं, उनकी बनावट दूसरी ही है। यदि इन सबों का कार्य समान ही है तो रचना के भिन्न होने की कौन-सी आवश्यकता है। इस कारण यह प्रतीत होता है कि मूत्र के भिन्न-भिन्न अवयव भिन्न-भिन्न भागों द्वारा बनाए जाते हैं अथवा कोई भिन्न-भिन्न कर्म उनके द्वारा किए जाते हैं, जिनका परिणाम यह होता है कि मूत्र अपने उस स्वरूप में, जिसको हम देखते हैं, शरीर से बाहर निकलता है।

कुछ प्रयोगकर्ताओं का विचार था कि उत्सिका एक छन्ने की भाँति काम करता है। वह कुछ वस्तुओं को बाहर जाने देता है और दूसरे प्रकार की वस्तुओं को रोक लेता है। छन्ने में होकर भी कोई वस्तु तभी छनती है जब उस पर भार बढ़ता है। उत्सिका में भी इसी प्रकार रक्त का भार अधिक रहता है। उसमें जो नलिका रक्त लाती है वह रक्त को बाहर ले जाने-वाली नलिका से कहीं बड़ी है। इस प्रकार वृक्क में जितना रक्त आता है उतना बाहर नहीं जाता। इससे वहाँ रक्त का भार बराबर अधिक बना रहता है। इसी कारण रक्त से कुछ अवयव अलग होकर मूत्र-नलिकाओं में आ जाते हैं और इनसे मूत्र बन जाता है।

लडविग का सिद्धांत—इस विषय में दो प्रयोगकर्ताओं के सिद्धांत प्रसिद्ध हैं। एक का नाम लडविग है और दूसरे का बोमेन (Ludwig & Bowman)। लडविग अपने प्रयोगों द्वारा इस परिणाम पर पहुँचा था कि मूत्र के सारे भाग उत्सिका ही में बनते हैं, किंतु उस मूत्र का संगठन भिन्न होता है। इसमें लवण और जल की मात्रा साधारण रक्त के प्लाज़्मा ही के बराबर होती

है। जब मूत्र वहाँ से बनकर आगे को चलता है और सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा बहता है तो उस समय जल का बहुत-सा भाग इन नलिकाओं की श्लैष्मिक कला द्वारा सोख लिया जाता है। साथ में कुछ लवण भी सोख लिए जाते हैं। इस कारण मूत्र में उपस्थित लवणों की निष्पत्ति बढ़ जाती है। साधारण रक्त के प्लाज़्मा में ०.०३% से अधिक यूरिया नहीं होता; किंतु मूत्र में २% होता है। लडविग के अनुसार उस प्रथम मूत्र के, जो उत्सिका में उत्पन्न होता है, कुछ जल के शोषण से यूरिया की इतनी अधिक निष्पत्ति हो जाती है। अन्य लवणों के बारे में भी उसका यही विचार था।

बोमेन का सिद्धांत—बोमेन का सिद्धांत इससे भिन्न है। उसके अनुसार उत्सिका में केवल मूत्र का जल और कोई साधारण लवण जैसे कि सोडियम-क्लोराइड (Nacl) आदि बनते हैं। दूसरी जितनी वस्तुएँ हैं जैसे यूरिया, यूरिक अम्ल, हिप्यूरिक अम्ल इत्यादि वे सूक्ष्म नलिकाओं में बनते हैं। इस प्रकार जल और साधारण लवण उत्सिका से आते हैं और यूरिया इत्यादि लवण उनके साथ मार्ग में मिल जाते हैं; इस प्रकार मूत्र बन जाता है। उसका विचार था कि उत्सिका केवल एक छन्ने की भाँति क्रिया करता है। उसके सेलों में स्वयं कुछ चुनाव की शक्ति (Selective power) नहीं है, जैसा कि शरीर के बहुत से अंगों के सेलों में है। उसके मत के अनुसार सूक्ष्म नलिकाओं में रक्त से विशेष लवणों को चुनने की शक्ति है।

इस प्रकार इन दोनों सिद्धांतों में बहुत अंतर है। एक दूसरे के विरुद्ध हैं। लेकिन एक बात को दोनों मानते हैं। वह यह कि उत्सिका और सूक्ष्म-नलिका दोनों की क्रियाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं; इन दोनों के काम अलग-अलग हैं।

आधुनिक मत—आजकल इस शास्त्र के वेत्ता बोमेन का ही सिद्धांत मानते हैं। कम से कम वे उसके सिद्धांत के अंतिम भाग से पूर्णतया सहमत हैं कि सूक्ष्म-नलिकाओं के सेलों का यह कर्म है कि वे रक्त से यूरिया जैसे लवणों को सोख लेते हैं और मूत्र में मिला देते हैं। किंतु सिद्धांत के प्रथम भाग से बहुतों का मतभेद है कि उत्सिका केवल एक छन्ने की भाँति काम करता है। कुछ विद्वानों का मत है कि उत्सिका को केवल एक छन्ने की भाँति नहीं माना जा सकता। उसके सेल जीवित हैं, तो कोई कारण नहीं कि वे शरीर के दूसरे सेलों की भाँति कार्य न करें। उनका विचार है कि इन सेलों में भी चुनाव की शक्ति है और वे उसका प्रयोग करते हैं।

दूसरों का कहना है कि उत्सिकाओं की क्रिया वैसे ही होती है जैसी कि लसीका-स्थानों (Lymph-hearts) को परिमित करनेवाली झिल्लियों की होती है। उनके द्वारा लिंफ़ से छनकर कुछ अवयव दूसरी ओर चले जाते हैं। संभव है कि उत्सिका के सेलों में चुनाव की शक्ति हो, पर अभी तक इसका कोई उचित प्रमाण नहीं मिला है। सूक्ष्म-नलिकाओं द्वारा लवणों के बनने में अनेक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है।

वृक्क की क्रिया का मुख्य प्रयोजन रक्त में सम्मिलित भिन्न-भिन्न वस्तुओं की मात्रा को परिमित रखना है। जहाँ भी रक्त में कोई वस्तु अपनी स्वाभाविक सीमा से अधिक होती है त्यों ही वृक्क उसे रक्त से अलग कर देते हैं। यूरिया इत्यादि वस्तुएँ इसके उदाहरण हैं। शर्करा की थोड़ी सी मात्रा रक्त में प्रत्येक समय उपस्थित रहती है। किंतु इक्षुमेह (Diabetes) में, जहाँ इसकी मात्रा स्वाभाविक सीमा से बढ़ जाती है, वृक्क उसको मूत्र के द्वारा निकालने

लगते हैं। वृक्क के सेल इस संबंध में बड़े अनुभवो मालूम होते हैं। ज्यों ही रक्त में किसी प्रकार किसो वस्तु की मात्रा बढ़ जाती है त्यों ही वृक्क के सेलों को क्रिया भी बढ़ जाती है और वे तुरंत हो उसे रक्त से पृथक् करना आरंभ कर देते हैं। जितने शरीर में विष पहुँचते हैं, इन सबका वृक्क पर बहुत प्रभाव पड़ता है; क्योंकि वे वृक्क के द्वारा प्रवाह करते हैं। वृक्क उनको रक्त से अलग करने का उद्योग करता है और इसमें कभी-कभी स्वयं वृक्क के कुछ सेलों का नाश भी हो जाता है।

इस प्रकार रक्त के दोष को दूर करने का कार्य वृक्क का है। इस कार्य में उसको यकृत् और फुप्फुस से बहुत सहायता मिलती है। जब रक्त में कार्बन-डाइ-ओक्साइड को मात्रा बढ़ती है तो फुप्फुस तेज़ो से काम करने लगते हैं; श्वास ज़ोर से चलने लगता है; और सारी कार्बन-डाइ-ओक्साइड की अधिकता दूर हो जाती है। रक्त के विषैले पदार्थों को यकृत् दूर कर लेता है। शरीर में नाइट्रोजन को जो अधिकता होती है, उसको यकृत् ही दूर करता है। इस प्रकार यकृत् यूरिया इत्यादि को प्रोटीनों के अवशिष्ट भागों से बनाता है और वह रक्त द्वारा वृक्क के पास लाई जाती है, जहाँ से वह शरीर से बाहर निकल जाती है। रक्त में शर्करा के अधिक होने से वृक्क के सेल उसे रक्त से पृथक् कर लेते हैं और शरीर से बाहर फेंक देते हैं। जब कभी रक्त में जल का भाग अधिक होता है तो वृक्क उसको भी अलग करते हैं।

मूत्र-प्रवाहक ओषधि—कुछ ओषधियाँ ऐसी होती हैं जो मूत्र का प्रवाह अधिक कर देती हैं। वह मूत्र-प्रवाहक अथवा मूत्रल कहलाती हैं। अँगरेज़ी में इनको Dicuretics कहते हैं। बहुधा कुछ रोगों में इन वस्तुओं को रोगी को देने की आवश्यकता पड़ती है। वृक्क की क्रिया

इनसे कई प्रकार से बढ़ जाती है। कुछ वस्तु वृक्क के सेलों को क्रिया करने को उत्तेजित कर देते हैं। उत्तेजना के अधिक होने से मूत्र अधिक बनने लगता है। यदि वृक्क में किसी प्रकार रक्त-भार बढ़ा दिया जाय तो भी मूत्र का प्रवाह अधिक हो जाता है।

रक्त-भार बढ़ाने के संबंध में यह कहना आवश्यक है कि यदि धमनी के द्वारा शुद्ध रक्त का प्रवाह बढ़ाया जाय तो इससे रक्त-भार बढ़ने के कारण मूत्र अधिक बनता है। यदि वृक्क को शिरा, जहाँ वह वृक्क से निकलती है, बाँध दी जाय तो उससे भी रक्त-भार बढ़ जायगा; क्योंकि वृक्क के भीतर तो रक्त जायगा पर बाहर नहीं निकलेगा। शिरा के बाँधने से जो रक्त-भार बढ़ाया जायगा इससे मूत्र का प्रवाह नहीं बढ़ेगा। कदाचित् उसका कारण यह है कि शिरा को बाँधने से रक्त वृक्क के बाहर तो नहीं जा सकता, पर उसके भीतर धमनी द्वारा आता अवश्य है। इससे वृक्क के भीतर का रक्त बहुत गाढ़ा हो जाता है; क्योंकि उसमें रक्त-कण इत्यादि की स्वाभाविक संख्या से भी मात्रा बढ़ जाती है। इस कारण रक्त से जल पृथक् नहीं हो सकता। अधिक मूत्र उत्पन्न करने के लिये रक्त की अधिक मात्रा के प्रवाह की आवश्यकता है। यही कारण है कि जब वृक्क की धमनी द्वारा रक्त अधिक भेजा जाता है तब तो अधिक मूत्र बनता है और शिरा के रोक देने से मूत्र-प्रवाह और भी कम हो जाता है।

बहुत-सी मूत्र-प्रवाहक ओषधियाँ हृदय की क्रिया को बढ़ाकर मूत्र का प्रवाह बढ़ाती हैं; क्योंकि वृक्क में जब रक्त अधिक पहुँचने लगता है तो मूत्र भी अधिक बनता है। ऐसी ओषधियों के अतिरिक्त जो ओषधियाँ सीधे वृक्क के सेलों पर काम करती हैं, वे सूक्ष्म नलिकाओं की श्लैष्मिक कला को अवश्य हानि पहुँचाती हैं।

मूत्र का गवीनी के द्वारा मूत्राशय में जाना—वृक्क की नलिकाओं में जो मूत्र बनता है वह बूँद-बूँद करके मूत्राशय में पहुँचता है। प्रत्येक वृक्क से एक-एक गवीनी मूत्राशय को जाती है। इस प्रणाली की दीवारों में कुछ अनैच्छिक मांस-पेशी के सूत्र रहते हैं। इस कारण इनमें कुछ संकोचन होता रहता है। इससे प्रणाली का मूत्र मूत्राशय में जाता रहता है। इसके अतिरिक्त मूत्र की जो बूँद प्रणाली में वृक्क से आती है वह अपने से पूर्व की बूँद को ढकेलती है।

इन नलियों का अंतिम आधा या तीन चौथाई इंच का भाग मूत्राशय की दीवार के भीतर रहता है। यहाँ पर इसका मार्ग टेढ़ा होता है। मूत्राशय के भीतर जिस स्थान पर इसका छिद्र स्थित है वहाँ का भाग एक अंकुर की भाँति कुछ उभरा रहता है। इस प्रणाली के मूत्राशय की दीवारों द्वारा टेढ़ा होकर जाने या छिद्र तक मांस-पेशी से घिरे होने के कारण मूत्राशय से मूत्र वापस नहीं लौट सकता।

मूत्र का मूत्राशय में पहुँचने का कोई विशेष क्रम नहीं है और न मूत्र का दोनों प्रणालियों में एक ही साथ बहना आवश्यक है। व्रत के दिनों में, जब कुछ भोजन नहीं मिलता तब मूत्र की गति दो या तीन बूँद प्रति मिनट होती है। मूत्र प्रवाह जोर से भीतर श्वास लेने के समय, अथवा व्यायाम या परिश्रम के समय बढ़ जाता है। जिस समय मूत्र मूत्राशय के भीतर प्रवेश करता है उस समय गवीनी का छिद्र और इसके चारों ओर का स्थान ऊपर को उठ जाता है; छिद्र खुलता है और उसमें होकर मूत्र की बूँदें आशय में पहुँच जाती हैं। इसके पश्चात् छिद्र फिर बंद हो जाता है और मूत्राशय के संकुचित होने पर भी मूत्र गवीनी के द्वारा पीछे को नहीं लौट सकता।

मूत्र-त्याग—जब मूत्राशय मूत्र से भर जाता है तो मूत्र-त्याग की इच्छा उत्पन्न होती है। साधारणतया मूत्राशय में २५० सी० सी० के लगभग मूत्र आ सकता है। जब तक मूत्र इसमें कम रहता है उस समय तक मूत्र-त्याग की इच्छा नहीं होती। जब मात्रा इससे अधिक हो जाती है तब मूत्र-त्याग की इच्छा होती है। जितनी मात्रा अधिक होती है उतनी ही इच्छा प्रबल होती है। उस समय मूत्राशय की पेशियों में धीमी-धीमी कंपनाएँ होने लगती हैं। ज्यों-ज्यों मूत्र का भार बढ़ता है, त्यों-त्यों मूत्राशय फैलता है और कंपनाएँ बढ़ती जाती हैं। अंत में कंपना या संकोच इतने वेग से होता है कि भीतर का सारा मूत्र बाहर निकल जाता है; क्योंकि कंपन के वेग से वह संकोचक पेशी, जो मूत्राशय और मूत्र-मार्ग के संयोग-स्थान पर रहती है और साधारणतया मार्ग को बंद किए रहती है, खुल जाती है।

मूत्राशय में इस संकोचक पेशी का एक विशेष स्थान होता है। जहाँ पर शिश्न का मूत्र-मार्ग मूत्राशय के भीतर खुलता है उस स्थान को चारों ओर से घेरे हुए एक मांस-पेशी का छल्ला रहता है। यह साधारणतया ऐसे वेग से संकुचित रहता है कि भीतर के मूत्र की एक बूँद भी बाहर नहीं आ सकती। इसके अतिरिक्त मूत्र-मार्ग के चारों ओर कुछ ऐसी पेशियाँ रहती हैं जो अपने संकोच से मूत्र को रोक सकती हैं। यदि एक शलाका (Catheter) को मूत्राशय में मूत्र निकालने के लिये डाला जाय, तो जब तक शलाका संकोचक पेशी को पार न कर लेगा तब तक भीतर से मूत्र बाहर न निकलेगा।

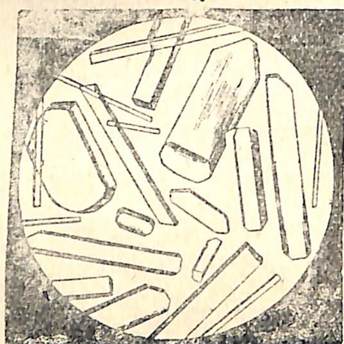
मूत्राशय का नाड़ियों के साथ संबंध रहता है। पीठ के भाग के कशेरुकाओं पर नाड़ियों का एक जाल सा होता है। उसी से मूत्राशय को कुछ नाड़ियाँ आती हैं। वहीं पर सुषुम्ना के भीतर

एक केंद्र रहता है, जिससे मूत्राशय को सूत्र आते हैं। जब मूत्राशय बहुत भर जाता है, तो वहाँ से उत्तेजना सुषुम्ना को जाती है। जहाँ से वह नाड़ियों के जाल द्वारा मूत्राशय की संकोचक पेशियों को चली जाती है जिससे मूत्र-मार्ग खुल जाता है। साथ में मूत्र-मार्ग की पेशियाँ भी ढीली पड़ जाती हैं। बस, मूत्राशय की पेशियाँ संकोच करती हैं और मूत्र-त्याग की क्रिया पूर्ण की जाती है।

उदर की पेशियों से मूत्र-त्याग में बहुत सहायता मिलती है।

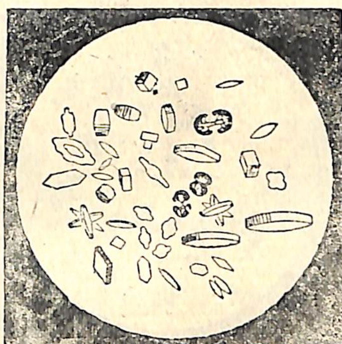
मूत्र—साधारणतया मनुष्य चौबीस घंटे में अपने शरीर से लगभग २५ छटाँक मूत्र त्याग करता है। देश और काल के अनुसार इसमें भिन्नता होती है। जाड़े के दिनों में गरमी की अपेक्षा अधिक मूत्र आता है। जो शीत प्रदेश हैं, उनमें उष्ण प्रदेशों की अपेक्षा अधिक मूत्र-त्याग होता है। रात्रि की अपेक्षा दिन में अधिक बार मूत्र का त्याग करना पड़ता है। अधिकतर स्वस्थ मनुष्य रात्रि को एक भी बार मूत्र-त्याग के लिये नहीं उठते। जिनको रात्रि में तीन या चार बार उठना पड़ता है उनको किसी प्रकार का रोग समझना चाहिए।

चित्र नं० ६२—यूरिया के क्रिस्टल



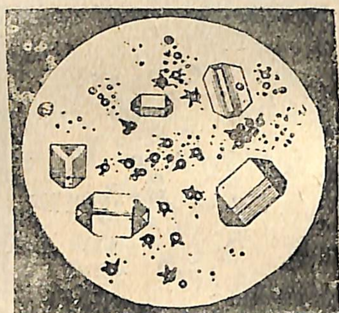
मूत्र का रंग समय के अनुसार बहुत बदलता है। रात्रि भर सोने के पश्चात् प्रातःकाल जो मूत्र त्याग किया जाता है उसका रंग गहरा होता है। गरमी के दिनों में जब शरीर के चर्म से स्वेद निकलता है तब भी मूत्र का रंग गहरा होता है। उन सब दशाओं में, जब मूत्र में लवणों की संख्या अधिक होती है और जल कम होता है, मूत्र का रंग गहरा पीला हो जाता है। यही कारण है कि ज्वर के दिनों में मूत्र गहरे रंग का और जलता हुआ होता है।

चित्र नं० ६३—यूरिक अम्ल के कई प्रकार के क्रिस्टल।



साधारणतया मूत्र का रंग हलके पीले रंग का होना चाहिए। मूत्र की रंजक वस्तुएँ यकृत् के द्वारा बनती हैं और पित्त में सम्मिलित रहती हैं। तुरंत के मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक होती है; क्योंकि इसमें कुछ अम्ल वस्तुएँ सम्मिलित रहती हैं। कुछ समय तक रखने पर वह क्षारीय हो जाता है। कुछ अन्य दशाओं में भी उसमें क्षार उत्पन्न हो जाता है। खूब पेट भरकर भोजन करने के पश्चात् भी मूत्र क्षारीय होता है।

जैसा कई बार ऊपर कहा जा चुका है, मूत्र दो प्रकार के अवयवों से मिलकर बनता है। इसमें एक तो जल होता है और दूसरे कुछ ठोस पदार्थ रहते हैं। मूत्र के १५०० भागों में १४४० भाग जल और शेष ६० भाग ठोस पदार्थों के होते हैं, जिनमें यूरिया, यूरिक अम्ल, हिप्यूरिक अम्ल, सोडियम क्लोराइड, गंधक अम्ल, अमोनिया, क्रियेटिनीन, क्लोरीन, पोटाशियम, सोडियम और केलशियम मुख्य हैं। मूत्र में सबसे अधिक भाग जल का होता है और ठोस पदार्थों में यूरिया और सोडियम क्लोराइड सबसे अधिक होते हैं।

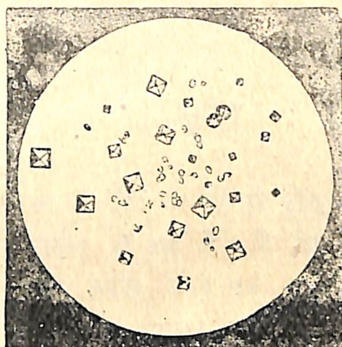


चित्र नं० ६४—मूत्र की तलछट, जिसमें ट्रिपल फ़ास्फेट (Tripple Phosphat) और अमोनिया यूरेट (Ammonium Urate के क्रिस्टल दिखाई देते हैं।

इन वस्तुओं में यूरिया और क्रियेटीन व क्रियेटिनीन का प्रथम यकृत् के साथ वर्णन किया जा चुका है। अमोनिया मूत्र में नाइट्रोजेन ही से बनता है। इस अमोनिया को शरीर अंत में यूरिया के रूप में परिवर्तित कर देता है; किंतु जो रक्त अमोनिया के साथ वृक्क में पहुँचता है वह उस अमोनिया को पृथक् करके मूत्र में मिला देता है।

कुछ रोगों में मूत्र की दशा विकृत हो जाती है। इसमें ऐसी वस्तुएँ आने लगती हैं, जो साधारण अवस्था में नहीं आतीं। मूत्र में निम्न-लिखित वस्तुओं की परीक्षा करनी होती है—

चित्र नं० ६५—केलशियम आक्जेलेट के क्रिस्टल (Crystals of Calcium Oxalate)



१. प्रोटीन—साधारणतया स्वच्छ मूत्र में किसी प्रकार की प्रोटीन नहीं होती। कुछ रोगों में, विशेषकर वृक्क के रोगों में, मूत्र में अलबूमन Albumin आने लगता है।

२. शर्करा—केवल मधुमेह में शर्करा मूत्र में आती है, नहीं तो उसका लेश भी नहीं होता।

३. पित्त—कामला में मूत्र में पित्त आता है। मूत्र का रंग भी बदल जाता है। पीले से वह गहरा भूरा या काले रंग का हो जाता है।

४. रक्त—यह केवल सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा निश्चित प्रकार से मालूम हो सकता है। रक्त के लाल कण दिखाई देते हैं।

५. पस—पूय ; जब मूत्र-मार्ग के किसी भाग में कोई फोड़ा इत्यादि होता है तब मूत्र में पूय आती है।

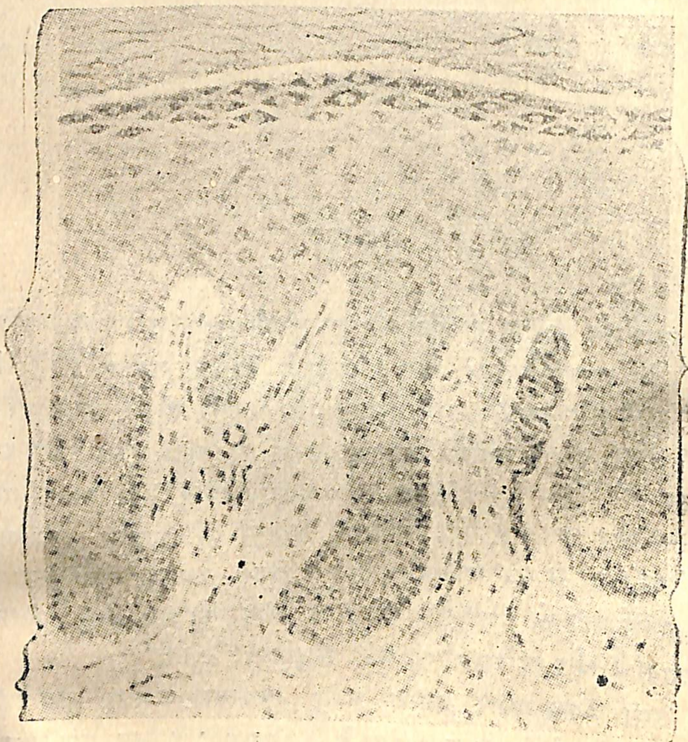
ऊपर की वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ और वस्तुओं के कण मालूम होंगे जैसे—यूरेट, फोस्फेट, कार्बोनेट, आक्जेलेट इत्यादि। ये सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा ही दिखाई देते हैं।

त्वचा

राज जब मकान की ईंटों को चूने से जोड़ चुकता है तब उसको ऊपर से चूने के प्लास्तर से ढक देता है जिससे मकान देखने में सुंदर दीखे और उसकी ऊपरी सतह एक समान हो। केवल यही नहीं, किंतु उसका प्रयोजन प्लास्तर करने से मकान की दृढ़ता का बढ़ाना भी होता है। यदि मकान पर प्लास्तर न किया जाय, तो वर्षा का जल सहज में ईंटों के द्वारा दीवारों में घुसकर उन्हें नष्ट कर देगा। धूप से भी अधिक बचाव न होगा; क्योंकि बिना प्लास्तर हुई दीवारें ताप को नहीं रोक सकतीं। भीतर की सब वस्तुएँ गरम हो जाती हैं और रहनेवालों को बड़ी असुविधाएँ होती हैं।

उसी प्रकार यद्यपि हमारा शरीर मुख्यतया अस्थि, मांस-पेशी अथवा दूसरे अंगों का बना हुआ है; किंतु यदि वे सब इस त्वचा-रूपी प्लास्तर से न ढके जायँ, तो शरीर सुंदर न दीखेगा। चर्म-रहित शरीर एक भयानक वस्तु दिखाई देगी, चर्म शरीर को बाहर के अनेक शत्रुओं से बचाता है; जीवाणु और कृमि इत्यादि को शरीर के भीतर प्रवेश नहीं करने देता। वह शरीर की ताप के अतिक्रम से रक्षा करता

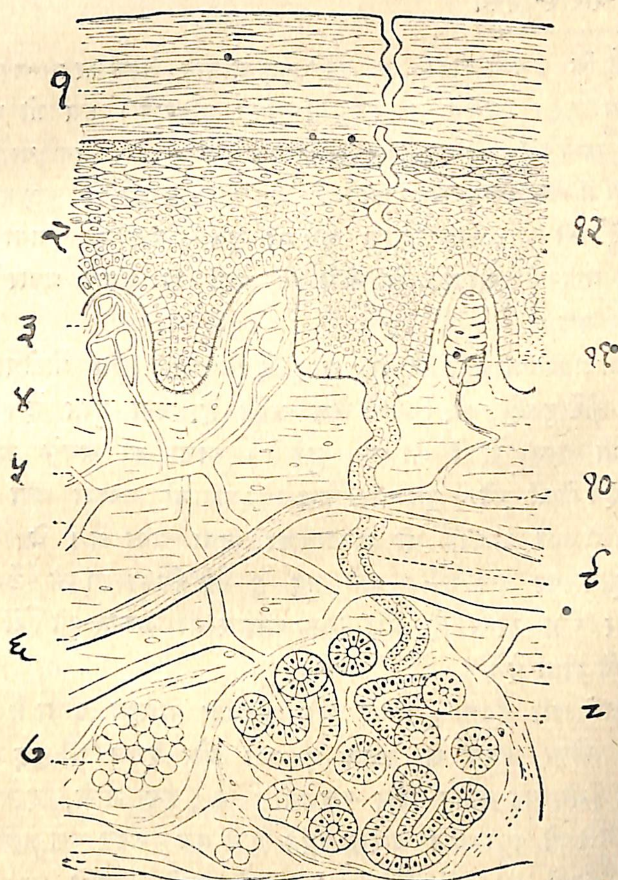
है। न केवल यही, किंतु उसके द्वारा श्वास-क्रिया भी होती है। चर्म रक्त को शुद्ध करता है। संज्ञा-वाहन चर्म का मुख्य काम है।



चित्र नं० ६६—हाथ की उँगली के उपचर्म का परिच्छेद जिसमें कुछ चर्म का भाग भी दिखाई पड़ता है।

रचना—ऐसे-ऐसे मुख्य और विशेष कार्य करने के लिये चर्म की उपयुक्त रचना की गई है। सबसे ऊपर होने से चर्म इस प्रकार

चित्र नं० ६७—चर्म की आंतरिक रचना।



१—उपचर्म का ऊपरी भाग; २—उपचर्म का नीचे का भाग;
३—चर्म का अंकुर; ४—चर्म का सौत्रिक तंतु;
५—रक्त-नलिका; ६—नाड़ी; ७—वसा के कण;
८—स्वेद-ग्रंथि की नलिकाएँ जो फट गई हैं;
९—स्वेद ले जानेवाली नलिका; १०—नाड़ी;
११—स्पर्श-कण; १२—स्वेद-नलिका उपचर्म में स्थित हैं।

स्थित है कि उसको बाहर का बहुत कुछ आघात सहन करना पड़ता है। इस कारण उसमें टूट-फूट भी बहुत होती है। हम जो वस्त्र धारण करते हैं वह चर्म पर सदा रगड़ा करते हैं। जिन वस्तुओं को हाथ में लेकर हम काम करते हैं उनसे भी चर्म को कुछ हानि ही पहुँचती है। इस कारण चर्म को इस प्रकार रचा गया है कि वह बाहर के आघातों से नीचे के अंगों की उत्तम प्रकार से रक्षा कर सके।

हम प्रथम परिच्छेद में देख आए हैं कि सारा शरीर प्रोटोप्लाज़्म के छोटे-छोटे टुकड़ों का, जिनको सेल कहते हैं, बना हुआ है। यह त्वचा भी इन्हीं सेलों की बनी हुई है। त्वचा का सबसे ऊपरी भाग इन सेलों को बहुत ही पास-पास सटाकर बनाया गया है। इन सेलों का आकार भी चपटा कर दिया गया है। वे सेल एक दूसरे पर इस भाँति लगे हुए हैं जैसे कि मकान की ईंटें एक दूसरे पर बैठी होती हैं और इनका आकार भी मकान की ईंटों ही की भाँति होता है।

यद्यपि चर्म इतना मुलायम और चिकना मालूम होता है कि उसकी अपेक्षा उत्तम से उत्तम मखमल और रेशम भी कुछ नहीं है, तो भी वह कठिन और सहनशील है। हम मोजे, दस्ताने, कमीज़ और जो अन्य वस्त्र धारण करते हैं वे सब फटते चले जाते हैं, पर चर्म ज्यों का त्यों ही बना रहता है, यद्यपि उसको बाहर के इतने आघातों और प्रभावों को सहन करना पड़ता है। जिस स्थान पर उसे अधिक काम करना पड़ता है, उस स्थान पर वह और भी अधिक दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार पाँव के तलवे और हाथ की हथेली की त्वचा कितनी मोटी और कठिन हो जाती है। किसी-किसी स्थान पर वह आधा इंच मोटी होती है।

सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा देखने से मालूम होगा कि चर्म वस्तुतः कई भागों में विभाजित है। सबसे ऊपर का परत, जिसको उपचर्म कहते हैं, एक कठिन वस्तु के कई परतों के संग्रह से बना है। इस भाग के नीचे चर्म रहता है। जिसकी रचना ऊपर के परत की भाँति कठिन और निर्जीव नहीं है। इस स्थान के सेल आकार में कुछ चौखूँटे होते हैं। कुछ लेखकों ने उपचर्म के सेलों को मुनक्का और नीचे के सेलों को हरे अंगूरों के एक बक्स से उपमा दी है, जिसमें यह वस्तु सटाकर भर दी गई है। इन सेलों में, यह कहा जा सकता है कि किसी प्रकार का जीव नहीं होता। उनमें न तो रक्त-वाहिनी नलिकाएँ होती हैं और न किसी भाँति की कोई नाड़ियाँ ही। इस कारण उनमें किसी प्रकार की संज्ञा भी नहीं होती। उपचर्म के नीचे चर्म का जो भाग रहता है उसमें नाड़ियाँ और रक्त-नलिकाएँ रहती हैं। वास्तव में यह वह भाग है जो हमारे मस्तिष्क को संज्ञा पहुँचाता है। उसकी नाड़ियों द्वारा हमारे त्वचा पर उत्पन्न हुई सूचनाएँ मस्तिष्क को जाती हैं। जब कभी जलने से या गरम जल के पड़ जाने से शरीर पर छाला पड़ जाता है, तो हम उसको सहज ही काट सकते हैं और हमको किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं होता। इसका कारण यही है कि उसमें कोई नाड़ी उपस्थित नहीं है। यह एक प्रकार से शरीर की भलाई ही के लिये है। यदि नाड़ियाँ ऊपर के चर्म में भी उसी प्रकार रहतीं, जैसे कि चर्म के अधोभाग में हैं, तो प्रत्येक समय हमको पीड़ा, कष्ट, दर्द, उष्णता इत्यादि प्रतीत हुआ करती और उससे हमारा जीवन दुखमय हो जाता।

उपचर्म के ये सेल कभी समाप्त क्यों नहीं होते? जब इनमें जीव नहीं है, तो स्पष्टतया इनमें उत्पत्ति भी नहीं होनी

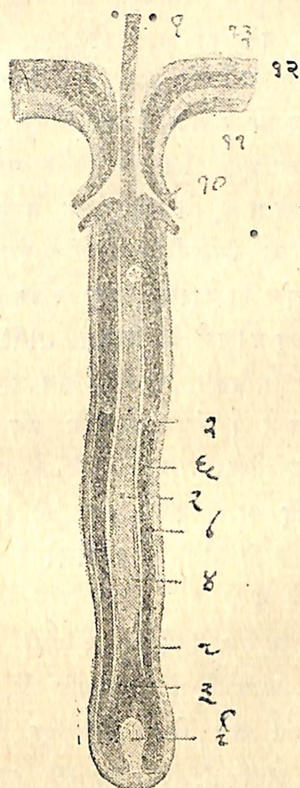
चाहिए। जब इन पर इतना अधिक बाह्य प्रभाव पड़ता है, तब इनमें टूट-फूट भी अधिक होनी आवश्यक है। तो फिर ये सदा कैसे उपस्थित रहते हैं? अथवा शरीर के रक्षा की पहली लाइन कैसे पूर्ण रहती है?

उपचर्म की पूर्ति—यह रेखा इसी भाँति पूरी रहती है जैसे कि लड़ाई में सैनिकों की प्रथम रेखा पूर्ण रहती है। प्रथम लाइन में जहाँ कोई सिपाही मरा कि तुरन्त पीछे की लाइन से किसी सैनिक ने उसका स्थान ले लिया। इसी प्रकार उपचर्म के सबसे ऊपरी परत के सेल ज्यों-ज्यों घिसकर या मरकर शरीर से भिन्न होते जाते हैं, त्यों-त्यों नीचे के परत के सेल उसके स्थान में पहुँच जाते हैं। साथ ही नीचे के नरम चौखूँटे सेल कड़े पड़ते जाते हैं और ऊपर को सरकते जाते हैं। ज्यों-ज्यों चर्म के भाग में सेलों की उत्पत्ति होती है, त्यों-त्यों नए सेलों के ऊपरी परतवाले सेल ऊपर की ओर खिसक जाते हैं। हमारे जीवन भर यही होता रहता है। यदि हम अनुमान करें कि शरीर से कितने सेल हमारे जीवन में निकल गए होंगे, तो उनकी संख्या बहुत अधिक होगी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इन सेलों में किसी प्रकार से रक्त नहीं पहुँचता; क्योंकि वहाँ कोई रक्त-नलिकाएँ नहीं हैं। इन सेलों को भी पोषण की तो आवश्यकता होती ही है। फिर वह उनको किस प्रकार मिलता है? यह उपचर्म के सेल नीचे के भाग के सेलों से पोषण ग्रहण करते हैं। इनमें यह शक्ति है कि वे जिन सेलों के संपर्क में रहते हैं, उनसे अपना पोषण शोष लेते हैं। यदि उपचर्म को एक स्थान से काटकर किसी दूसरे स्थान पर, घाव इत्यादि पर, लगा दिया जाय, तो कुछ समय में यह नवीन उपचर्म का टुकड़ा उस स्थान पर जम जायगा और नीचे के सेलों से पोषण ग्रहण करने लगेगा।

बाल—हमारे शरीर की त्वचा का अधिक भाग बालों से ढका रहता है। ये बाल एक नली की भाँति होते हैं जिनका कुछ भाग चर्म के भीतर रहता है। ये भी उसी प्रकार के सेलों से बनते

चित्र नं० ६८—बाल अपने कोष में स्थिति दिखाया गया है।



१. चर्म के ऊपर निकला हुआ बाल का भाग; २. कोष के भीतर स्थित बाल; ३. बाल का नवीन भाग जो, ९. अंकुर के ऊपर आ रहा है; ४. बाल का बाहरी भाग; ५. बाल-कोष का खोखला स्थान; ६. कोष का उपचर्म; ७. कोष के चर्म और उपचर्म के बीच का स्थान; ८. कोष का चर्म के समान भाग; १०. एक प्रकार की ग्रंथियों के मुँह जिससे तैल के समान वस्तु निकलती है; ११. चर्म; १२. उपचर्म; १३. उपचर्म का कड़ा ऊपरी भाग।

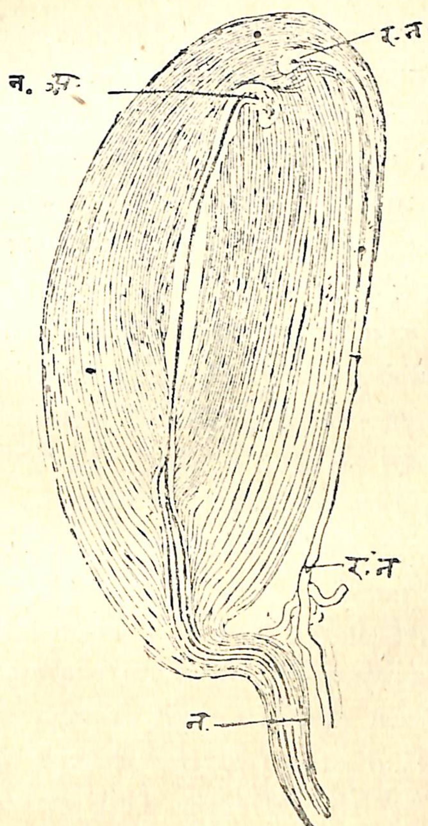
हैं, जैसे कि उपचर्म में पाए जाते हैं। उनके नीचे का भाग कुछ चौड़ा होता है और वे चर्म में एक गड्ढे के भीतर रहते हैं। बाल का रंग एक विशेष रंजक वस्तु के कणों के कारण होता है। वृद्धावस्था में इस वस्तु का नाश हो जाता है। इस कारण बालों का रंग श्वेत हो जाता है। नख की बनावट भी इसी प्रकार की है। उसके सेल उपचर्म के सेलों से भी अधिक कठिन होते हैं।

वर्ण—चर्म का वर्ण, जिसकी इतनी महिमा है, एक विशेष वस्तु से उत्पन्न होता है, जिसको रंजक वस्तु (Pigments) कहते हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों के रंग का कारण, नेत्र, चर्म, बाल इत्यादि के रंग का कारण, यही रंजक वस्तु है। शरीर की त्वचा में यह वस्तु उपचर्म के निचले भागों में रहती है। जब कभी इस वस्तु की अधिकता होती है तब उससे रंग अधिक गहरा या काला हो जाता है। रंजक वस्तु के कम होने से रंग हलका हो जाता है। कुछ ऐसे मनुष्य देखने में आते हैं जिनके पलक, बाल, आँखें इत्यादि सभी श्वेत होते हैं। उनमें रंजक वस्तुओं की एकदम अनुपस्थिति होती है। अंगरेजी में ऐसी अवस्था को Albinism कहते हैं।

संज्ञा—त्वचा का एक विशेष काम संज्ञा का है। ज्यों ही हमारे शरीर पर कोई जंतु बैठता है, पिन चुभती है, अग्नि की चिनगारी गिर पड़ती है, उष्ण जल किसी अंग पर गिर जाता है अथवा कोई चुटकी काट लेता है, तो यह सब मस्तिष्क को तुरंत ही मालूम हो जाता है। यह चर्म का या त्वचा का कार्य है कि उन संज्ञाओं का मस्तिष्क को संवहन करे। यह शक्ति चर्म-भाग के नीचे के परतों में रहती है। वहाँ अनेक नाड़ियाँ होती हैं। इस स्थान में विशेषता यह होती है कि इन नाड़ियों के अंतिम

भाग कुछ चौड़े और गोल हो जाते हैं। इन भागों को 'स्पर्शकण'

चित्र नं० ६१—स्पर्शकण।



न.—नाड़ी जो कण के भीतर जा रही है।

न. अ.—नाड़ी-सूत्र मुड़े हुए अंतिम भाग में समाप्त हो रहा है।

र. न.—रक्त-नलिका।

कहते हैं। इनका विशेष नाम Pacinian Corpuscle है। इस भाग को स्पर्श की संज्ञा का वाहक माना जाता है।

साधारणतया यह समझा जाता है कि शीत, उष्ण, दुख, भार इत्यादि बातों का ज्ञान चर्म को होता है। ऐसा समझना भूल है। वास्तव में ज्ञान नाड़ियों का कर्म है। जब नाड़ियाँ मस्तिष्क को किसी बात की सूचना देती हैं तब हमें वह अनुभव करता है। इन सब भिन्न-भिन्न ज्ञानों को करनेवाली भिन्न-भिन्न नाड़िय होती हैं। कुछ नाड़ियाँ केवल शीत व उष्णता ही का ज्ञान कराती हैं। दूसरी नाड़ियाँ भार ही से संबंध रखती हैं, तीसरी नाड़ियों का काम केवल कष्ट का प्रतीत करना है। त्वचा की इस संबंध में भली भाँति परीक्षा की जाय, तो भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव के लिये भिन्न-भिन्न स्थान पाए जायँगे। कुछ स्थानों में एक प्रकार की संज्ञा मिलेगी तो दूसरे स्थान में दूसरे प्रकार की संज्ञा पाई जायगी। इन भिन्न-भिन्न संज्ञाओं को ले जानेवाली भिन्न-भिन्न नाड़ियों का वितरण भिन्न-भिन्न स्थानों पर होता है। बहुधा एक नाड़ी कई प्रकार की संज्ञाएँ ले जाती है, क्योंकि एक ही नाड़ी में कई प्रकार के सूत्र रहते हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजना को ग्रहण करते हैं। उष्णता को जितनी उत्तमता से गाल अनुभव करता है, उतना अन्य भाग नहीं कर सकता। उष्णता के तनिक से अंतर को भी वहाँ का चर्म मालूम कर लेता है। इसी प्रकार भार का अनुभव हाथ का ऊपरी भाग, अग्रबाहु और माथे का चर्म अन्य स्थानों की अपेक्षा कम से कम दुगुनी उत्तमता से मालूम कर सकते हैं। इन स्थानों से वे नाड़ियाँ, जिनमें यह विशेष शक्ति है, मस्तिष्क को उत्तेजना पहुँचाती हैं।

इसी प्रकार दुख का अनुभव करना भी चर्म का काम है। इस कर्म को करनेवाली विशेष नाड़ियाँ हैं और नाड़ियों के सूत्र हैं, जो

मस्तिष्क को यह बताते हैं कि अमुक स्थान पर दुख है। शरीर के सारे स्थानों में इस अनुभव को प्रतीत करने की समान शक्ति नहीं होती और संभव है कि प्रत्येक व्यक्ति में भी समान न हो। हम बराबर देखते हैं कि कुछ मनुष्य इतनी आसानी से दुख का अनुभव नहीं करते जितना कि दूसरे करते हैं। ग्रामीण जन धूप के समय बहुधा नंगे पाँव काम किया करते हैं। उनको उससे कुछ दुख नहीं मालूम होता; क्योंकि उनके पाँवों की वे नाड़ियाँ जो उष्णता को अनुभव कर सकती थीं व चर्म की वे नाड़ियाँ जो धूप को अनुभव करती थीं मृतप्राय हो जाती हैं। बहुतेरों के शरीर में यदि काँटा इत्यादि चुभ जाय, तो भी इनको नहीं मालूम होता। इसका कारण नाड़ियों का संज्ञाहीन हो जाना है। इन अनुभवों को बहुत ही सहज में प्रतीत करना यह बताता है कि मनुष्य की नाड़ियों की दशा बहुत उत्तम है। साधारणतया देखा जाता है कि जो मनुष्य इन तनिक-तनिक से शारीरिक परिवर्तनों का अनुभव कर लेता है उसकी मानसिक शक्ति भी प्रबल होती है। उसकी विचार-शक्ति अधिक विकसित होती है। जिनका चर्म मोटा होता है, उनकी बुद्धि भी मोटी होती है। जो लोग मस्तिष्क से बहुत उत्तम काम ले सकते हैं, जिनकी विचार-शक्ति प्रबल होती है उनकी त्वचा में दुख को प्रतीत करने की शक्ति भी बहुत होती है। जिन मनुष्यों को दुख बहुत प्रतीत होता है उनके शरीर में यदि कोई व्रण इत्यादि हो जाता है तो वह बहुत सुगमता से और शीघ्र ही आराम भी हो जाता है; क्योंकि ऐसे मनुष्यों की वे नाड़ियाँ जिन पर मांस-पेशियों की वृद्धि निर्भर करती है, जिनको पोषक नाड़ी कहते हैं, उनकी दशा भी उत्तम होती है।

यह दुख, शीत, उष्णता इत्यादि का अनुभव होना शरीर के लिये बहुत लाभदायक है। यदि हम इन बातों का अनुभव न कर सकते तो संभव था कि हमारे बिना जाने हुए ही हमारे शरीर को अधिक हानि हो जाया करती। कोई मनुष्य हमारा हाथ या पाँव काट डालता और हमको मालूम भी न होता। अथवा उष्ण जल से हमारा शरीर जल जाता और हमको उसका ज्ञान भी न होता।

विष त्याग-कर्म—त्वचा का कुछ और भी कर्म है। हम देख आए हैं कि यकृत् और वृक्क शरीर के कितने मुख्य कार्य करते हैं। वृक्क शरीर की विषैली वस्तुओं को शरीर से बाहर निकाल देता है। वृक्क के अपना काम बंद कर देने पर शरीर में कैसे भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे रोगों में चिकित्सक वृक्क को विश्राम देने के लिये त्वचा से सहायता लेते हैं। उसके द्वारा यह विष-त्याग का काम करवाते हैं। साधारणतया भी त्वचा वृक्क के कार्य में बराबर सहायता देती है। उसके द्वारा जो स्वेद निकलता है उससे शरीर के बहुत से विषैले पदार्थ निकल जाते हैं।

यदि त्वचा का कुछ भाग काटकर सूक्ष्म-दर्शक यंत्र के द्वारा देखें तो हमें चर्म भाग के नीचे बहुत सी पतली-पतली गेंड़-लियों के आकार की रचनाएँ दिखाई देंगी। ये स्वेद-ग्रंथियाँ हैं। प्रत्येक ग्रंथि से एक नली निकलती है जो त्वचा के ऊपर एक छिद्र द्वारा खुलती है। ऐसे छिद्रों की संख्या त्वचा पर बहुत अधिक है। यह अनुमान किया जाता है कि त्वचा पर इन छिद्रों की संख्या दो से तीन हजार प्रति वर्ग इंच है। हथेली की त्वचा पर एक वर्गइंच में ३९०० छिद्र गिने गए हैं। सारे शरीर पर पचास लाख ग्रंथियाँ

कही जाती हैं, जिनको यदि लंबाई की ओर से मिला दिया जाय तो पच्चीस मील लंबी एक नली बन जाय।

यह इतना लंबा-चौड़ा प्रबंध रक्त से स्वेद निकालने के लिये किया गया है। साधारणतया स्वेद में जल और थोड़ा सा साधारण नमक, सोडियम क्लोराइड होता है, इनके अतिरिक्त उसमें कोई विषैली वस्तु नहीं रहती। कुछ दशाओं में स्वेद में विषैली वस्तु आने लगती है। विशेषकर जब वृक्क के रोगग्रस्त होने पर चर्म से काम लेते हैं तब स्वेद द्वारा शरीर में बना हुआ विष निकलता है। साधारणतया स्वेद में किसी प्रकार का विष नहीं रहता।

यह अनुमान किया जाता है कि साधारणतया एक मनुष्य के शरीर से चौबीस घंटे में दो सेर के लगभग स्वेद निकलता है। जिन लोगों को फ़ैक्टरी इत्यादि में अथवा इंजिनों के पास गर्मी में काम करना पड़ता है उनके शरीर से बहुत अधिक स्वेद निकलता है। एक घंटे में तीन सेर स्वेद तक नापा गया है। संभव है कि उष्ण प्रदेशों में इससे भी अधिक स्वेद निकलता हो। यह तीस मील की लंबी नलिका का गूढ़ प्रबंध इस जल और नलिका से लवण को रक्त से भिन्न करने के लिये किया गया है।

जल शरीर की एक बड़ी ही विशेष वस्तु है। शरीर के प्रत्येक अंग के बनने में जल भाग लेता है। नाड़ियों में ८०% जल होता है, फुस्फुस में ८७%, नेत्र में ९२% और रसों इत्यादि में तो इससे भी अधिक होता है। इसी के द्वारा पोषक वस्तुएं एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती हैं, क्योंकि रक्त में वह जल ही होता है जो इसकी तरलता को बनाए रखता है। इसी प्रकार जल के द्वारा अन्य विषैली वस्तुएँ भी शरीर से बाहर निकलती हैं।

मूत्र में सबसे अधिक भाग जल ही का होता है। यही जल स्वेद-ग्रंथियों द्वारा निकलकर शरीर की उष्णता को कम करता है। जितनी अधिक गरमी होती है उतना ही शरीर से अधिक स्वेद भी निकलता है।

चर्म में स्वेद-ग्रंथियों के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार की भी ग्रंथियाँ होती हैं जिनसे एक प्रकार की चिकनी वस्तु निकलती है। इस वस्तु का कार्य शरीर के चर्म को चिकना रखना है। ये ग्रंथियाँ बालों की जड़ों में होती हैं और अपने बनाए हुए तरल को बालों की जड़ ही में छोड़ देती हैं। वहाँ से वह चर्म पर आ जाता है। इस प्रकार यह वस्तु चर्म और बाल दोनों को कोमल बनाए रखती है।

चर्म से सदा ऊपर का परत गिरता रहता है। यह कहावत है कि प्रत्येक सात वर्ष में मनुष्य बदल जाता है, बहुत कुछ सत्य है। उप-चर्म के सेलों का बराबर नाश हुआ करता है; क्योंकि ये मृत होकर झड़ जाते हैं और उनके स्थान पर नीचे के नवीन सेल आ जाते हैं। ये सेल गिरते समय अपने साथ और भी शरीर की त्याज्य विषैली वस्तुओं को ले जाते हैं। कुछ रोगों में शरीर पर दाने बन जाते हैं; यह प्रकृति का उद्योग होता है कि शरीर से रोग का विष बाहर निकल जाय।

शारीरिक उष्णता को स्थिर रखना—शरीर का चर्म शारीरिक उष्णता को ठीक रखने में सबसे बड़ा भाग लेता है और उसका यह मुख्य कार्य है।

हमारे वायु-मंडल के तापक्रम में सदा परिवर्तन हुआ करता है। कभी वायु-मंडल का ताप घट जाता है; कभी बढ़ जाता है। किंतु हमारे शरीर का ताप, जिसको प्रत्येक समय उसी

परिवर्तन-शील वायु-मंडल में रहना पड़ता है, सदा समान रहता है। शरीर का ताप-क्रम सदा ९८·४ फेरनहीट ही रहता है। शरीर से उष्णता सदा बाहर को निकला करती है। इस कारण शरीर सदा उष्णता उत्पन्न किया करता है। जैसा हम देख चुके हैं, भोजन से यह उष्णता उत्पन्न होती है।

यदि शरीर से उष्णता का नाश तो अधिक हो और उत्पत्ति कम हो तो शरीर अपनी उष्णता स्थिर नहीं रख सकता और इससे शीघ्र ही मृत्यु हो जायगी। अतएव शरीर का चर्म आवश्यकतानुसार उष्णता के बाहर निकल जाने या उसको रोकने का काम करता है।

कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनके द्वारा उष्णता बहुत सहज में निकल जाती है। ऐसी वस्तुओं को ताप का उत्तम वाहक कहा जाता है। किंतु जिन वस्तुओं के द्वारा अधिक ताप नहीं निकल सकता उनको बुरा वाहक व अवरोधक कहते हैं।

यदि शरीर को किसी उत्तम वाहक वस्तु से ढक दिया जाय, तो शरीर से बहुत जल्दी उष्णता निकल जायगी। यदि किसी अवरोधक वस्तु से ढका जाय तो उष्णता बाहर नहीं निकलेगी। इस प्रकार किसी बहुत उत्तम वाहक के द्वारा ढकने से शरीर की उष्णता इतनी जल्दी कम की जा सकती है कि मनुष्य की थोड़े ही समय में मृत्यु हो जाय। यदि एक खरगोश के चर्म पर वार्निश कर दी जाय, तो वह कुछ समय के पश्चात् मर जायगा। बहुतों का कहना है कि ऐसा करने से चर्म का विष बाहर नहीं निकल सकता और चर्म का कर्म बन्द हो जाता है। इस कारण मृत्यु होती है। यदि वार्निश किए हुए खरगोश के शरीर को कुछ साधनों द्वारा गरम रक्खा जाता है तो वह नहीं मरता। जिस समय

पोप लियो दसवें (Pope Leo X) को रोम में पादरियों का सिंहासन मिला तो उस समय नगर में उसका जलूस निकाला गया। जलूस में सोने के पत्र से ढककर एक बच्चे को भी प्रदर्शित किया गया था। अभिप्राय यह था कि वह बच्चा स्वर्ण-युग (Golden age) का सूचक था, जिससे लोग समझें कि अब वह स्वर्ण-युग फिर आ गया है। छः घंटे के पश्चात् वह बच्चा मर गया। स्वर्ण उष्णता का अत्यंत उत्तम वाहक है। उसके पत्र द्वारा बच्चे के शरीर की उष्णता का बहुत शीघ्र नाश हुआ। इससे वह जीवित न रह सका।

जिस प्रकार उष्णता का शरीर से बाहर निकलना अधिक किया जा सकता है, उसी प्रकार बुरे वाहकों से शरीर को ढकने से शरीर की उष्णता का बाहर निकलना कम हो जाता है। ऊन, पर इत्यादि के वस्त्र जाड़ों के दिनों में इसीलिये पहने जाते हैं। प्रकृति ने पक्षियों को जिन वस्त्रों से ढका है उनमें इतनी उष्णता है कि वे जाड़े के दिनों में उनके शरीर की उष्णता को कम नहीं होने देते। प्रकृति ने उनके शरीर की उष्णता का प्रबंध भी और तरह से किया है।

मनुष्य को अपने शरीर की उष्णता सदा एक समान ही बनाए रखनी पड़ती है। इसलिये प्रकृति ने उसकी देह के चर्म में कुछ ऐसा प्रबंध कर दिया है कि वह आवश्यकता के अनुसार अधिक उष्णता का विसर्जन कर सके अथवा उष्णता को देह से न निकलने दे। प्रत्येक स्थान में उष्णता को उत्पन्न करनेवाला रक्त है; क्योंकि वह भोजन और आक्सीजन दोनों को प्रत्येक अंग में पहुँचाता है जिनसे उष्णता उत्पन्न होती है। इस उष्णता से रक्त भी उष्ण हो जाता है, जिससे वह संचालन के समय दूसरे अंगों को भी उष्ण कर देता है।

यकृत् और पेशी उष्णता उत्पन्न होने के मुख्य स्थान हैं। यहाँ पर रक्त उष्ण होकर नलिकाओं द्वारा सारे शरीर में भ्रमण करता है। भ्रमण करता हुआ कि चर्म की नलिकाओं और केशिकाओं में भी जाता है, जहाँ से उष्णता का बिसर्जन होता है। ये नलिकाएँ देह के सारे चर्म में बहुतायत से फैली हुई हैं। इन नलिकाओं का मस्तिष्क से संबंध रहता है। चर्म में नाड़ियों का ऐसा प्रबन्ध है कि उनकी क्रिया से ये रक्त-नलिकाएँ संकुचित होती हैं और विस्तृत भी हो जाती हैं। एक प्रकार की नाड़ियों का कर्म नलिकाओं को संकुचित करना है; उनको Vaso Constrictors कहते हैं और दूसरे प्रकार की नाड़ियाँ रक्त-नलिकाओं का बिस्तार करती हैं। इनको Vaso-dilators कहते हैं। जब नलिकाओं का विस्तार हो जाता है, तो उनमें अधिक रक्त जाने लगता है और जब वे संकुचित हो जाती हैं, तो उनमें जानेवाले रक्त की मात्रा कम हो जाती है।

जाड़े और गरमी के दिनों में प्रकृति इसी प्रबंध से उष्णता का शरीर से बाहर जाना कम और अधिक कर देती है। जाड़े के दिनों में नंगा शरीर करने से पीला दिखाई देता है; क्योंकि चर्म की नलिकाओं के संकुचित होने से चर्म में रक्त का जाना कम हो जाता है। गरमी के दिनों में चर्म की नलियों के विस्तृत होने से रक्त का संचालन बढ़ जाता है; क्योंकि इससे अधिक उष्णता शरीर से बाहर निकलती है।

इसलिये जाड़े के दिनों में त्वचा को श्वेत देखकर भय नहीं खाना चाहिए; क्योंकि इसका केवल यह अर्थ है कि रक्त चर्म की नलिकाओं से भीतर की नलिकाओं में चला गया है। हाँ, यदि ठंढ के दिनों में भी चर्म की नलिकाएँ विस्तृत और रक्त से भरी

हुई दिखाई दें, तो उसे बहुत बुरा समझना चाहिए। जो लोग शराब बहुत पीते हैं, उनमें यह दशा देखने में आती है। शराब से चर्म की सब नलिकाएँ ढीली पड़ जाती हैं और उनमें रक्त का प्रवाह अधिक हो जाता है जिससे शरीर की उष्णता का अधिक नाश होता है। जाड़े के दिनों में इसकी अधिकता से मृत्यु तक हो सकती है।

इस प्रकार शरीर अपनी उष्णता को समान रखने का उद्योग करता है। कभी-कभी शरीर का यह उद्योग निष्फल हो जाता है। ऊपर कहा हुआ प्रबंध नहीं काम करता। उस समय स्वेद-ग्रंथियाँ शरीर को सहायता देती हैं। उनसे जो स्वेद शरीर पर बहता है उसके द्वारा शरीर ठंडा होता है। यह स्वेद न केवल स्वयं ही शरीर को ठंडा करता है किन्तु गरमी के कारण जब यह भाप बनकर उड़ता है तो इस क्रिया से अधिक शीत उत्पन्न होता है। जब भी किसी तरल का वाष्पी भवन (Evaporation) होता है तो उससे ठंड उत्पन्न होती है। वाष्पी भवन जितना जल्दी होता है उतनी ही अधिक ठंड उत्पन्न होती है। हम साधारणतया देखते हैं कि गरमी के दिनों में ऐसे मिट्टी के बर्तनों में, जिनसे कुछ जल रिसता रहता है, जल अधिक ठंडा होता है। बरफ़ जमाने की मशीन में बीच के कोष्ठ में तो दूध और शर्करा रहती है और बाहर के कोष्ठ में नौसादर और कुछ और वस्तुएँ रहती हैं जिनसे अमोनिया बनता है। यह वस्तु बहुत शीघ्र उड़नेवाली है। अतएव जिस समय मशीन चलाते हैं, उस समय यह वस्तु बहुत तेजी से उड़ती है और भीतर का दूध जम जाता है। इसी प्रकार शरीर से स्वेद के उड़ जाने से शरीर की उष्णता कम हो जाती है और शरीर शीतल हो जाता है। यह साधारण अनुभव

है कि वर्षा के दिनों की उष्णता ग्रीष्म-काल की उष्णता से अधिक कष्टदायक होती है ; क्योंकि उन दिनों में पसीना शरीर से नहीं उड़ता। मनुष्य आर्द्र उष्णता की अपेक्षा शुष्क उष्णता को कहीं अधिक सहन कर सकता है।

त्वचा और सूर्य-प्रकाश—सूर्य का प्रकाश संसार की सब वस्तुओं को शक्ति देनेवाला है। इसकी महिमा हम गत परिच्छेदों में कुछ देख चुके हैं। वृक्षों को उत्पन्न करना, वृक्ष में पत्तियों को लगाना, पत्तियों में उनका भोजन उत्पन्न करना, जिसे हम ग्रहण करके शरीर में शक्ति धारण करें, यह सब सूर्य की किरणों ही के काम हैं। संसार में जितनी वस्तुएँ हम देखते हैं, सभी में सूर्य के प्रकाश की शक्ति का कुछ न कुछ परिचय अवश्य ही मिलता है।

सबसे उत्तम संक्रामक अर्थात् रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश करनेवाला सूर्य-प्रकाश है। जो जीवाणु कई घंटों तक जल में उबालने से नहीं मरते, वे सूर्य-प्रकाश में थोड़े ही समय में मर जाते हैं। सूर्य-प्रकाश हमारे स्वास्थ्य के लिए बहुत उत्तम है। यह प्रकाश दो प्रकार के भागों का बना होता है, एक तो वह जो हम देखते हैं और दूसरा भाग इससे परे है जिसकी लहरें हमको दृष्टिगोचर नहीं होतीं। इस भाग को Ultra-Violet रश्मियों का बना हुआ कहते हैं। यह अल्ट्रावायलेट भाग हमारे स्वास्थ्य के लिये बहुत हितकर है। प्रकाश का वह भाग, जो प्रचंड उष्णता उत्पन्न कर देता है, स्वास्थ्य के लिए उत्तम नहीं है। उष्ण प्रदेशों में विशेषकर ग्रीष्मकाल में सूर्य-प्रकाश में उष्णता उत्पन्न करनेवाला भाग अधिक रहता है। दूसरा भाग कम होता है। प्रातःकाल अरुणोदय की किरणों के इस भाग से लाभ उठाया जा सकता है।

शरीर के चर्म में इस भाग को शोषने और आतप-किरणों से

रक्षा करने की भी शक्ति काफी है। चर्म में जो रंजक कण होते हैं वे नीचे के भागों को तीव्र किरणों से बचाते हैं। वे उन किरणों को बहुत कुछ सोख लेते हैं। इसी कारण जो लोग उष्ण-प्रदेशों में रहते हैं उनके चर्म में ये रंजक कण बहुत अधिक हो जाते हैं। इससे उनका रंग काला होता है। ये कण शरीर को प्रकाश से रक्षा करते हैं। शीत-प्रदेशों में रहनेवालों को इन कणों की इतनी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वहाँ के प्रकाश में इतनी अधिक उष्णता की किरणें नहीं होतीं। जिन लोगों को धूप में अधिक काम करना पड़ता है उनके चर्म में भी ये रंजक कण बन जाते हैं। शरीर स्वयं अपनी रक्षा का साधन उत्पन्न कर लेता है। यह भली प्रकार विदित है कि धूप में काम करने से वर्ण काला हो जाता है।

कुछ पशु ऐसे होते हैं जिनमें जब वे चाहें तब रंजक कणों को चर्म के ऊपरी भाग में ले आने की शक्ति होती है। गिरगिट के लिये यह विख्यात है कि वह रंग बदला करता है। उन पशुओं को जब आवश्यकता होती है तो वे रंग के कणों को चर्म के ऊपरी भाग में ले आते हैं और अपनी रक्षा करते हैं।

चर्म के द्वारा श्वास-कर्म—यह कर्म वास्तव में फुस्फुस का है। परन्तु चर्म भी इस कर्म को करता है। त्वचा शुद्ध वायु से ऑक्सीजन ग्रहण करती है और कार्बन-डाइ-ओक्साइड वायु को लौटा देती है। त्वचा की नलियों में जो रक्त बहता है वह नंगे शरीर पर वायु के संपर्क में आता है और तब यह गैसों का परिवर्तन होता है। इस प्रकार त्वचा फुस्फुस को सहायता देती है। यद्यपि त्वचा का श्वास-कर्म फुस्फुस के श्वास-कर्म का स्थान नहीं ले सकता, तो भी इससे रक्त की शुद्धि में सहायता अवश्य मिलती है।

त्वचा इस कर्म को करती ही नहीं है, किन्तु फुस्फुस से यह कर्म करवाती भी है। श्वास-कर्म के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि चर्म से सदा कुछ उत्तेजनाएँ मस्तिष्क को जाती रहती हैं जिनसे श्वास-केंद्र उत्तेजित हो जाता है और श्वास-कर्म होने लगता है। प्रथम बार जो नवजात शिशु श्वास लेता है उसका विशेष कारण चर्म होता है।

जो लोग चर्म को बहुत अधिक वस्त्रों से ढक देते हैं वे स्वास्थ्य के लिये अच्छा नहीं करते। त्वचा जब वायु के सम्पर्क में आती है तो इसकी सब क्रियाएँ बढ़ जाती हैं। रक्त का संचालन भी अधिक होता है, रक्त की शुद्धि होती है और त्वचा के द्वारा शरीर का विष बाहर निकलता है। त्वचा के नीचे जो नाड़ियाँ रहती हैं, जिनके द्वारा मस्तिष्क को उत्तेजनाएँ पहुँचती हैं, वे वायु के संपर्क से अपना कर्म अधिक वेग से करती हैं। बहुत अधिक वस्त्रों का पहनना, जिनसे वायु शरीर के चर्म तक पहुँच ही न पाए, चर्म को अपनी क्रिया करने से रोक देता है।

कुछ लोगों को सदा यह ध्यान रहता है कि वायु यदि ठंडी हुई तो वह उनके शरीर को हानि पहुँचाएगी। उनको जुकाम इत्यादि हो जायगा। जो मनुष्य ऐसे हैं जिनको बहुत सहज में ये रोग हो जाते हैं उनको और भी अधिक आवश्यक है कि वे शुद्ध और ठंडी वायु में अधिक समय व्यतीत करें। यदि वह सदा से ऐसा करते, तो कदाचित् वे इस रोग के ग्रास न बने होते। उनको सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि शरीर में स्वयं ही ऐसा प्रबन्ध है कि वह अपनी शीत व ताप से रक्षा कर लेता है। इस सम्बन्ध में उनके चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है।

बच्चों को शुद्ध वायु की बड़ों से भी अधिक आवश्यकता होती

है। उनको थोड़े समय तक नग्न रखना लाभदायक है। उनकी त्वचा काम करना सीखती है। शुद्ध वायु के लगने से उनमें शक्ति और उत्साह आता है। उनके अंगों के कर्म अधिक तेजी से होते हैं। नित्यप्रति उचित समय पर जब न बहुत ठंड हो न बहुत उष्णता, तब बच्चों को नग्न शरीर करके खुली वायु में उनसे किसी प्रकार का हल्का व्यायाम कराना चाहिए। बाल्य काल से ऐसा करने से वे बच्चे शीत इत्यादि से कभी कष्ट न पाएँगे।

त्वचा पर मालिश करना बहुत उत्तम है। ऐसा करने से स्वेद-ग्रंथियों के सारे छिद्र खुल जाते हैं और उनमें एकत्रित पदार्थ बाहर निकल आते हैं। इसी प्रकार चिकने तरल को बनानेवाली जो ग्रंथियाँ हैं वे भी अधिक काम करने लगती हैं और चर्म को चिकनाई देनेवाला पदार्थ भी अधिक बनता है। इसके अतिरिक्त सारे चर्म का रक्त-संचालन बढ़ जाता है जिससे चर्म को अधिक पोषण मिलता है। मालिश चर्म का व्यायाम है। जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ दशा में रखने के लिए हमें व्यायाम करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार चर्म के लिए भी व्यायाम आवश्यक है।

मानव-राज्य का संचालक

नाड़ी-मंडल

मनुष्य की देह में पाँच फुट छः इंच की उँचाई पर स्थित दृढ़ अस्थियों द्वारा निर्मित कपाल-मंदिर में मस्तिष्क रहता है। कपाल बनाने में शरीर की सबसे अधिक दृढ़ अस्थियों का प्रयोग किया गया है और उसकी रचना बड़ी ही विचित्र है। इसमें कई कोष्ठ होते हैं जिनमें मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भाग रहते हैं। अनेक छिद्र भी होते हैं जिनके द्वारा मस्तिष्क अपने नाड़ीरूपी तारों को इस शरीर-साम्राज्य के प्रत्येक भाग में वहाँ की सब बातों की खबर रखने के लिए और भिन्न-भिन्न विभागों के कर्मचारियों को आवश्यकतानुसार आज्ञाएँ देने के लिए भेजता है। शरीर के प्रत्येक भाग को मस्तिष्क से नाड़ियाँ जाती हैं और वहाँ प्रत्येक

भाग से नाड़ियाँ आती हैं। जानेवाली नाड़ियाँ सूचनाओं को ले जाती हैं। पेशियों की क्रियाएँ, अंगों का संचालन, उनकी गति सब इन्हीं नाड़ियों पर निर्भर करती हैं। जो नाड़ियाँ शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से मस्तिष्क को जाती हैं वे शारीरिक दशाओं की मस्तिष्क को सदा सूचना देती हैं जिससे मस्तिष्क तदनुसार निश्चय करके जिन अंगों से आवश्यक होता है कर्म करवाता है।

मनुष्य के जितने कर्म हैं सब मस्तिष्क की शक्ति का फल है। यदि शरीर के अंगों का सम्बन्ध मस्तिष्क से विच्छिन्न कर दिया जाय तो वे अपना कर्म करने में बिलकुल असमर्थ हो जायँगे। मस्तिष्क की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। वह अपरिमित है। मनुष्य को संसार का उच्च से उच्च कोटि का महात्मा बनानेवाला भी मस्तिष्क है और नीच से नीच लंपट, धूर्त्त, दुराचारी भी मस्तिष्क ही के प्रभाव से बनता है। संसार की अत्यंत गूढ़ समस्याएँ यह मस्तिष्क ही सुलझाता है। संसार के जितने बड़े से बड़े काम हुए हैं, आविष्कार हुए हैं, रेल, तार, टेलीफोन, ग्रामोफोन, वायुयान इत्यादि बनाए गए हैं अथवा रात-दिन वैज्ञानिक लोग जो नए-नए आविष्कार करते हैं वह केवल मस्तिष्क की शक्ति का प्रदर्शन है। नेपोलियन को नेपोलियन बनानेवाला और पागलखाने के एक पागल को उन्मत्त की दशा में पहुँचानेवाला भी मस्तिष्क ही है।

मस्तिष्क की शक्तियों का भी अभी तक वैज्ञानिक लोग पूर्णतया पता नहीं लगा सके हैं। ऐसा क्यों होता है कि मेरे तनिक सी इच्छा करने पर मैं एक बड़ा काम कर डालता हूँ। मेरे रात-दिन के कार्य, लिखना, भाषण करना, विचारना इत्यादि

साधारण कार्य नहीं होते । वे संयुक्त कार्य होते हैं । शरीर में अनेक क्रियाएँ होती हैं जिनके मिलने से मेरा वांछित कर्मरूपी परिणाम निकलता है । केवल चलने में शरीर की दो सौ से अधिक पेशियाँ काम करती हैं । लेकिन मुझे उनका ज्ञान भी नहीं होता। विचार करने में मैं कैसी अद्भुत बातों की अपने मन में कल्पना कर सकता हूँ। जो वस्तु मैंने कई वर्ष पहले देखी थी उसका तनिक सा भी नाम लेने से उस समय की देखी हुई वस्तु का मेरे सामने एक चित्र खिंच जाता है। यह सब किस प्रकार होता है ? मस्तिष्क में ऐसी कौन सी विधि होती है, जिससे मस्तिष्क इतनी असंख्य बातों को स्मरण रखता है ?

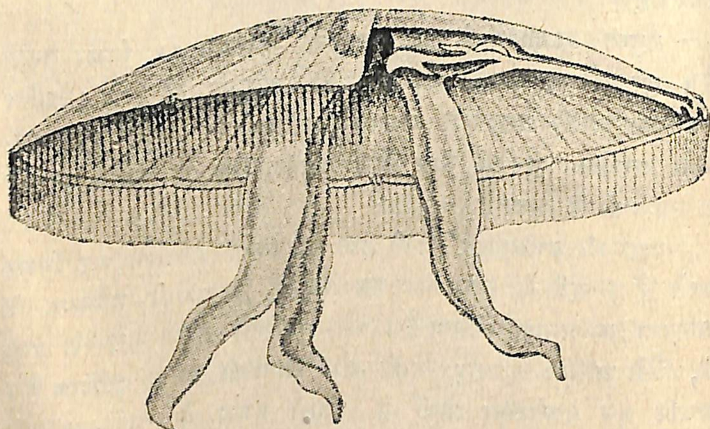
मनुष्य का जीवन ही एक प्रकार से मस्तिष्क पर निर्भर करता है। बुरे-भले को समझने की शक्ति तो मस्तिष्क की ही है। अग्नि को जलानेवाली वस्तु और जल को शीतल करनेवाली वस्तु समझना मस्तिष्क ही का काम है। अपनी रक्षा के उपाय मनुष्य मस्तिष्क ही से करता है।

पशु भी इसी प्रकार अपने ज्ञान के लिये मस्तिष्क पर निर्भर करते हैं। सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप में हमको मस्तिष्क के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। जो सबसे नीची श्रेणी के जन्तु हैं, जैसे अमीबा इत्यादि, उनमें भी चेतना की शक्ति वर्तमान है। यद्यपि इन एकसेलीय जीवों में किसी प्रकार के नाड़ी-तंतु का पता नहीं लगता, इनके शरीर में कोई ऐसी भिन्न स्पष्ट रचना नहीं है जिसका गुण ज्ञान समझा जा सके तो भी ये जन्तु अनुभव कर सकते हैं। यदि अमीबा को अपने से छोटा कोई जन्तु मिल जाता है तो वह तुरन्त उसे भक्षण कर लेता है। इस

ज्ञान की शक्ति कि हमारा खाद्य पदार्थ यहाँ है, इन एकसेलीय जीवों में भी है।

ज्यों-ज्यों जीवों की श्रेणी उच्च होती जाती है त्यों-त्यों मस्तिष्क की रचना का विकास होता जाता है। जेली मछली (Jelly fish) एक अत्यंत कोमल जन्तु होता है। वह एक खुले हुए छाते के समान आकारवाला होता है, किंतु छाते से बहुत छोटा होता है। उसका व्यास कोई एक इंच के लगभग होता है। यह जन्तु इतना पतला होता है कि उसके द्वारा दूसरी ओर

चित्र नं० ७०—जेली नाम की मछली।

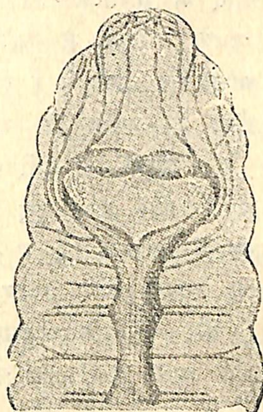


(Parker and Haswell)

का प्रकाश दिखाई देता है। इसके शरीर के किनारों पर चार स्थानों में कई छोटी-छोटी ग्रंथियाँ मिलती हैं। ये ग्रंथियाँ बहुत

पतली-पतली रज्जुओं से जुड़ी रहती हैं। इन जन्तुओं का नाड़ी-मंडल यही है। वे ग्रंथियाँ नाड़ी-केंद्र हैं और रज्जु नाड़ी हैं।

चित्र नं० ७१—केचुवे का नाड़ी-मंडल



(Parker and Haswell)

धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है त्यों-त्यों नाड़ी-मंडल की रचना भी गूढ़ होती जाती है। हम देखते हैं कि ऊपर कहे हुए जंतु से जब तक केचुवे (Earthworm) की श्रेणी में आते हैं तो वहाँ स्पष्ट नाड़ी-मंडल मिलता है। केचुवे के सबसे अग्र भाग में, जो हमारे सिर के समान है, नाड़ी-तंतु का एक चक्र रहता है जो एक मुद्रिका के स्वरूप में स्थित होता है। इस मुद्रिका के दोनों ओर से लम्बे-लम्बे सूत्र निकलकर जंतु के शरीर में दोनों ओर उसके अन्तिम भाग तक चले जाते हैं। इन सूत्रों में स्थान-स्थान पर ग्रंथियाँ रहती हैं, जिनसे बहुत बारीक सूत्र शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में जाते हैं।

इसी प्रकार ज्यों-ज्यों विकास को श्रेणी उच्च होती जाती है, त्यों-त्यों मस्तिष्क का विकास भी अधिक होता जाता है। मछलियों के मस्तिष्क में नाड़ी-मंडल बहुत अधिक विकसित होता है। बंदरों इत्यादि में मस्तिष्क का और भी अधिक विकास हो जाता है। उनके मस्तिष्क में कहीं अधिक भाग होते हैं और उनकी रचना अधिक गूढ़ होती है। जिस पशु में जितना अधिक गूढ़ मस्तिष्क होता है, उतनी ही उसकी विचार-शक्ति अधिक विकसित होती है। मनुष्य का मस्तिष्क सब पशुओं से अधिक गूढ़ है। गहरी लकीरें और उभरे हुए लम्बे-लम्बे भाग सब पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में अधिक हैं। न केवल यही, किन्तु कुछ मनुष्यों में ये गहरी रेखाएँ और उभार अन्य की अपेक्षा अधिक पाए जाते हैं। और उसी के अनुसार उनमें बुद्धि का विकास भी अधिक पाया जाता है। बुद्धिमान्, शिक्षित और चतुर मनुष्यों के मस्तिष्कों में ये रेखाएँ और उभार अधिक होते हैं, किन्तु जो मूर्ख होते हैं उनके मस्तिष्कों में इतने अधिक चिह्न नहीं होते।

इस प्रकार शारीरिक यन्त्र का संचालक मस्तिष्क है। अपने अस्तित्व तक के लिये शरीर के सब अंग मस्तिष्क पर निर्भर करते हैं, वे इसी के बनाए हुए मार्ग पर चलते हैं। इन यांत्रिक कर्मों का किस प्रकार संचालन होता है, मस्तिष्क के कौन से भाग की क्या क्रिया होती है और उन विविध अंगों में कहाँ से उत्तेजनाएँ जाती हैं, इन सब बातों का पता वैज्ञानिक लगा चुके हैं। उनको मालूम हो गया है कि यदि मस्तिष्क के अमुक स्थान में उत्तेजना उत्पन्न होगी अथवा वहाँ से उत्तेजना जायगी तो शरीर के अमुक अंग की क्रिया होगी। इन स्थानों को केंद्र कहते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में बाईं ओर,

ऊपरी पृष्ठ पर एक स्थान है जिसको 'भाषण-केंद्र' कहते हैं। हमारे बोलने और बातचीत करने का कर्म इस केंद्र के अधीन है। यदि इस केंद्र का नाश कर दिया जाय तो हमारी बात-चीत करने की शक्ति जाती रहे। इसी प्रकार अन्य क्रियाओं के भी केंद्र होते हैं। बाहु की पेशियों की गति का केंद्र जंघा के केंद्र से भिन्न है। श्वासीय और कई अन्य प्रकार के केंद्रों का पहले उल्लेख हो चुका है। यदि इन केंद्रों का नाश कर दिया जाय तो जिस अंग से वे संबंध रखते हैं, उनका कर्म नष्ट हो जायगा।

इस प्रकार के कई सौ केंद्रों का पता लग चुका है किंतु मस्तिष्क के वे स्थान, जो मनुष्य के उच्च कर्मों से संबंध रखते हैं, नहीं मालूम हो सके हैं। हमको अभी तक नहीं मालूम कि दूसरे जीवों पर दया करना मस्तिष्क के कौन से भाग का काम है; ईश्वर-वंदना करने में कौन भाग काम करता है; गूढ़ प्रश्न किस भाग के द्वारा हल किए जाते हैं। हम नहीं बता सकते कि आत्म-त्याग, स्वदेशानुराग, स्वावलंबन, परसेवा की चित्त-वृत्ति, इत्यादि उत्तम कर्म, जो मनुष्य को पशु की श्रेणी से निकालकर मनुष्य के शब्द को सार्थक करते हैं और उच्च श्रेणी में रखते हैं, कौन से भाग द्वारा किए जाते हैं। किंतु इतना हम अवश्य जानते हैं कि ये सब उच्च कर्म मस्तिष्क ही की प्रेरणा से होते हैं। जितना विचार-संबंधी कर्म है उसको मस्तिष्क ही करता है। मनुष्य को Lord of Creation की पदवी दिलवानेवाला मस्तिष्क ही है।

मनुष्य और पशु में बहुत कम अंतर है। जितने भी कर्मों या भिन्न-भिन्न अंगों के कार्यों का गत परिच्छेदों में उल्लेख किया गया है या आगे किया जायगा उन सब कर्मों को पशुओं के अंग भी उसी

प्रकार करते हैं जैसे कि मनुष्य के अंग करते हैं। उनके हृदय भी सारे शरीर में रक्त का संचालन करते हैं और शरीर के प्रत्येक अंग का पालन करते हैं। उनके फुस्फुस भी श्वास कर्म द्वारा वायु से ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं और रक्त की शुद्धि करते हैं। उनके पेशी, आमाशय, अंत्रियाँ इत्यादि सब उसी भाँति कर्म करते हैं जैसे कि हमारे अंग करते हैं। जो नीचे की श्रेणी के जंतु हैं उनकी रचना कुछ भिन्न है। किंतु जो अंग है उनका वही कार्य है जो हमारे शरीर में है। भिन्नता केवल मस्तिष्क में है, और वह भी उच्च कर्मों में, शरीर की गति के व बहुत सी क्रियाओं के वहाँ भी वैसे ही केंद्र हैं जैसे कि हमारे मस्तिष्क में हैं। किंतु जहाँ हमारे मस्तिष्क के केंद्र बहुत बड़े हैं वहाँ उनके केंद्र छोटे हैं, जिसका यह अर्थ है कि हमारे मस्तिष्क का केंद्र बहुत ही उत्तम प्रकार से क्रिया करवा सकता है; किन्तु उनके मस्तिष्क साधारण और भद्दी क्रिया करवाएँगे। किंतु हमारा मस्तिष्क जो उच्च कर्म कर सकता है वह पशुओं का मस्तिष्क नहीं कर सकता। उनके मस्तिष्क में वे केंद्र विकसित नहीं हुए हैं; प्रकृति ने उनमें वह शक्ति उत्पन्न नहीं की है जो उनसे उच्च मानसिक कर्म करा सके। यही मनुष्य और पशुओं में अंतर है। वास्तव में विकास का आधार ही मस्तिष्क है। ज्यों-ज्यों मस्तिष्क की शक्तियाँ अधिक होती गई हैं त्यों त्यों विकास भी उच्च होता गया है।

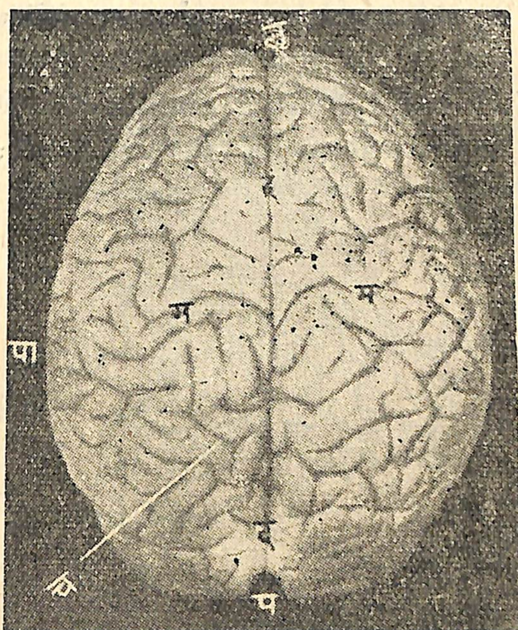
मस्तिष्क ने सारे शरीर में अपना एक जाल फैला रक्खा है। यहाँ से अनेक तार जाते हैं और अनेक इसमें आते हैं। जहाँ तहाँ इन तारों पर बड़े-बड़े गृह बना दिए गए हैं जिन पर इनका पालन-पोषण निर्भर करता है। इस इंद्रजाल की तनिक अधिकतर परीक्षा करनी आवश्यक है।

मस्तिष्क की रचना—कपाल जो आठ अस्थियों से बना

हुआ है उसके भीतर मस्तिष्क रहता है। यह बिलकुल गोल नहीं होता, किंतु कुछ अंडे के आकार के समान होता है। जब इसको कपाल से निकाला जाता है तो यह एक पिलपिले धूमर रंग के पदार्थ का बना हुआ प्रतीत होता है। वह चिकना और सपाट नहीं मालूम होता, किंतु उसमें बहुत सी गहराई और उभार हैं।

चित्र नं० ७२—बृहत् मस्तिष्क।

बायाँ गोलार्द्ध



दाहिना गोलार्द्ध

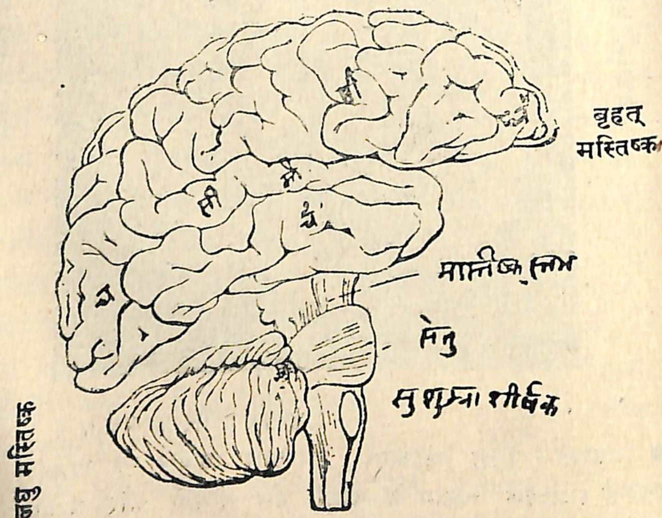
(हमारे शरीर की रचना से)

यह गहराई सीता कहलाती है और उभार को चक्रांग कहा जाता है। प्रत्येक चक्रांग के दोनों ओर सीताएँ और प्रत्येक सीता

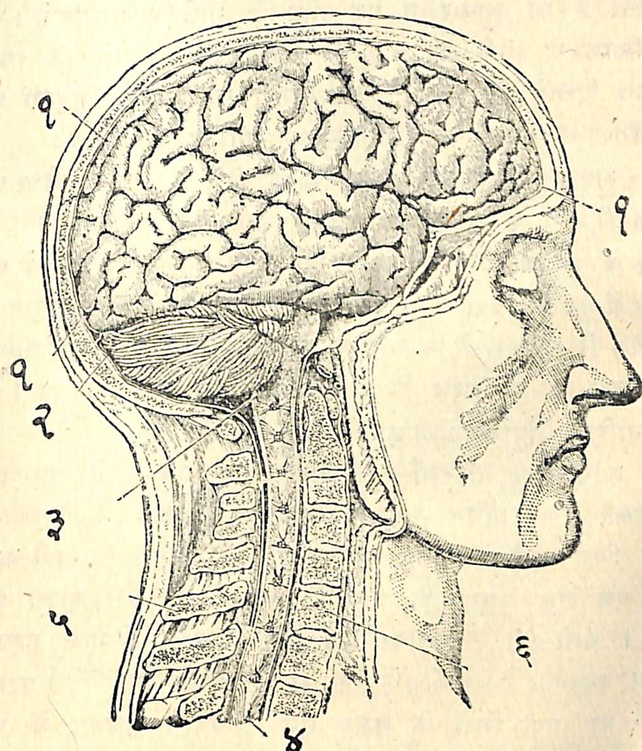
के दोनों ओर चक्रांग रहते हैं। इस प्रकार एक सीता के पश्चात् चक्रांग और चक्रांग के पश्चात् फिर सीता रहती हैं। सारे मस्तिष्क में इसी प्रकार प्रबंध है।

शरीर से बाहर निकालने पर मस्तिष्क के चार भाग बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं। सबके ऊपर मस्तिष्क का सबसे बड़ा भाग रहता है। यह बृहत् मस्तिष्क कहलाता है। इसके दो भाग होते हैं, एक दाहना और दूसरा बायाँ। इन दोनों भागों को गोलार्द्ध कहते हैं। यदि इनको ऊपर से एक दूसरे से तनिक हटा कर देखा जाय तो ये नीचे की ओर एक विशेष भाग

चित्र नं० ७३—नाड़ी-मंडल के ऊपरी और मध्यस्थ भाग का एक मान-चित्र, जिसमें मस्तिष्क आदि का प्रबंध दिखाने का प्रयत्न किया गया है।



चित्र नं० ७४—मस्तिष्क और सुषुम्ना के ऊपरी भाग का पार्श्विक दृश्य।



१—बृहत् मस्तिष्क के चक्रांग
२—लघु मस्तिष्क
३—सुषुम्ना-शीर्षक
४—सुषुम्ना
५—कशेरुकाओं के कंटक
६—कशेरुकाओं के गात्र

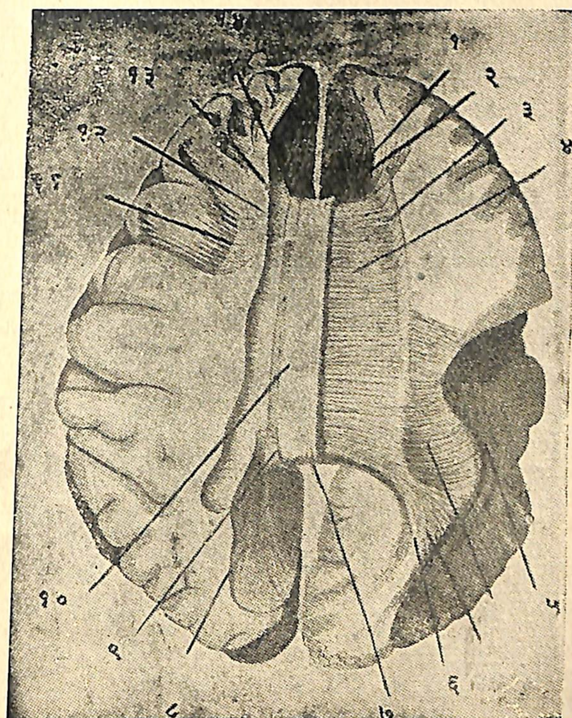
द्वारा जुड़े हुए दिखाई देंगे जिसको महासंयोजक कहते हैं। इन दोनों गोलार्द्धों के नीचे और पीछे की ओर लघु मस्तिष्क रहता है जो आकार में एक छोटे से गोले के समान है। लघु मस्तिष्क से नीचे की ओर निकलता हुआ एक दंड के समान भाग दिखाई देता है। यह सुषुम्ना कहलाता है। सुषुम्ना और मस्तिष्क के बीच का चौड़ा भाग सुषुम्ना-शीर्षक कहलाता है।

सुषुम्ना—यह सुषुम्ना मस्तिष्क के नीचे से आरंभ होकर पृष्ठ-वंश की नली के भीतर होती हुई पृष्ठवंश के अंत तक चली जाती है। पीठ के निचले भाग में जाकर यह बहुत पतली हो जाती है और अंत में कुछ नाड़ियों के रूप में समाप्त हो जाती है। इस सुषुम्ना से प्रत्येक दो कशेरुकाओं के बीच के स्थान से होकर दोनों ओर नाड़ियाँ निकलती हैं जो शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में चली जाती हैं। ये नाड़ियाँ सौषुम्निक नाड़ियाँ कहलाती हैं।

सौषुम्निक नाड़ियाँ—इन नाड़ियों के ३१ जोड़े सुषुम्ना से निकलते हैं। प्रत्येक नाड़ी दो मूलों से निकलती है जो कुछ दूरी तक भिन्न रहते हैं, किंतु पश्चात् दोनों मिलकर एक नाड़ी बनाते हैं। एक मूल सुषुम्ना के आगे से निकलता है और दूसरा पीछे से। आगे की ओरवाला पूर्व मूल और पीछेवाला पश्चात् मूल कहलाता है। दोनों के मेल से एक नाड़ी बनती है। पश्चात् मूल पर नाड़ी-सेलों के समूह एक ग्रंथि के स्वरूप में रहते हैं। जैसा आगे चलकर मालूम होगा। पूर्व और पश्चात् मूल दोनों की क्रियाएँ भिन्न हैं और दोनों में दो प्रकार के सूत्र रहते हैं।

मस्तिष्कीय नाड़ियाँ—जिस प्रकार सुषुम्ना से नाड़ियाँ निकलकर सारे शरीर में फैलती हैं उसी भाँति स्वयं मस्तिष्क

मस्तिष्क की स्थूल-रचना

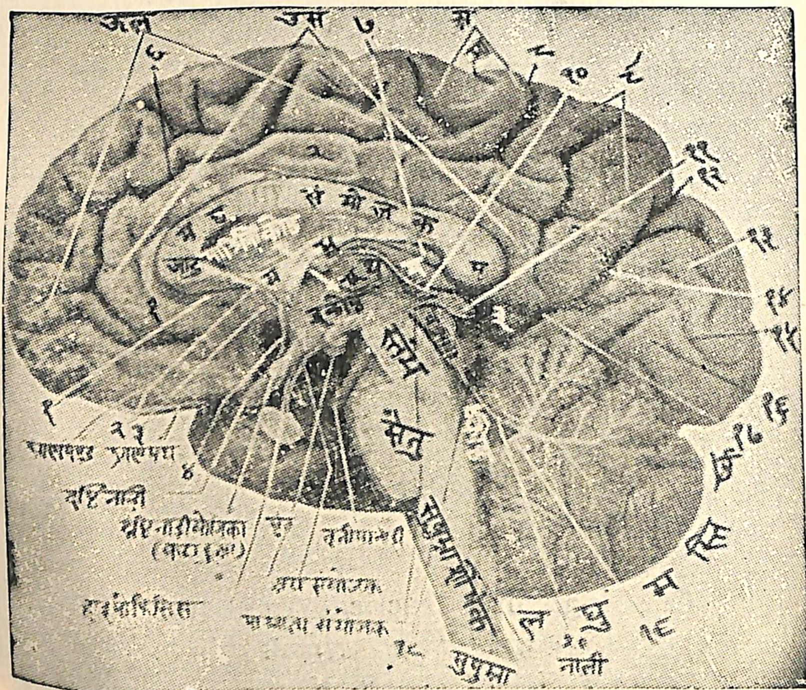


Cunningham's Practical Anatomy:

(डा० त्रि० ना० वर्मा-कृत हमारे शरीर की रचना से)

१. ललाट खंड को जानेवाले सूत्र। २. महासंयोजक का जानु। ३. कटा हुआ पृष्ठ। ४. अनुप्रस्थ सूत्र। ५. अधः अनुदर्घ्य सूत्र गुच्छ। ६. पाश्चात्य खंड को जानेवाले सूत्र। ७. मध्य अनुदर्घ्य रेखा। ८. महासंयोजक की पाश्चात्य पुच्छ। ९. सूत्रों का एक गुच्छा जो महासंयोजक को बीच के लगभग चारों ओर से घेरे हुए है। १०. महासंयोजक। ११, १२. कुछ सूत्र एक दूसरे के ऊपर होकर निकल रहे हैं। १३. महासंयोजक से मस्तिष्क के भिन्न २ भागों का जानेवाले कुछ सूत्र। १४. ९ के द्वारा दिखाते हुए सूत्रों का खुला भाग।

मस्तिष्क का मध्यम पृष्ठ



(डा० त्रि० ना० वर्मा-कृत हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ३२१

प्लेट नं० २ की व्याख्या

१=महासंयोजक जानु के नीचे रहनेवाला एक चक्रांग (Gyrus subcallosus)

२=महासंयोजक नासा

३=एक विशेष भाग (Paraterminal body)

४=इस भाग से तीसरे कोष्ठ की अगली दीवार बनती

५=(चित्र के भीतर) हाइपोफिसिस की डंठल

६=सीता ; ७=धनुराकार पिंड का दाहिना भाग ; ८=नं० ६ सीता का अंतिम भाग

९=पार्श्विक खंड का मध्य पृष्ठगत भाग (चतुरस्त्र खंड)

१०=उभरी हुई रेखा ११=पीनियल ग्रंथि १२=पार्श्विक पाश्चात्य सीता का अन्त

१३=पाश्चात्य खड का भाग १४=पार्श्विक पाश्चात्य सीता

१५=सीता १६=चक्रांग १७=नं० १५ सीता का प्रारम्भिक भाग

१८=चौथे कोष्ठ की अगली छत १९=चौथे कोष्ठ की पिछली छत

उ ल=ऊर्ध्व ललाट चक्रांग

उ सं=उपसंयोजक चक्रांग

अ=मध्यम सीता के अंतिम भाग के पास का चक्रांग

आ=मध्यम सीता का अन्त

ज=महासंयोजक का जानु

प= ,, की पुच्छ

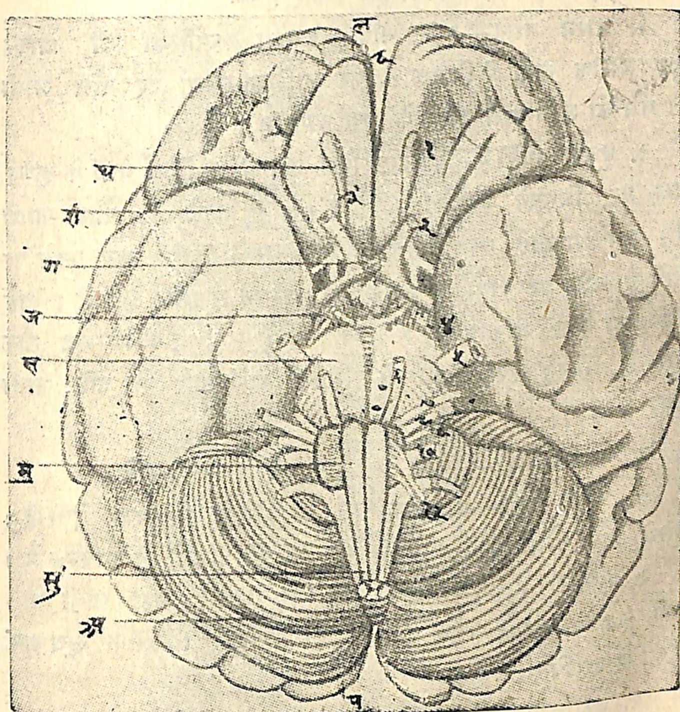
य=यवनिका का शेष भाग

ध=धनुराकार पिंड

थ (काला)=थैलेमस का वह भाग जो तीसरे कोष्ठ की पार्श्विक दीवार बनाता है

थ (श्वेत)=तीसरे कोष्ठ के बाहर रहनेवाला थैलेमस का भाग । स्तंभ और चतुष्पिंड से "मध्य मस्तिष्क" बनता है; इन दोनों के बीच में जो नाली है उसको मध्य मस्तिष्क की सुरंग कहते हैं ।

चित्र नं० ७५—मस्तिष्क का अधोभाग।



(हमारे शरीर की रचना से)

ल—ललाट ध्रुव, द—दरार या अन्तर, घ—घ्राणखंड, श—शंखध्रुव, ग—हाइपोफिसिस ग्रंथि, ज—मस्तिष्क स्तंभ, स—सेतु, सु—सुषुम्ना-शीर्षक का सूत्रपिंड, सु'—सुषुम्ना का प्रारम्भिक भाग, अ—लघु मस्तिष्क, प—पाश्चात्य ध्रुव।

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १२—बारहों नाड़ियाँ।

से भी नाड़ियों के १२ जोड़े निकलते हैं और भिन्न-भिन्न अंगों में जाते हैं। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

१. प्रथम नाड़ी—यह नाडी हमारी नासिका में आकर बहुत बारीक सूत्रों में विभक्त होकर नासिका-पटल पर फैल जाती है। गंध का ज्ञान इसी नाड़ी के द्वारा होता है।

२. दूसरी नाड़ी—यह दृष्टि-नाड़ी है। ये नाड़ियाँ नेत्रों के कृष्ण पटल पर, जिसको रेटीना (Retina) कहते हैं, फैल जाती हैं। जब हम कोई वस्तु देखते हैं तो उसकी छाया इस पटल पर बनती है और यह नाड़ी मस्तिष्क को उसकी सूचना देती है। यह देखने का काम वास्तव में मस्तिष्क का है। कभी-कभी नेत्र ठीक रहते हैं, किन्तु इस नाड़ी में विकार आ जाने से दृष्टि जाती रहती है।

३. तीसरी नाड़ी—इनका नेत्रों के चलने से सम्बन्ध है।

४. चौथी नाड़ी—यह भी नेत्रों की गति में सहायता देती है। तीसरी और चौथी दोनों नाड़ियों का नेत्रों की पेशियों से सम्बन्ध है।

५. पाँचवीं नाड़ी—मस्तिष्क की यह सबसे बड़ी नाड़ी है। आगे चलकर इसकी तीन शाखाएँ हो जाती हैं। इसके सूत्र मुख और सिर पर वितरित हैं।

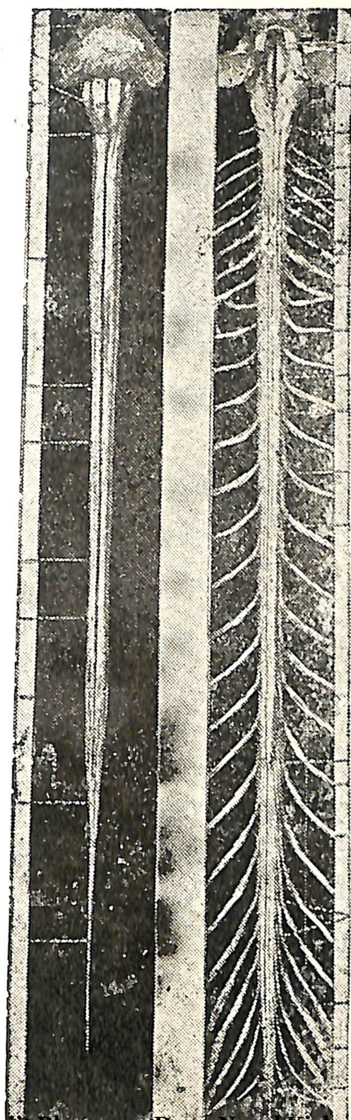
६. छठी नाड़ी—यह भी नेत्र से सम्बन्ध रखती है।

७. सातवीं नाड़ी—मुख के पेशियों से इसका सम्बन्ध है। उनकी गति इस नाड़ी के ऊपर निर्भर करती है। जब इस नाड़ी का स्तंभ हो जाता है तो मुख की सब मांस-पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं।

८. आठवीं नाड़ी कर्ण में आती है। इसके द्वारा हम श्रवण करते हैं। शब्द की लहरें वायु द्वारा हमारे कर्ण के परदे पर जाकर लगती हैं। इनका आघात कुछ सूक्ष्म अस्थियों द्वारा कर्ण के अंतः-

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ३

सुषुम्ना से निकलनेवाली नाड़ियों के मूल



(हमारे शरीर की रचना से) पृष्ठ संख्या ३५२

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ४

सुषुम्ना और इससे निकलनेवाली नाड़ियों के मूल

प्रथम ग्रैवेयक नाड़ी

प्रथम वक्षकीय नाड़ी

प्रथम कटि नाड़ी

प्रथम त्रिक नाड़ी



ग्रैवेयक कशेरुकों में रहनेवाला सुषुम्ना का भाग।

१ से ७=ग्रीवा के कशेरुक।

वक्षीय कशेरुकों में रहने वाला सुषुम्ना का भाग।

१ से १२=वक्ष प्रांत के कशेरुक।

कटि कशेरुकों के भीतर स्थित सुषुम्ना का भाग
१ और २=कटि कशेरुक

(हमारे शरीर की रचना से)

भाग में पहुँचता है और वहाँ से शब्द का ज्ञान इस नाड़ी के द्वारा हमारे मस्तिष्क में पहुँचता है। यदि इस नाड़ी को काट दिया जाय, तो कर्ण-यंत्र के ठीक रहते हुए भी हमें कुछ न सुनाई देगा।

९. नवीं नाड़ी—इसका जिह्वा और कंठ की पेशियों से संबंध है। वहाँ की मांस-पेशियों की गति इस नाड़ी ही के द्वारा होती है।

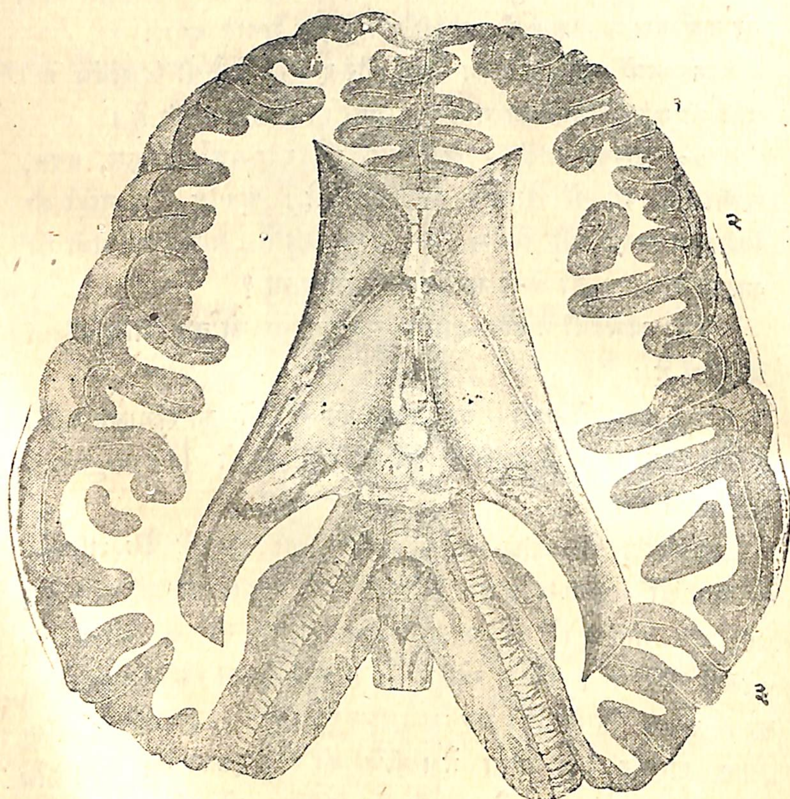
१०. दसवीं नाड़ी—इस नाड़ी का स्वर-यंत्र, फुस्फुस, हृदय, आमाशय, अंत्रियों इत्यादि से संबंध है। अतएव इस नाड़ी की विशेषता सहज ही में समझी जा सकती है। यदि इस नाड़ी को काट दिया जाय, तो कैसा भयंकर परिणाम होगा?

११. ग्यारहवीं नाड़ी—इसका संबंध ग्रीवा की कुछ मांस-पेशियों से रहता है।

१२. बारहवीं नाड़ी—यह जिह्वा की पेशियों का संचालन करती है और जिह्वा के नीचे रहती है। अँगरेज़ी में इसको Hypoglossal कहते हैं।

मस्तिष्क के कोष्ठ—ऊपर बताया जा चुका है कि मस्तिष्क दो गोलार्द्धों का बना हुआ होता है जो आपस में जुड़े रहते हैं। यदि इन गोलार्द्धों को काटकर देखा जाय तो ये भीतर से खोखले मिलेंगे। दोनों गोलार्द्धों में एक समान विशेष आकार का शून्य स्थान रहता है। यह स्थान बहुत बड़ा नहीं होता, किंतु इसका आकार टेढ़ा होता है। नीचे की ओर इसका एक भाग पाँव सरीखा निकला रहता है। इस प्रकार यह दो कोष्ठ होते हैं। इनको Ventricles कहा जाता है। दोनों ओर के कोष्ठ आपस में मिले रहते हैं, किंतु मिलने के स्थान पर इनके बीच में एक परदा रहता है। इन कोष्ठों में कुछ तरल रहता है। किसी-किसी रोग में इस तरल में वृद्धि हो जाती है।

चित्र नं० ७६—बृहत् मस्तिष्क का ऊपरी भाग काट दिया गया है, जिससे दोनों पार्श्व के कोष्ठ दिखाई देते हैं।



१ अंतिम शृंग ; २ मस्तिष्क के कोष्ठ ; ३ पश्चात् शृंग

बृहत् मस्तिष्क की स्थूल रचना—बृहत् मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों पर चक्रांग और खाताएँ रहती हैं। मस्तिष्क का रंग ऊपर से कुछ भूरा होता है। किंतु यदि हम एक चाकू से इसको

प्लेट नं० ५ की व्याख्या

च=चक्राङ्ग

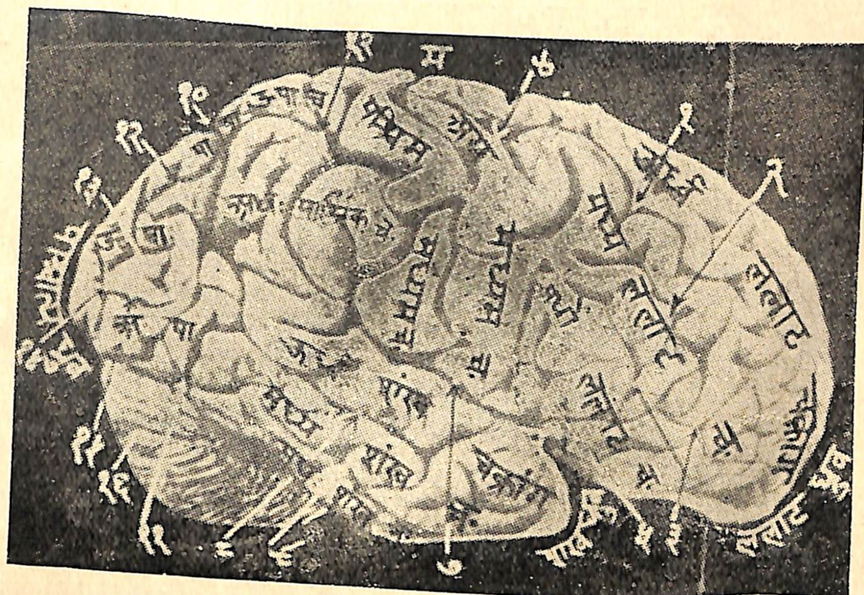
१=ऊर्ध्व ललाट सीता ; २=मध्य ललाट सीता ; ३=अधः ललाट सीता ; ४ और ५=मध्यमाग्र सीता के दो भाग ; ६ (श्वेत चित्र के भीतर)=मध्यम सीता ; म=मध्यम सीता ; ७=पार्श्विक सीता का पिछला क्षितिज भाग ; ८=ऊर्ध्व शंख सीता ; ९=मध्यम शंख सीता ; १०=पार्श्व पाश्चात्य सीता का अंतिम भाग ; ११=१० और ११ के बीच एक रेखा खींची जाय तो मस्तिष्क का जितना भाग इस रेखा के पीछे रहेगा वह 'पाश्चात्य खंड' होगा ; १२=इस सीता का कुछ भाग पार्श्विक खंड में रहता है और कुछ पाश्चात्य खंड में ; १३=सीता ; १४=चंद्राकार सीता ; १५=सीता ; १६=लघु मस्तिष्क ।

चित्र के भीतर—

प (श्वेत)=पार्श्विक सीता का आरंभिक भाग; १ और २ के बीच में पार्श्विक सीता की 'उद्गामी शाखा' ; २ और ३ के बीच में अगली क्षितिज शाखा ; पा पा=पाश्चात्य पार्श्विक चक्रांग । ऊ. पा. च.=ऊर्ध्व पार्श्विक चक्रांग ; ऊ. पा.=ऊर्ध्व पाश्चात्य चक्रांग ; अ. पा.=अधःपाश्चात्य चक्रांग ।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ५

मस्तिष्क का बहिः पृष्ठ

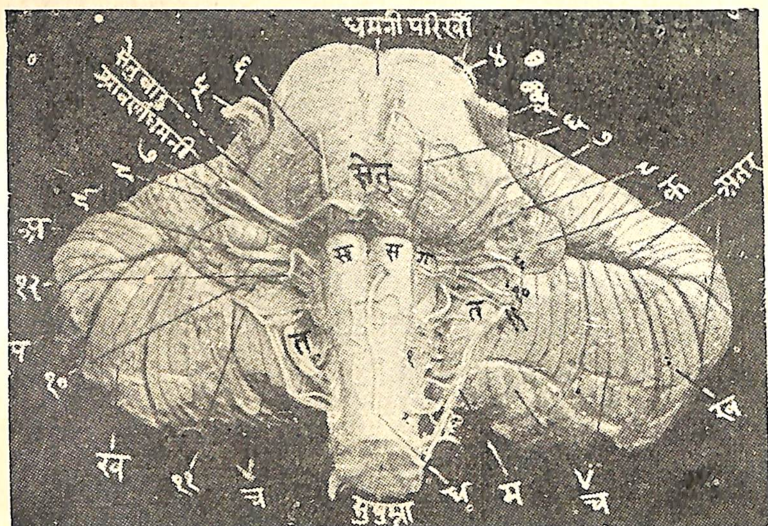


(डा० त्रि० ना० वर्मा कृत हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ३५४

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ९

सेतु, लघु मस्तिष्क और सुषुम्ना शीर्षक

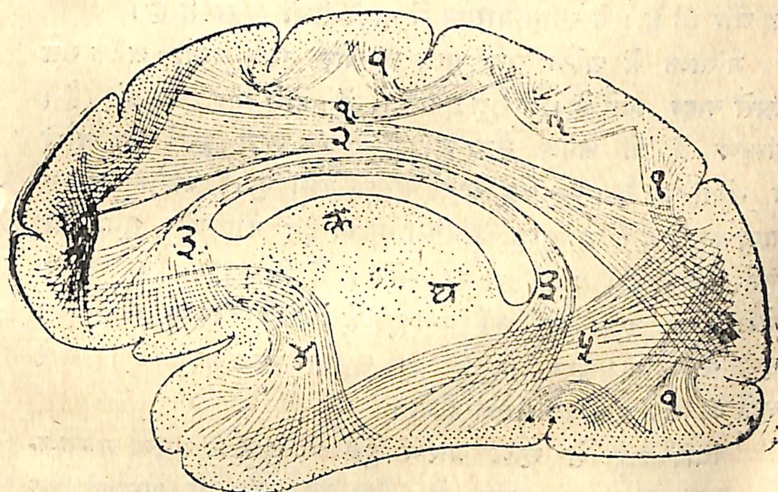


(डा० त्रि० ना० वर्मा-कृत हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ३५५

काटकर भीतर का भाग देखें तो उसका रंग श्वेत दिखाई देगा। सारा मस्तिष्क इन्हीं दो प्रकार के पदार्थों का बना हुआ है। एक का रंग धूसर है, इस कारण उसको धूसर पदार्थ (Grey Matter) कहते हैं। दूसरा जिसका रंग श्वेत है, श्वेत पदार्थ (White Matter) कहलाता है। धूसर पदार्थ श्वेत पदार्थ को चारों ओर से घेरे रहता है, इस कारण जब हम चाकू से काटकर

चित्र नं० ७७—बृहत् मस्तिष्क को पार्श्व की ओर से काटकर भिन्न-भिन्न सूत्रों का मार्ग और क्रम दिखाया गया है।



१. १—चक्रांगों के संयोजक सूत्र। [Starr]
२—ललाट और पश्चादंग को मिलानेवाले सूत्र।
३—ललाटांग और शाखांग को मिलानेवाले सूत्र।
४—ललाटांग और शंखांग को मिलानेवाले सूत्रों का समूह।
५—शंखांग और पश्चादंग को मिलानेवाले सूत्र।
क—केलाकार पिंड।
ख—थैलेमस।

देखते हैं तो ऊपर हमको भूरे पदार्थ का एक परत मिलता है और उसके नीचे श्वेत पदार्थ मिलता है।

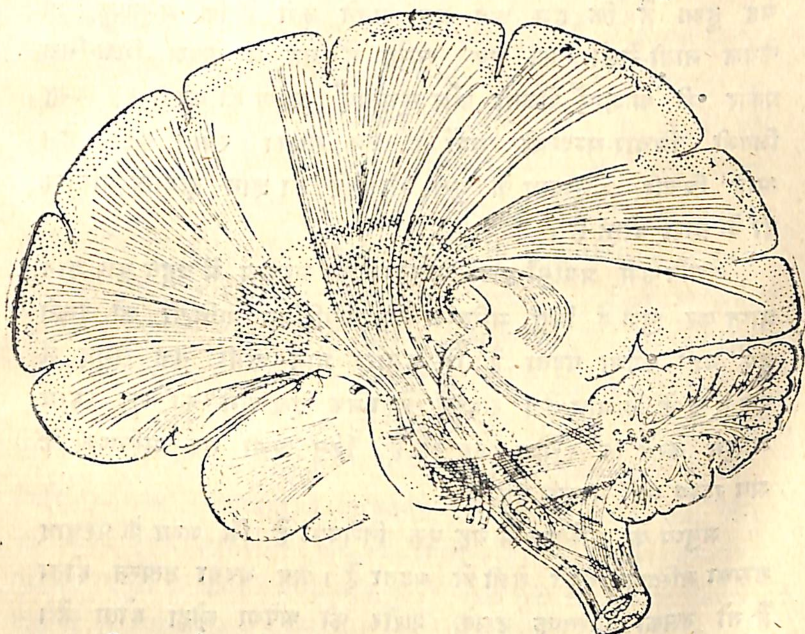
यदि हम और गहरा काटें तो हमको जहाँ-तहाँ श्वेत पदार्थ के बीच में धूसर पदार्थ के द्वीप मिलेंगे। यह धूसर पदार्थ का समूह श्वेत पदार्थ में इसी प्रकार वर्तमान है जैसे समुद्र में द्वीप। इनको अँगरेज़ी में Neucleus कहा जाता है। अर्थात् नाड़ी-मंडल के ये द्वीप-केंद्र हैं। ये केंद्र बृहत् मस्तिष्क के नीचे की ओर रहते हैं। इस प्रकार के तीन बड़े-बड़े मुख्य केंद्र हैं। छोटे केंद्र और भी हैं। ये स्थान वास्तव में नाड़ी-सेलों के समूह हैं।

मस्तिष्क में अनेक सूत्र आते हैं और उसी प्रकार अनेक सूत्र उससे बाहर जाते हैं। ये सूत्र इन केंद्रों में होते हुए निकलते हैं। मस्तिष्क में जो अनेक केंद्र हैं, वे इन्हीं सूत्रों द्वारा एक दूसरे से संयोजित हैं। एक केंद्र से इन सूत्रों द्वारा दूसरे केंद्र को सूचना जाया करती है। मस्तिष्क की सारी क्रिया इन केंद्रों और सूत्रों पर निर्भर करती है। जब हम यह सोचते हैं कि सुषुम्ना के समान मोटी नाड़ी इन्हीं सूत्रों की बनी हुई है और मस्तिष्क में भी इन सूत्रों की बहुत संख्या है तो हम अनुमान कर सकते हैं कि सारे सूत्रों की कितनी अधिक संख्या होगी।

यद्यपि जब से सृष्टि आरंभ हुई है तभी से मनुष्य मस्तिष्क से काम लेता चला आया है, किंतु यह बड़ी ही आश्चर्यजनक बात मालूम होती है कि पश्चिम के प्राचीन समय के विद्वान्, जिनको उस समय पूर्ण पंडित माना जाता था, मस्तिष्क के कर्म से अनभिज्ञ थे। अरस्तू (Aristotle) का विचार था कि मस्तिष्क का कर्म हृदय के ताप को कम करना है। जब कभी हृदय बहुत तप्त हो जाता है तो मस्तिष्क उस पर ठंडा जल छोड़

देता है जिससे हृदय को अग्नि कुछ कम हो जाती है। ग्रीस के प्राचीन लोगों को कुछ-कुछ भासमात्र था। प्लेटो का विचार था कि "मस्तिष्क विचार-शक्ति का मन्दिर" है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न बातें सोचते थे।

चित्र नं० ७८—मस्तिष्क के अन्य सूत्रों के मार्ग का दूसरा चित्र।



मस्तिष्क और नाड़ियों के कर्म का ठीक प्रकार से उसी समय ज्ञान हुआ है जब से शारीरिक विज्ञान में आधुनिक विधियों द्वारा प्रयोग करना आरम्भ हुआ है। गैलेन के समय में यह निश्चित प्रका से मालूम किया गया था कि मस्तिष्क के कर्म दो प्रकार के हैं; एक उत्तेजनाओं को ग्रहण करना और दूसरा उत्तेजनाओं को भेजना।

इसी प्रकार दो भाँति की नाड़ियाँ भी हैं; एक मस्तिष्क को चर्म और शरीर के अंगों से कुछ सूचनाएँ ले जाती हैं और दूसरी मस्तिष्क से अंगों और चर्म को आज्ञाएँ लाती हैं। उस समय से बराबर मस्तिष्क की शक्ति और कर्म जानने के लिए अनेक प्रयत्न और प्रयोग होते रहे हैं और दिन-रात हो रहे हैं। उनका परिणाम यह हुआ है कि हम अब यह जानने लगे हैं कि मस्तिष्क, जो केवल नाड़ी-सेलों का एक समूह है वह न केवल भिन्न-भिन्न प्रकार की आज्ञाएँ भेजता और सूचनाएँ ग्रहण ही करता है, किन्तु जितनी विचार-सम्बन्धी बातें हैं उन सबका स्थान यही है। सारे विचार, मनुष्यत्व के गुण, भले-बुरे का ज्ञान इत्यादि मस्तिष्क ही के द्वारा होता है।

यद्यपि हम प्रयोगों द्वारा मस्तिष्क के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, किंतु मस्तिष्क की अपरिमित शक्तियों को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि हमारा ज्ञान अभी तक समुद्र में एक बूँद के समान है। सहस्रों वैज्ञानिक इस अंग का गूढ़ रहस्य मालूम करने का उद्योग कर रहे हैं, किंतु अभी तक मस्तिष्क के सब रहस्य नहीं मालूम हुए हैं।

मनुष्य के मस्तिष्क में यह एक विशेषता है कि जन्म के पश्चात् उसका मस्तिष्क बहुत तेजी से बढ़ता है। जब बच्चा उत्पन्न होता है तो उसका मस्तिष्क उसके शरीर की अपेक्षा छोटा होता है। उसके पश्चात् उसकी बराबर वृद्धि होती रहती है, यहाँ तक कि मस्तिष्क जन्म के समय की अवस्था की अपेक्षा पाँच गुणा बड़ा हो जाता है। इससे अधिक नहीं बढ़ता। दूसरे पशुओं में ऐसा नहीं होता। बनमानुष में, जो मनुष्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, जन्मावस्था की अपेक्षा मस्तिष्क केवल थोड़ा ही सा बढ़ता है।

कुछ लोगों का विचार है कि जिस मनुष्य के मस्तिष्क का आकार जितना बड़ा होता है, उतनी ही उसमें बुद्धि अधिक होती है। यदि पशुओं का भी इस संबंध में विचार किया जाय तो यह अवश्य ही उपयुक्त मालूम होता है, किंतु साधारणतया यह विचार ठीक नहीं प्रतीत होता।

पशुओं के मस्तिष्क चिकने और सपाट होते हैं। उन पर सीता और चक्रांग बहुत कम होते हैं। यदि पशुओं के मस्तिष्कों का अध्ययन किया जाय तो हम देखेंगे कि नीची श्रेणी के पशुओं की अपेक्षा ऊँची श्रेणी के पशुओं के मस्तिष्कों में चक्रांग और सीता अधिक होते हैं। बंदर, बनमानुष इत्यादि के मस्तिष्क हमारे मस्तिष्कों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। छोटे बच्चे के मस्तिष्क में भी यह सीता और चक्रांग कम होते हैं; किंतु ज्यों-ज्यों हमारी अवस्था बढ़ती है और मस्तिष्क का अधिक विकास होता है, त्यों-त्यों उसके सीता और चक्रांगों में भी वृद्धि होती है। न केवल यही, किंतु यदि हम मनुष्य की असभ्य जातियों के मस्तिष्क को सभ्य जातियों के मस्तिष्कों से तुलना करें तो भी यही परिणाम निकलेगा। ज्यों-ज्यों विचार-शक्ति और बुद्धि की अधिकता होती जाती है त्यों-त्यों मस्तिष्क का भार और उस पर चक्रांग इत्यादि अधिक होते जाते हैं। किंतु यह कोई ऐसा नियम नहीं है कि जिसको हम अटूट कह सकें। कार्ल पियर्सन और डॉक्टर रेमंडपर्ल (Karl Pearson and Dr. Raymond Pearl) ने २१०० पुरुषों के और १०२४ स्त्रियों के मस्तिष्कों को तोला था। उनका कथन है कि "मस्तिष्क के भार और उसकी शक्ति, बुद्धिमत्ता इत्यादि में कोई संबंध नहीं मालूम होता।" इन लोगों ने कई भिन्न-भिन्न जातियों के, स्वीडन-निवासी, बैवेरियन,

हैस्सिपन, बोहीमियन और अँगरेज़ जाति के मस्तिष्कों को तोला था। इस सबसे वह लोग ऊपर कहे हुए परिणाम पर पहुँचे। इन पाँचों जातियों में सबसे कम भार अँगरेज़ जाति के मस्तिष्क का है। बायरन के मस्तिष्क का भार २२३८ ग्राम था; डाक्टर गम्बाटा का मस्तिष्क ११९४ ग्राम भारी था। डाक्टर हेल्महोल्ज़ का मस्तिष्क २२½ छटाँक था। इस प्रकार बायरन का मस्तिष्क गम्बाटा के मस्तिष्क से लगभग दुगना और हेल्महोल्ज़ के मस्तिष्क से ड्योढ़ा था; किंतु इसका यह अर्थ नहीं माना जा सकता है कि बायरन इन और लोगों की अपेक्षा बुद्धि में भी इतना ही अधिक प्रखर था।

इन सब बातों से यह प्रतीत होता है कि जब हम सारे पशुओं का विचार करते हैं, तब पशु की बुद्धि के विकास के अनुसार उसके मस्तिष्क का आकार और भार अधिक होता चला जाता है। यहाँ तक कि हम मनुष्य तक पहुँचते हैं। किंतु वहाँ पहुँचकर यह नियम अंत हो जाता है। वहाँ बुद्धि का संबंध मस्तिष्क की रचना से होता है। उसकी आंतरिक रचना जितनी गूढ़ होती है और उस पर चक्रांग और सीताओं की अधिकता होती है, उतना ही बुद्धि का विकास भी अधिक होता है।

मस्तिष्क के केंद्र—मस्तिष्क अनेक प्रांतों में विभक्त है। शरीरांग-विद्या और शरीर-क्रिया-विज्ञान के विद्वानों ने व्याख्या की सुगमता के लिये उसको कई भागों में बाँटा है। किंतु शरीर-कार्य-विज्ञान के विद्वान् उसको कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रांतों में विभक्त करते हैं। यह भली प्रकार से मालूम हो चुका है कि मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों द्वारा भिन्न-भिन्न क्रिया होती है। इस प्रकार हाथ को उठाने का काम एक स्थान से

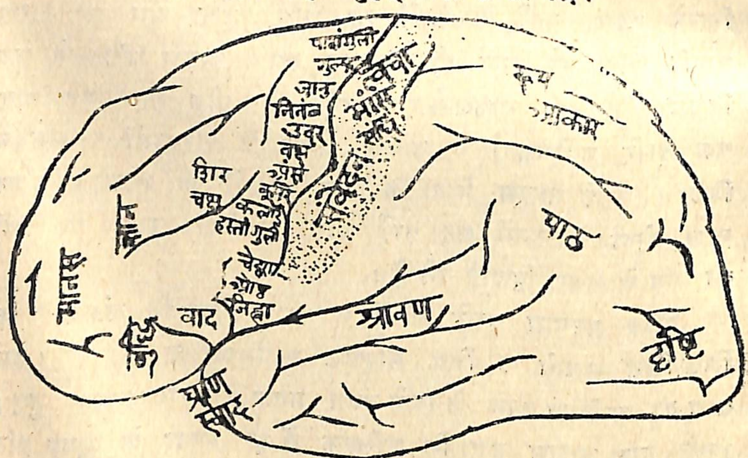
होता है ; टाँगों की क्रिया को करनेवाला भाग दूसरा है ; हृदय का केंद्र एक स्थान पर है और फुस्फुस का दूसरे स्थान पर। इसी प्रकार समस्त मस्तिष्क भिन्न-भिन्न भागों में बँटा हुआ है। ये स्थान केंद्र कहे जाते हैं।

केंद्रों का अन्वेषण—सन् १८६१ में फ्रांस के एक विद्वान् ने, जिसका नाम ब्रोका (Broca) था, यह पता लगाया था कि भाषण का केंद्र बाईं ओर स्थित है। जिन रोगियों में किसी रोग से भाषण-शक्ति का नाश हो गया था और उनकी मृत्यु हो गई उनमें, मृतक-परीक्षा पर, बाईं ओर एक विशेष स्थान में, जिसको अब भाषण-केंद्र कहते हैं, जमा हुआ रक्त मिला। जिससे विदित होता था कि रोग में, उस स्थान में, रक्त-प्रवाह हुआ था जिसके कारण वहाँ के सेलों को हानि पहुँची और इस कारण उनकी शक्ति का नाश हो गया। इससे डाक्टर ब्रोका ने यह विचारा कि यही भाषण-केंद्र का स्थान है। तीन साल के पश्चात् एक दूसरे प्रयोगकर्ता ने डाक्टर ब्रोका के परिणामों का समर्थन किया। उसने मालूम किया कि जिन रोगियों की भाषण-शक्ति का नाश होता है उनमें सदा बाईं ओर एक विशेष स्थान पर सेलों की क्षति के लक्षण दिखाई देते हैं।

इसके पश्चात् दूसरे लोगों ने यह विचारा कि संभव है कि भिन्न-भिन्न स्थानों के लिये मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न केंद्र हों। इस बात का अन्वेषण करने के लिये नाना प्रकार के प्रयोग आरंभ हुए। इनके द्वारा मालूम हुआ कि मस्तिष्क में दो प्रकार के मुख्य प्रांत हैं। एक संचालक, जो शरीर में नाना प्रकार की गतियाँ उत्पन्न करते हैं और दूसरे सांवेदनिक, जो सुख-दुःख, शीत, घाम, ताप, स्वाद इत्यादि का अनुभव करते हैं। इस प्रकार यदि संचालक

स्थान का नाश कर दिया जाय तो जिस अंग से उस स्थान का संबंध था उसकी गति जाती रहेगी । किंतु यदि विद्युत्-धारा द्वारा इस केंद्र को उत्तेजित किया जाय तो अंग की गति बढ़ जायगी। इन दोनों साधनों से मस्तिष्क के प्रांतों का कर्म मालूम किया जा सकता है । यदि मस्तिष्क के किसी भाग पर विद्युत्-धारा लगाएँ तो तुरंत ही उससे संबंध रखनेवाला अंग ज़ोर से क्रिया करने लगेगा । यदि मस्तिष्क के उस प्रांत का संबंध अग्रबाहु से है तो बाहु के अग्र भाग की पेशियाँ तुरंत संकोच और विस्तार करने लगेंगी। किंतु यदि मस्तिष्क का यह भाग काट डाला जाय तो बाहु कर्म करना छोड़ देगी। उसका पक्षाघात हो जायगा।

चित्र नं० ७१—बृहत् मस्तिष्क का केंद्र।



श्रावण=श्रवण।

संवेदन=सांवेदनिक ज्ञान।

चेहरा=मुख।

(हमारे शरीर की रचना से)

इस प्रकार प्रयोगों द्वारा यह मालूम किया जा चुका है कि अग्रबाहु, बाहु, वक्षोदर, जंघा, जानु, टखना, पाद इत्यादि भिन्न-भिन्न अंगों के लिये भिन्न-भिन्न सेल विशेष स्थानों में नियत हैं। हृदय का केंद्र, फुस्फुस का केंद्र, अंत्रियों का केंद्र इत्यादि अनेक क्रियाओं के केंद्र भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित हैं। इनकी स्थिति का भी ठीक प्रकार पता लग चुका है। पलक चलानेवाला केंद्र, जिह्वा का केंद्र, स्वर-यंत्र का केंद्र, मूत्र-त्याग का केंद्र इत्यादि अनेक केंद्र हैं, जिनके ऊपर ये क्रियाएँ निर्भर हैं। उनके नाश हो जाने से क्रिया नहीं होती। इसके अतिरिक्त यह भी मालूम हो चुका है कि शरीर के दाहने भाग के अंगों को संचालन करनेवाले केंद्र बाईं ओर स्थित हैं और बाईं ओर को संचालन करनेवाले केंद्र दाहनी ओर स्थित हैं। जो अंग केवल एक ही हैं, उनके केंद्र मस्तिष्क में कहीं एक स्थान पर वर्तमान हैं। मस्तिष्क का वह भाग, जो देखता है, पीछे की ओर स्थित है। इसी प्रकार श्रवण-स्थान और घ्राण स्थान भी पीछे की ही ओर स्थित हैं। ये सांवेदनिक स्थान हैं।

यद्यपि इस प्रकार के अनेक स्थानों का पता लग चुका है, तो भी मस्तिष्क का अधिक भाग ऐसा है जिसके कर्म का कुछ पता नहीं लगा है। उनकी उत्तेजनाओं से कुछ फल नहीं निकलता। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के प्रयोगों में अनेक कठिनाइयाँ पड़ती हैं। मान लिया जाय कि यदि किसी स्थान की उत्तेजना से दया का भाव उत्पन्न होता है तो प्रयोग के समय उस भाव का कोई ऐसा प्रत्यक्ष स्वरूप न दिखाई देगा, जिसका हम अनुभव कर सकें। इसी प्रकार जो भी ऐसी बातें हैं, जिनका अस्तित्व केवल विचार ही में है, उनका हमको कोई भी प्रमाण

नहीं मिल सकता; क्योंकि जिस पशु और व्यक्ति पर प्रयोग किया जा रहा है, वह अचेतनावस्था में है। संभव है कि मस्तिष्क के जिन भागों की उत्तेजना से कोई फल नहीं निकलता, वे सब ऐसे ही उच्च कर्मों के क्षेत्र हों।

मस्तिष्क की सबसे अधिक अद्भुत शक्ति स्मरण-शक्ति है। जो कुछ हम देखते हैं, सुनते हैं, उन सब बातों की स्मृति मस्तिष्क में संगृहीत हो जाती है जो उस वस्तु के फिर देखने और सुनने पर फिर जागृत हो उठती है। इस क्रिया में वस्तुतः बहुत से केंद्र काम करते हैं।

यद्यपि यह मालूम किया जा चुका है कि मस्तिष्क में अनेक केंद्र हैं और एक क्रिया के लिये एक ही केंद्र है, किंतु वास्तव में ऐसा कोई कर्म नहीं होता जिसमें केवल एक ही केंद्र काम करता हो। प्राचीन शारीरिक शास्त्रज्ञ कहते थे कि 'सारा मस्तिष्क काम करता है।' एक प्रकार से यह बिलकुल ठीक है। हमारे सामने खाने के लिये एक भोजन पदार्थ आता है। मान लिया जाय कि भोजन पदार्थ नारंगी है। नारंगी केवल सुनने ही से हमको कई प्रकार के ज्ञान हो जाते हैं। उसके रंग का ज्ञान, उसके गंध का ज्ञान, उसकी रचना का ज्ञान कि उस पर छिलका है और छिलके के भीतर फाँकें हैं, उसमें रस है और बीज हैं, हमको छिलका उतार कर खाना है इत्यादि अनेक ज्ञान एक ही साथ होते हैं। इन सबमें अनेक केंद्र काम करते हैं। यदि हम कोई खेल खेलते हैं तो भी नाना प्रकार के ज्ञानों का उदय होता है; किस प्रकार से खेल खेला जाता है; कितने मनुष्यों के साथ खेला जाता है; किस प्रकार हार-जीत होती है, हमको जीतना चाहिए इत्यादि अनेक भावनाएँ एक साथ उत्पन्न होती हैं। हमारा प्रत्येक कार्य एक

संयुक्त कार्य होता है जो कई भिन्न-भिन्न कर्मों का फल होता है। इस प्रकार यह कहना कि समस्त मस्तिष्क काम करता है अनुचित नहीं है।

बृहत् मस्तिष्क भावनाओं और संचालन का स्थान कहा जा सकता है। सुख-दुःख इत्यादि के भाव बृहत् मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं और अंगों का संचालन भी यहीं से होता है। किन्तु बहुत से कर्मों के छोटे-छोटे केन्द्र सुषुम्ना और मस्तिष्क के अन्य भागों में भी स्थित होते हैं जिससे यदि बृहत् मस्तिष्क का बड़ा केन्द्र नष्ट हो जाय तो दूसरे केन्द्र काम चला सकते हैं। यदि एक मछली के बृहत् मस्तिष्क के गोलार्द्धों को निकाल दिया जाय तो भी वह अपने बहुत से साधारण कर्म करती रहती है। इसके शरीर को संचालन करनेवाली उत्तेजनाएँ उसकी आँखों और कानों के द्वारा आती हैं। इन अंगों के केन्द्र इस जन्तु में बृहत् मस्तिष्क में स्थित नहीं होते। इस कारण इस भाग का नाश करने से उनके केन्द्रों का भी नाश नहीं होता। बृहत् मस्तिष्क न रहने पर भी वह अपने भोज्य-पदार्थों को देख सकती है और उसे निगल सकती है। उसकी तैरने की शक्ति का भी कुछ ह्रास नहीं होता। एक मेंढक, जिसका बृहत् मस्तिष्क निकाल दिया गया है, उछलकर कीड़े पकड़ सकता है और दूसरे साधारण काम कर सकता है। शार्क (Shark) नाम की मछली में यदि उसका बृहत् मस्तिष्क निकाल दिया जाता है, तो उसका परिणाम इससे भिन्न होता है। शार्क बिलकुल बेकाम हो जाती है, उससे हिला भी नहीं जाता और न वह अपने भोज्य को ही पकड़ने में समर्थ होता है। इसका कारण यह है कि इस मछली में घ्राणेंद्रियाँ विशेष होती हैं। उनके द्वारा यह सब अनुभव करती है। यदि मस्तिष्क का वह भाग,

जिसका प्राणशक्ति से संबंध है, मस्तिष्क से काट दिया जाय तो भी वही परिणाम होगा जो सारे मस्तिष्क काटकर निकाल देने से होता है।

यदि एक पक्षी का बृहत् मस्तिष्क निकाल दिया जाय तो वह बिलकुल चुपचाप बिना हिले-डुले एक ही स्थान पर, जहाँ उसे बैठा दिया जाय, बैठा रहेगा ; मानो सो रहा है। और जब तक उसे छेड़ा न जायगा वह उसी दशा में बैठा रहेगा। यदि उसे वायु में छोड़ दिया जाय तो अपनी दृष्टि की सहायता से वह बराबर उड़ता चला जायगा और अन्त को किसी वृक्ष की शाखा पर जा बैठेगा। किन्तु वह स्वयं अपने-आप कुछ कर्म न करेगा।

स्तनधारी पशुओं में ऐसा प्रयोग करने से बहुत हानिकारक फल निकलते हैं। पहले तो उनमें रक्त-प्रवाह इतना अधिक होता है कि उनकी मृत्यु हो जाती है। तिस पर भी जो जीवित रहते हैं, उनकी दशा मेंढक की ऐसी हो जाती है। वह बहुत से कर्म कर सकते हैं, किन्तु वे सब परावर्तित क्रियाएँ होती हैं अर्थात् सुषुम्ना के द्वारा हो जाती हैं। स्वयं पशु की अपनी इच्छा से कर्म करने की शक्ति जाती रहती है। स्मरण-शक्ति, भावनाएँ और अन्य उच्च कर्मों की शक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार हम जितने ऊँचे श्रेणी के पशुओं पर यह प्रयोग करते हैं, उतनी ही उनकी अधिक हानि होती है। नीचे की श्रेणी के जन्तुओं को इतनी हानि नहीं होती। उच्च श्रेणी के पशुओं में वे सारे गुण नष्ट हो जाते हैं जो उनको नीचे की श्रेणी के पशुओं से भिन्न करते हैं। मनुष्य में यह प्रयोग असंभव है।

मस्तिष्क के सब भागों का कार्य अभी तक नहीं मालूम हो सका है। मस्तिष्क का सबसे आगे का भाग, जो ललाट अस्थि के

पीछे रहता है, उसके कर्म का पता नहीं लग सका है। किंतु लोगों का यह विचार है कि यह भाग बुद्धिमत्ता का स्थान है। जो मनुष्य बहुत बुद्धिमान् और चतुर होते हैं, उनमें यह भाग विस्तृत पाया जाता है; किंतु इसका कोई प्रमाण नहीं है। वे केवल अनुमान की बातें हैं।

संभव है कि मस्तिष्क का कुछ भाग ऐसा हो जिसकी हमको आवश्यकता नहीं है। अथवा उसमें कुछ ऐसे गुणों का निवास हो जो अभी तक मनुष्य में उत्पन्न ही नहीं हुए हैं। कई ऐसी घटनाएँ हो चुकी हैं जहाँ मनुष्यों के मस्तिष्क के भाग कपाल से निकल गए हैं, किंतु उन पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। डाक्टर बैडले (Baddeley) ने एक ऐसे लड़के का वर्णन किया है जिसके सिर पर चोट लगने से उसका सिर फट गया और फटे हुए सिर में से मस्तिष्क का कुछ भाग बाहर निकल गया। उस लड़के को उस समय तो चोट से कष्ट हुआ, किंतु वह फिर बिलकुल ठीक हो गया और उसकी विचार-शक्ति भी वैसी ही रही जैसी पूर्व में थी। थैंट प्रांत के एक मनुष्य के कपाल से एक आघात के कारण सिर फटकर 'दो चम्मच भर' मस्तिष्क बाहर निकल गया। इसके पश्चात् वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान् हो गया। दूसरे डाक्टरों का भी, जो युद्ध के अस्पताल में काम करते थे और जिनको बहुत बार ऐसे योद्धाओं की चिकित्सा करनी पड़ी थी जिनके कपाल से गोली इत्यादि से मस्तिष्क बाहर निकल आया था, ऐसा ही अनुभव है।

लघु मस्तिष्क का कर्म—बृहत् मस्तिष्क के नीचे लघु मस्तिष्क होता है। इसका कर्म भी बहुत समय तक नहीं मालूम था। बृहत् मस्तिष्क की भाँति लघु मस्तिष्क के संबंध में भी

लोगों के अद्भुत विचार थे। एक बहुत पुराना विचार यह था कि यह अंग किसी प्रकार उत्पादन के साथ संबंध रखता है। कुछ लोगों का विचार था कि जीवन के जो आवश्यक कार्य हैं, वे इस अंग पर निर्भर करते हैं। तीसरा मत यह था कि हमारी अनुभव की शक्ति लघु मस्तिष्क पर निर्भर करती है। सुख, दुःख, कष्ट, शीत इत्यादि के अनुभव का स्थान यह अंग है।

इस अंग का ठीक-ठीक कार्य मालूम करनेवाला फ़्लाउरेंस (Flourens) नामक वैज्ञानिक था, जिसने सबसे पूर्व यह बताया कि लघु मस्तिष्क का मुख्य कर्म हमारी गति को ठीक रखना है। कोई-कोई रोग ऐसा होता है, जिसमें पाँव लड़खड़ाने लगते हैं। हाथों से भी वस्तु ठीक प्रकार से नहीं पकड़ी जाती है। ऐसा तभी होता है, जब लघु मस्तिष्क अपने कर्म को ठीक प्रकार से नहीं कर सकता। भिन्न-भिन्न पेशियों से उचित समय पर उस प्रकार काम करवाना, जिससे हमारी गति ठीक होती चली जाय और किसी प्रकार हमारा आधार न जाता रहे, यह लघु मस्तिष्क का कार्य है।

जैसा सारे मस्तिष्क में प्रबंध है वैसा ही यहाँ भी है; एक बड़ा मुख्य केंद्र होता है और उसके नीचे गौण केंद्र होते हैं। मुख्य केंद्र अपनी क्रिया से गौण केंद्रों को कर्मरत कर देता है। एक बार सारी मशीन को वह चला देता है, जिससे नीचे के केंद्र सब काम करने लगते हैं। इसके पश्चात् मुख्य केंद्र चुप हो बैठता है; किंतु छोटे केंद्र काम किए जाते हैं। मुख्य केंद्र के क्रिया आरंभ करने के पश्चात् यह काम गौण केंद्रों का है कि वे देखें कि किस समय पर और किस क्रम से कौन पेशी काम करती है। जिस प्रकार बड़ा अफ़सर छोटे अफ़सरों को एक काम करने के लिये कह देता है।

उसके पश्चात् यह काम छोटे अफ़सरों का होता है कि वह किस प्रकार से किस-किस व्यक्ति के द्वारा कौन-कौन काम करवाएँ, जिससे बड़े अफ़सर की आज्ञा के अनुसार काम होजाय। मस्तिष्क में भी ठीक यही प्रबंध है। बड़े केंद्रों के साथ अनेक छोटे केंद्र होते हैं जो मुख्य केंद्र को सहायता देते हैं। इस लघु मस्तिष्क के साथ भी पिंड और सुषुम्ना इत्यादि में ऐसे केंद्र हैं जो उसके साथ शरीर को गति के समय ठीक रखने में बहुत सहायक होते हैं।

लघु मस्तिष्क को अपना काम करने में चर्म, नेत्र, पेशी, संधि और विशेषतया कर्ण के आंतरिक भाग से बहुत सहायता मिलती है। इन स्थानों से प्रत्येक समय लघु मस्तिष्क को सूचनाएँ जाती रहती हैं जो उसको शरीर की प्रत्येक गति का ज्ञान करा देती हैं। इस ज्ञान के अनुसार वह उचित मांसपेशियों को कार्य करने की आज्ञा देता है।

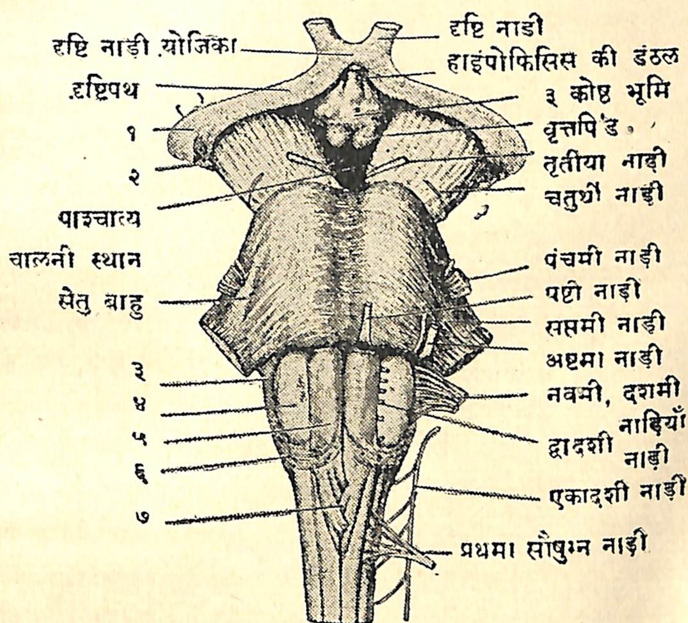
कर्ण की बनावट बड़ी ही विचित्र है। उसके आंतरिक भाग में तीन नलिकाएँ होती हैं जो अर्द्ध चक्र के समान होती हैं। इनके भीतर एक प्रकार का तरल होता है, जिसमें कुछ कण रहते हैं। ये तीनों नलिकाएँ एक ओर आपस में जुड़ी रहती हैं। इनसे नाड़ी के कुछ सूत्र मस्तिष्क को जाते हैं जो वहाँ तक सूचना पहुँचाते हैं। इन तीनों नलिकाओं का इस प्रकार प्रबंध है कि प्रत्येक प्रकार की गति का सीधा रहना, टेढ़ा हो जाना, उलटा हो जाना इत्यादि भिन्न-भिन्न स्थितियों का वह पूर्णतया अनुभव कर सकती है। स्थिति के अनुसार नलिका के भीतर कणों की स्थिति में भी परिवर्तन हो जाता है। बस, वे कण उस नाड़ी को, जिसके सूत्र वहाँ फैले हुए हैं, उत्तेजित कर देते हैं और तुरन्त सूचना नाड़ी-मंडल को पहुँच जाती है। लघु मस्तिष्क के पास

जब यह सूचना पहुँचती है तो वह तुरंत ही उसके अनुसार दूसरे पेशियों को आज्ञा देता है, जिससे वे सब मिलकर शरीर को इस भाँति रखते हैं कि उसको कोई हानि नहीं पहुँचने पाती। इस प्रकार लघु मस्तिष्क को शरीर की स्थिति ठीक रखने और पेशियों की क्रिया को संगठित करने में कर्ण के अंतर्भाग से बहुत सहायता मिलती है। ये नलिकाएँ मुख्यतया इसी कार्य के लिये बनाई गई मालूम होती हैं। इनकी रचना का विशेष वर्णन आगे चल-कर किया जायगा।

नेत्रों द्वारा भी लघु मस्तिष्क को बहुत सहायता मिलती है। एक मानसिक रोग में जिसका नाम Locomotor Ataxy है, रोगी की यह दशा होती है कि यदि वह नेत्र बंद करके चलने का उद्योग करता है तो उसके पाँव लड़खड़ा जाते हैं और वह गिर पड़ता है। यह रोग की अवस्था पर निर्भर करता है कि वह कितना चल सकता है। नेत्र बंद कर सीधा चलना साधारण स्वस्थ मनुष्य को भी कठिन होता है। कुछ पशुओं के नेत्रों को निकाल देने से वे चलने में बिलकुल ही असमर्थ हो जाते हैं। उनका सिर घूमने लगता है और वह भी चक्कर खाने लगते हैं।

इसी प्रकार स्पर्श और गति का ज्ञान भी लघु मस्तिष्क को सहायता देता है। जब हम पृथ्वी पर चलते हैं तो हमारे पाँव पृथ्वी को स्पर्श करते हैं और उनसे हमारे नाड़ी-मंडल को इस बात का ज्ञान होता रहता है कि हम उचित स्थान पर चल रहे हैं या नहीं। यदि हमारे पाँव के नीचे एकदम नरम पृथ्वी या कीचड़ आ जाय तो यदि हम उसकी ओर नहीं भी देख रहे हैं तो भी हम तुरंत ही सँभलकर चलने लगेंगे। किंतु प्रयोगों से यह मालूम हुआ है कि इस संबंध में संधियों से जो मस्तिष्क को सूचनाएं

सेतु, सुषुम्ना शीर्षक सामने से



(हमारे शरीर की रचना से)

१, २—दो उभार जो दृष्टिपथ से संबंध रखते हैं; ३, ४—गुली पिंड ; ५—सूची पिंड ; ६—उपरितन सतोरण नाड़ी-सूत्र ; ७—नाड़ी-सूत्र एक ओर से दूसरी ओर जा रहे हैं।

पृष्ठ-संख्या ३७०

जाती रहती हैं, वे चर्म और त्वचा की सूचनाओं से अधिक महत्त्व की हैं। जब हम चलते हैं तो हमें ज्ञान रहता है कि हमारी पेशियाँ और संधियाँ क्या कार्य कर रही हैं। यह ज्ञान अन्त में ऐसा हो जाता है कि उसकी ओर हम तनिक भी ध्यान नहीं देते और वह क्रिया स्वयं होती रहती है। यदि हम तनिक भी उसको विचारें तो हम प्रत्येक गति में पेशियों और संधियों की क्रिया का अनुभव कर सकते हैं। हम चाहें उसकी ओर ध्यान दें या न दें; किंतु उस गति में क्रिया करनेवाली पेशियों से सदा उत्तेजनाएँ मस्तिष्क को जाती रहती हैं जो बताती हैं कि हम किस स्थान में किस प्रकार स्थित हैं।

लघु मस्तिष्क की क्रिया को मालूम करने के लिये भी उन दोनों विधियों का प्रयोग किया जाता है, जिनके द्वारा बृहत् मस्तिष्क का कर्म मालूम किया गया था; अर्थात् एक उत्तेजना और दूसरे उस अंग का विनाश। यदि किसी पक्षी में यह भाग नष्ट कर दिया जाता है तो उसकी उड़कर किसी स्थान में पहुँचने की शक्ति जाती रहती है। यदि उसको वायु में छोड़ दिया जाय तो वह सीधा नहीं उड़ सकता; उसकी गति बहुत ही क्रमहीन होगी और वह शीघ्र ही पृथ्वी पर गिर पड़ेगा।

यदि यह भाग किसी पशु के शरीर से भिन्न कर दिया जाय तो उसकी पेशियों में निर्बलता आ जायगी; उसकी चाल ठीक न रहेगी; वह लड़खड़ाता हुआ एक शराब पिए हुए व्यक्ति की भाँति चलेगा।

यदि किसी पक्षी में उसके अन्तस्थकर्ण की नलिकाएँ, जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है, नष्ट कर दी जायँ तो उसका प्रभाव लघु मस्तिष्क के नाश करने से कम न होगा। एक कबूतर

पर ऐसा प्रयोग किया गया था । उसका सिर सदा वक्ष से लगा रहता था । सिर के ऊपर का भाग सदा नीचे की ओर रहता था । दाहना नेत्र सदा बाईं ओर देखता था और बायाँ नेत्र दाहनी ओर को । उसका सिर सदा इधर से उधर और उधर से इधर को हिला करता था । प्रत्येक समय उसके शरीर में कुछ न कुछ निरर्थक गति हुआ करती थी । वह कबूतर न बैठ सकता था, न एक समान कुछ समय के लिये खड़ा हो सकता था, न वह चुपचाप पड़ा ही रह सकता था । कभी वह वायु में ऊपर उड़ने का उद्योग करता, फिर नीचे गिर पड़ता । वह बड़े ज़ोर से क़लाबाज़ी [illegible]ता, जिससे फिर पृथ्वी पर आकर गिर जाता । दो-चार दिन के पश्चात् उसकी यह उन्मत्त दशा कुछ कम हुई । [illegible] सप्ताह के पश्चात् वह फिर सीधा खड़ा होना सीख गया । यदि उसकी आँख ढक दी जाती तो फिर वही पुराने लक्षण प्रकट हो जाते थे ।

इससे यह स्पष्ट है कि कर्ण की ये नलिकाएँ कैसे महत्त्व की वस्तु हैं । यदि हम आँखें मूँद कर भी चलें या हमको ले जाया जाय तो ये हमको बता देती हैं कि हम किस ओर को ले जाए जा रहे हैं । यदि हमको अचानक दूसरी ओर घुमा दिया जाय तो भी इनकी सहायता से तुरन्त ही मालूम हो जायगा । हम उस गति को भी अनुभव करते हैं, जिससे हम छिपाए जा रहे हैं । यह इन नलिकाओं के भीतर तरल और कणों का प्रभाव है कि हमको इन सब बातों का ज्ञान इतनी जल्दी हो जाता है । ज्ञान करानेवाले मुख्य यंत्र नलियाँ हैं जो इन सूचनाओं को मस्तिष्क तक ले जाती हैं ।

सुषुम्ना का कार्य—सुषुम्ना मस्तिष्क से शरीर के प्रांतों को

सुषुम्ना के भिन्न-भिन्न दिशाओं के चित्र

अ—सामने की ओर से दाहिनी ओर का पूर्व मूल काट दिया गया है।

अ—सामने का दृश्य।

क—ऊपरी दृश्य।

च—नाड़ी मूल और गंड।

ब—पार्श्व का दृश्य।

१—पूर्व परिखा।

२—पाश्चात्य परिखा।

३—पूर्व-पार्श्व परिखा

४—पाश्चात्य-पार्श्व-परिखा।

५—नाड़ी का पूर्व मूल।

६— ,, ,, पाश्चात्य मूल।

७—मिश्रित नाड़ी की पूर्व शाखा।

८— ,, ,, ,, पाश्चात्य ,,।

नाड़ी-सूत्रों के जाने का रास्ता है। मस्तिष्क से सहस्रों नाड़ी-सूत्र शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में जाते हैं, जिनके द्वारा उन अंगों की क्रिया होती है। इसी प्रकार अंगों से और चर्म से मस्तिष्क को बहुत से सूत्र जाते हैं। इन सब सूत्रों को जाने के लिये केवल एक ही मार्ग है, जिसके द्वारा वे जा सकते हैं, वह सुषुम्ना है।

अतएव सुषुम्ना को नाड़ी-सूत्रों का एक बंडल कहना चाहिए। नाना प्रकार के अनेक नाड़ी-सूत्रों के सौत्रिक तंतु द्वारा आपस में संगठित हो जाने से यह सुषुम्ना बन जाती है। सूत्रों का काम उत्तेजना का ले जाना है। अतएव सुषुम्ना का कर्म संज्ञासंवहन कहना चाहिए।

सुषुम्ना में तीन प्रकार के सूत्र होते हैं। एक संयोजक सूत्र जो सुषुम्ना के भिन्न-भिन्न भागों को आपस में संयुक्त करता है। दूसरे संचालक सूत्र जो मस्तिष्क से सुषुम्ना में आते हैं और अंत में पूर्व-मूल द्वारा नाड़ी में चले जाते हैं। तीसरे सांवेदनिक सूत्र जो अंगों और चर्म से आकर पाश्चात्य मूल द्वारा सुषुम्ना के भीतर होते हुए मस्तिष्क को जाते हैं। इन सूत्रों के अतिरिक्त सुषुम्ना में धूसर पदार्थ होता है।

जो सूत्र सांवेदनिक होते हैं और सूचनाओं को मस्तिष्क तक ले जाते हैं, वे सुषुम्ना के एक विशेष स्थान पर एक ओर से दूसरी ओर को जाते हैं। इसी कारण दोनों ओर के मस्तिष्क के गोलार्द्ध आपस में मिले रहते हैं। सुख, दुःख, शीतोष्ण इत्यादि की सूचना दोनों ओर एक समान पहुँचती रहती है। इन भिन्न-भिन्न सूत्रों की क्रिया :मालूम करना बड़ा कठिन हो जाता है; क्योंकि भिन्न-भिन्न सूत्रों का भिन्न कार्य है। तो भी प्रयोगों द्वारा वैज्ञानिकों ने इनका

पता लगाया है और अब यह बताया जा सकता है कि कौन सूत्र किस स्थान पर एक ओर से दूसरे ओर को जाते हैं। ये सूत्र भिन्न-भिन्न समूहों में बाँट दिए गए हैं और उनका ठीक-ठीक मार्ग, जिसके द्वारा वे मस्तिष्क तक पहुँचते हैं, मालूम कर लिया गया है।

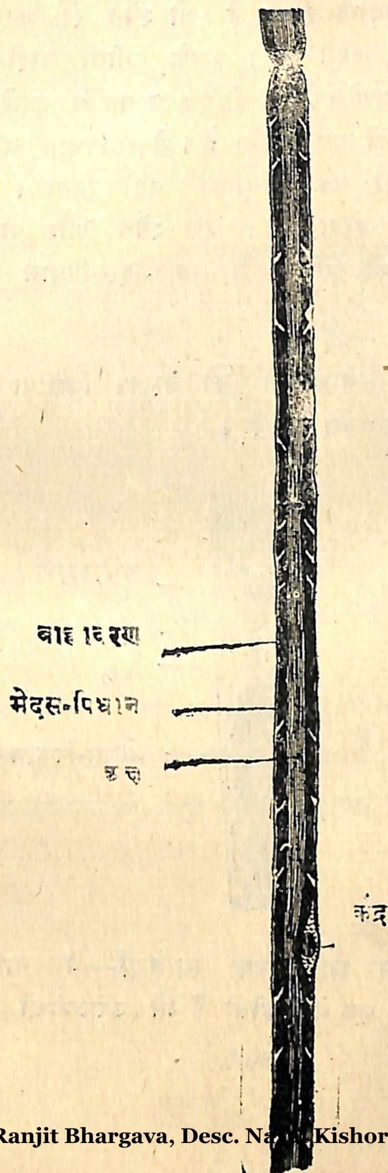
सुषुम्ना से नाड़ियों के ३१ जोड़े निकलते हैं और सारे शरीर में फैलते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क से भी नाड़ियाँ निकलती हैं जिनका पहले उल्लेख हो चुका है। किन्तु हमें देखना है कि ये नाड़ियाँ क्या होती हैं, क्योंकर ये कार्य करती हैं और मस्तिष्क से इनका किस प्रकार संबंध रहता है?

यदि किसी मृतक मनुष्य की देह अथवा किसी पशु के शरीर का व्यवच्छेदन किया जाय तो प्रत्येक मांसपेशी और अंगों में जाती हुई श्वेत, चमकती हुई और बहुत चिकनी बारीक रज्जु के समान कोई वस्तु दिखाई देगी। यदि इनको एक ओर से पकड़कर खींचा जाय तो वे अत्यंत कठिनता से बहुत बल लगाने पर टूटेंगी। इनको नाड़ी कहते हैं।

शरीर का प्रत्येक भाग इनसे भरा हुआ है। चर्म में इनका एक जाल फैला हुआ है। जिस प्रकार रक्तवाहिनी नलिकाओं के भाग होते हैं और प्रत्येक भाग से शाखाएँ निकलती हैं और वे शाखाएँ अंत में अत्यन्त सूक्ष्म केशिकाओं के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, उसी प्रकार ये नाड़ियाँ भी अत्यन्त सूक्ष्म सूत्रों में विभाजित हो जाती हैं। प्रत्येक पेशी के प्रत्येक सूत्र में नाड़ी का एक सूत्र जाता है और मांस-सूत्र की सारी क्रिया इस नाड़ी सूत्र पर निर्भर करती है।

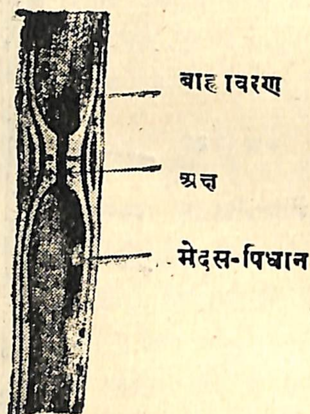
नाड़ियों की रचना—नाड़ियाँ वास्तव में अनेक सूत्रों के

चित्र नं० ८०—नाड़ी-सूत्र ऐसा दर्शक-यंत्र द्वारा दीखता है।



समूह होती हैं। इनके ऊपर एक आवरण रहता है। इसके भीतर एक और आवरण रहता है जो श्वेत रंग का होता है। इसको मेदस-पिधान कहते हैं। इसके भीतर नाड़ी का मुख्य भाग रहता है जो उत्तेजनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता है। इसको अक्ष कहते हैं। मेदस-पिधान नाड़ी के एक ओर से दूसरी ओर तक लगातार नहीं रहता। स्थान-स्थान पर वह अनुपस्थित होता है। अक्ष श्वेत और पारदर्शी होता है। दूसरे प्रकार की नाड़ियों में यह मेदस-पिधान बिलकुल ही नहीं होता।

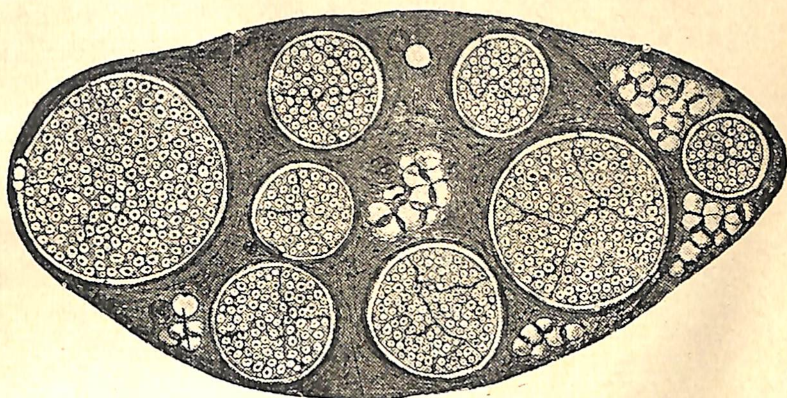
चित्र नं० ८१—नाड़ी-सूत्र को बढ़ाकर दिखाया गया है। मेदस-पिधान अक्ष पर सर्वत्र नहीं है।



संचालक और सांवेदनिक नाड़ियाँ—ये नाड़ियाँ कई प्रकार की होती हैं। एक ऐसी होती हैं जो उत्तेजनाओं को चर्म से

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ९

नाड़ी का चौड़ाई की ओर से परिच्छेद



चित्र से स्पष्ट है कि एक नाड़ी में बहुत से नाड़ी-सूत्रों के बंडल रहते हैं, जिनके ऊपर एक आवरण रहता है। प्रत्येक सूत्र भी एक पतले आवरण के द्वारा दूसरे सूत्रों से भिन्न रहता है।

पृष्ठ-संख्या ३७६

मस्तिष्क को ले जाती हैं। इनको सांवेदनिक कहते हैं। इनका नाम कई बार पहले आ चुका है। दूसरी नाड़ियाँ उत्तेजना को मस्तिष्क से अंगों और चर्म को जाती हैं। ये संचालक कहलाती हैं; क्योंकि पेशियों की गति इन्हीं के द्वारा होती है। अधिकतर नाड़ियाँ मिश्रित होती हैं जिनमें सांवेदनिक और संचालक दोनों प्रकार के सूत्र रहते हैं। यह प्रथम ही बतलाया जा चुका है कि जब सुषुम्ना से नाड़ियाँ निकलती हैं तो वहाँ उनके दो मूल होते हैं—पूर्व मूल और पश्चात् मूल। इन दोनों मूलों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सूत्र होते हैं। पूर्व मूल से केवल संचालक सूत्र आते हैं और पश्चात् मूल द्वारा सांवेदनिक सूत्र सुषुम्ना के भीतर जाते हैं। इन सूत्रों पर, जहाँ ये सुषुम्ना के भीतर प्रवेश करते हैं, एक सेल-गृह होता है जहाँ कुछ सेल एकत्र रहते हैं। इस सेल-गृह और नाड़ी में थोड़ा सा अन्तर होता है।

इस प्रकार जहाँ संचालक सूत्र ऊपर से नीचे को आते हैं वहाँ सांवेदनिक सूत्र नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक टेलीग्राफ का तार किसी डाकखाने को जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक नाड़ी और उसके सूत्रों का सेलों से संबंध रहता है। यदि यह संबंध विच्छिन्न हो जाता है तो नाड़ी के सूत्रों की मृत्यु हो जाती है। नाड़ी का वह भाग, जिसका अब भी किसी प्रकार किसी सेल से संबंध है, जीवित रहता है। सेल नाड़ी का पोषक होता है। जब तक उससे नाड़ी के सूत्रों का पोषण होता रहता है तब तक नाड़ी जीवित रहती है; किन्तु ज्यों ही वह पोषण बन्द हो जाता है त्यों ही नाड़ी का ध्वंस आरम्भ हो जाता है।

नाड़ी का ध्वंस—ध्वंस या अधःपतन का क्रम भी संचालक और सांवेदनिक नाड़ियों में भिन्न होता है। सांवेदनिक नाड़ी

का ध्वंस नीचे से ऊपर की ओर को होता है, किन्तु संचालक नाड़ी में यह घटना ऊपर से नीचे की ओर होती है। नाड़ी के जिस भाग का ध्वंस होता है उसके अक्ष के तनिक-तनिक से टुकड़े हो जाते हैं। मेदस-पिधान छोटे-छोटे बिंदुओं के रूप में परिवर्तित हो जाता है और बाह्यावरण के केन्द्रों की संख्या बढ़ जाती है। नाड़ी के कटने के तीन या चार दिन के पश्चात् सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा नाड़ी में ये परिवर्तन देखे जा सकते हैं। सांवेदनिक नाड़ी का कटने से ऊपर की ओर को ध्वंस होता है, संचालक नाड़ी का ध्वंस कटने के स्थान से नीचे की ओर को होता है।

सांवेदनिक नाड़ी के ध्वंस में एक भेद होता है। सुषुम्ना के पास स्थित सेल-गृह से यदि नाड़ी नीचे कटी है तो नाड़ी का ध्वंस केवल सेल-गृह तक होगा; सेल-गृह से ऊपर का भाग ठीक रहेगा। यदि नाड़ी का सेल-गृह के ऊपर काटा गया है तो नाड़ी उस स्थान से सुषुम्ना तक नष्ट होगी। इस सबका अर्थ यह है कि जिस भाग का सेल के साथ सम्बन्ध रहेगा वह जीवित रहेगा, दूसरा भाग नष्ट हो जायगा।

यह लंबी-लंबी नाड़ी-सेलों के लंबे-लंबे हाथ समझने चाहिए। एक छोटा सा सेल, जो नेत्रों द्वारा विना किसी यंत्र की सहायता के देखा भी नहीं जा सकता, इतने लम्बे-लम्बे सूत्र भेजता है जो कई फ़ीट और कभी-कभी कई गज़ लंबे होते हैं और एक छोटा सा सेल इतनी दूरी पर स्थित इतने लंबे सूत्र का पोषण करता है। यदि सूत्र का किसी प्रकार सेल से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाय या सेल ही नष्ट हो जाय तो सारी नाड़ी का नाश हो जाता है।

यदि हम किसी नाड़ी को काटकर उसका कुछ भाग निकाल दें तो इससे उन पेशियों और अंगों को, जिनसे उन नाड़ियों का

सम्बन्ध है, क्रिया का ह्रास हो जाता है। किंतु कुछ दिन के पश्चात् उनकी कर्मशक्ति फिर वापस लौट आती है और वे फिर पहले की भाँति कर्म करने लगते हैं।

स्वपुनरुत्पत्ति (Autoregeneration)—इसका कारण है सूत्रों की स्वपुनरुत्पत्ति—जो सूत्र नष्ट हो गए थे, वे फिर से उत्पन्न हो जाते हैं और मस्तिष्क का अंग के साथ संबंध स्थापित हो जाता है। इन नए सूत्रों की सृष्टि ऊपर से नीचे की ओर को होती है। कटी हुई नाड़ी का जो सिरा ऊपर की ओर है अथवा यों कहिए कि मस्तिष्क के सबसे अधिक पास है वहाँ से नए सूत्र बनने आरम्भ होते हैं और वे कटे हुए नीचे के सिरे की ओर जाते हैं। इस प्रकार नाड़ी के बीच का भाग, जो काटकर निकाल दिया गया है, पूरा हो जाता है।

इस मत पर बहुत कुछ भेद रहा है और अब भी है। एक ओर के विद्वानों का कहना है कि सूत्र ऊपर से नीचे की ओर को बनते हैं। अर्थात् उनकी उत्पत्ति नाड़ी के उस भाग से आरंभ होती है जो नाड़ी के सेल के सबसे अधिक समीप है। वहाँ से आरम्भ होकर नाड़ी-सूत्र नीचे की ओर जाते हैं और अन्त में नाड़ी के प्रांतस्थ भाग से मिल जाते हैं। जो सूत्र प्रथम बनते हैं, वे बहुत बारीक और सूक्ष्म होते हैं। आगे चलकर ये सूत्र मोटे हो जाते हैं। दूसरे पक्ष का कहना है कि सूत्र नीचे से ऊपर की ओर को उगते हैं। अर्थात् पहले कटी हुई नाड़ी के प्रांतस्थ भाग में नए सूत्रों की सृष्टि होती है; उसके पश्चात् वे ऊपर की ओर को बढ़कर कटी हुई नाड़ी के दूसरे भाग से मिल जाते हैं।

आजकल अधिक विद्वान् प्रथम मत का समर्थन करते हैं और प्रयोगों द्वारा जो परिणाम निकलते हैं उनसे भी उसी मत की

पुष्टि होती है। भ्रूणशास्त्रज्ञों ने देखा है कि भ्रूण में नाड़ी के प्रथम सूत्र मस्तिष्क की ओर से अंग की ओर को उगते हैं। इस प्रकार नाड़ी की ऊपर से नीचे की ओर को सृष्टि होती है; किंतु दूसरे मत को माननेवाले कहते हैं कि वास्तव में वह सूत्र तो पूर्व ही से रहते हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों भ्रूण के शरीर में वृद्धि होती है त्यों-त्यों ये सूत्र भी अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। इनकी लम्बाई और मोटाई अधिक हो जाती है।

यद्यपि आजकल भी कुछ लोग इस मत को माननेवाले हैं, किंतु अधिकतर विद्वान् यही मानते हैं कि नाड़ी की पुनरुत्पत्ति ऊपर से नीचे की ओर को होती है। इस प्रकार कटी हुई नाड़ी का नष्ट भाग फिर से बन जाता है और नाड़ी का कर्म फिर पूर्ववत् हो जाता है।

नाड़ी के कर्म का अन्वेषण—भिन्न-भिन्न नाड़ियों का भिन्न-भिन्न कार्य होता है। कुछ हमको ज्ञान कराती हैं, जैसे चक्षु, कर्ण, नासिका इत्यादि की नाड़ियाँ। दुःख, शीत, उष्णता का ज्ञान भी इन्हीं के द्वारा होता है। इनको सांवेदनिक कहा गया है। संचालक वे हैं जो मस्तिष्क से अंगों और पेशियों को उत्तेजना ले जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नाड़ियाँ ऐसी होती हैं जिनकी उत्तेजनाओं से अंगों की क्रिया बढ़ जाती है, कुछ की उत्तेजना से क्रिया घट जाती है। कुछ नाड़ियाँ पोषक होती हैं। यदि उनको काट दिया जाय तो अंग क्षीण होने लगेगा और अंत में उसका नाश हो जायगा। कुछ विद्युत्-नाड़ियाँ होती हैं। यह एक विशेष प्रकार की मछलियों में पाई जाती हैं। इनकी क्रिया से शरीर से विद्युत्-धारा का प्रवाह होने लगता है। जिन मछलियों में ये नाड़ियाँ होती हैं, वे इनके द्वारा अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा करती हैं।

नाड़ियों के कर्म की भिन्नता के कारण वैज्ञानिकों को उनके कर्म का अन्वेषण करना पड़ता है जिससे वह यह ज्ञान प्राप्त कर सके कि कौन सी नाड़ी का क्या कर्म है । नाड़ी का कर्म मालूम करने के वे ही दो उपाय हैं जो मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों के कर्म को मालूम करने के लिये प्रयोग किए गए हैं ; एक नाड़ी के किसी भाग को काट देना और दूसरा नाड़ी को उत्तेजित करना ।

इस प्रकार यदि किसी अंग की संचालक नाड़ी को काट दिया जाय तो वह अंग अपनी क्रिया करना बन्द कर देगा, उसका संचालन जाता रहेगा । उस अंग का केंद्र चाहे जितना काम करे, किंतु अंग बिलकुल शिथिल रहेगा । अब यदि इस कटी हुई नाड़ी के उस भाग को, जिसका पेशी अथवा अंग के साथ संबंध है, विद्युत् द्वारा उत्तेजित किया जायगा तो अंग अथवा पेशी तुरन्त कर्म करने लगेगी । यदि नाड़ी के दूसरे सिरे को, जिसका मस्तिष्क से संबंध है, उत्तेजित किया जायगा तो उसका कुछ भी परिणाम न निकलेगा । किन्तु यदि नाड़ी सांवेदनिक है तो उत्तेजना से हमको दुःख, शीत, उष्णता इत्यादि का ज्ञान होने लगेगा । यदि सांवेदनिक नाड़ी के दूसरे सिरे को, जो अंग को जा रहा है, उत्ते-जित किया जायगा तो उससे कुछ भी न होगा ।

इसी प्रकार दूसरी नाड़ियों को भी समझना चाहिए । यदि संचालक नाड़ियों का नाश कर दिया जायगा तो उन अंगों की, जिनके साथ उन नाड़ियों का संबंध है, क्रिया जाती रहेगी । प्रत्येक नाड़ी को काटने से उसके दो भाग हो जाते हैं—एक प्रांतस्थ और दूसरा मध्यस्थ । मध्यस्थ भाग वह है जिसका मस्तिष्क के साथ संबंध रहता है और प्रांतस्थ भाग वह है जो अंग के साथ संयुक्त रहता है । नाड़ी को काट देने के पश्चात् प्रांतस्थ भाग को

उत्तेजना से यदि अंग कर्म करने लगें तो नाड़ी को संचालक समझना चाहिए, अन्यथा वह सांवेदनिक या किसी अन्य प्रकार की नाड़ी है। इसके विपरीत सांवेदनिक नाड़ी के मध्यस्थ भाग की उत्तेजना से किसी प्रकार के ज्ञान का अनुभव होने लगेगा, किन्तु उसके प्रांतस्थ भाग को उत्तेजित करने से कुछ भी फल न निकलेगा।

ऊपर कई बार कहा जा चुका है कि नाड़ी के द्वारा अंगों और पेशियों में जब उत्तेजना पहुँचती है तो अंगों की क्रिया होने लगती है। प्रश्न यह उठता है कि यह उत्तेजना किस प्रकार की है? इसका स्वभाव और स्वरूप क्या है? क्या उत्तेजना से कोई रासायनिक वस्तु अंगों में पहुँच जाती है जिसके कारण क्रिया होने लगती है अथवा कोई ऐसा भौतिक परिवर्तन होता है जिसका परिणाम वह कर्म होता है?

उत्तेजना का स्वरूप—उत्तेजना के स्वरूप का अभी तक ठीक पता नहीं चला है। हम केवल इतना ही जानते हैं कि जब नाड़ी को किसी प्रकार उत्तेजित किया जाता है तो वह उत्तेजना नाड़ी के अणुओं में कुछ हलचल उत्पन्न कर देती है और यही हलचल नाड़ी के अन्त तक यात्रा करती हुई पेशी और अंग के अन्तस्थल में पहुँच जाती है। नाड़ी के तन्तुओं में कोई विशेष रासायनिक परिवर्तन नहीं होता। उसके कुछ प्रोटीन अवयवों का नाश अवश्य होता है; किन्तु इतना कम कि वह गणना करने योग्य नहीं है। कई दिन तक बराबर नाड़ी को उत्तेजित करने पर भी वैज्ञानिक लोग नाड़ी के नाश से उत्पन्न हुए पदार्थों की कोई विशेष मात्रा प्राप्त नहीं कर सके। नाड़ी के ताप में भी कोई वृद्धि नहीं पाई गई। विद्युत्-परिवर्तन अवश्य पाया जाता

है, किंतु उससे यह नहीं समझा जा सकता कि उत्तेजना के साथ विद्युत्-धारा नाड़ी के एक ओर से दूसरी ओर को जाती है। किंतु इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि नाड़ी और नाड़ी-मंडल जिस पदार्थ के बने हुए हैं वह उत्तेजना बहुत ही शीघ्र ग्रहण करनेवाला है। शरीर के चर्म पर तनिक से एक भुनगे के बैठते ही उस स्थान की नाड़ी में उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है और वह अणुओं का विप्लव मस्तिष्क तक यात्रा कर जाता है। इसी भाँति यदि पाँव के तलवे पर कोई पर या पिन धीरे से फेरी जाती है तो उससे उत्पन्न हुई उत्तेजना अत्यंत शीघ्रता से मस्तिष्क तक यात्रा करती है और वहाँ जाकर संचालक नाड़ियों में कुहराम मचा देती है। यदि शरीर के समस्त रक्त में कुचले के सत की दो रत्ती पहुँच जाती है तो शरीर के समस्त नाड़ी-मंडल में घोर अराजकता फैल जाती है, जिससे शरीर की सारी पेशियाँ कंपनाएँ करने लगती हैं।

सब कामों को ठीक प्रकार से करने के लिये और कर्मों का इच्छित फल पाने के लिये अथवा आवश्यकता पड़ने पर बिना समय नष्ट किए हुए अत्यंत शीघ्रता से कर्म करने के लिये यह आवश्यक है कि शरीर का नाड़ी-मंडल उत्तेजित्व के गुण से पूर्णतया युक्त हो। हमारे सारे कर्म इसी पर निर्भर करते हैं। इस गुण के नष्ट हो जाने पर हमारे कर्म भी अत्यंत शिथिल हो जाते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे तनिक सी ही बात से उत्तेजित हो उठते हैं, किंतु कुछ पर अधिक प्रभाव नहीं होता। यदि मनुष्यों के एक समूह के आगे एक गोला अचानक छोड़ा जाय तो उनमें से कुछ ऐसे होंगे जो एकदम उछल पड़ेंगे। दूसरों को हलका-सा धक्का लगेगा। कुछ पर बहुत कम प्रभाव

होगा और वे उससे अधिक पीड़ित नहीं होंगे। वे सब भिन्नताएँ नाड़ी-मंडल की उत्तेजना-ग्रहण करने की शक्ति की भिन्नता पर निर्भर करती हैं। जो बहुत अधिक प्रभावित होते हैं उनका नाड़ी-मंडल बहुत जल्दी उत्तेजना ग्रहण करता है और उसी के अनुसार पेशियों से कार्य करवाता है। जिन पर कुछ प्रभाव नहीं होता, उनका नाड़ी-मंडल शिथिल है। उसमें बाह्य उत्तेजना ग्रहण करने की शक्ति नहीं है और इस कारण वह कर्म नहीं करवा सकता।

जो मनुष्य बहुत अधिक प्रभावित होते हैं, उनके नाड़ी-मंडल में कुछ विकार नहीं है; किंतु उसमें कर्म करने की अधिक और उत्तम शक्ति है। बहुधा ऐसे मनुष्यों में विचार-शक्ति भी अधिक होती है।

जो मनुष्य किसी नाड़ी के रोग से पीड़ित होते हैं या अन्य रोगों से दुर्बल हो जाते हैं, उनका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और सारे शरीर के नाड़ी-मंडल में भी दुर्बलता आ जाती है। उनका नाड़ी-मंडल बहुत ही उत्तेजित हो जाता है। यह मस्तिष्क की उत्तम शक्ति का सूचक नहीं है, किन्तु जो मनुष्य उत्तम स्वास्थ्य रखते हुए भी, कोमल नाड़ी-मंडल से संयुक्त होते हैं उनमें विचार-शक्ति की अवश्य ही अधिक मात्रा होती है।

उत्तेजना की गति—उत्तेजनाएँ नाड़ियों द्वारा अत्यंत शीघ्रता से यात्रा करती हैं। किसी अंग पर तनिक सा तिनका पड़ते ही तुरत मस्तिष्क को उसका ज्ञान हो जाता है। विद्युत् की भाँति इसकी गति होती है। नाड़ियों में उत्तेजना की गति मालूम करने के लिये बहुत से प्रयोग किए गए, किंतु उनका कुछ परिणाम न निकला। अन्त में प्रोफेसर हेमहोल्ज़ ने एक संचालक नाड़ी के द्वारा गति का पता लगाया। उसने एक जंतु के शरीर से एक

पेशी को उसकी नाड़ी के साथ अलग कर लिया। इस प्रकार नाड़ी और पेशी का सम्बन्ध अविच्छिन्न रहा। इस नाड़ी के द्वारा पेशी में विद्युत्-उत्तेजनाएँ पहुँचाई गईं। प्रथम उत्तेजना देने के लिये नाड़ी का एक ऐसा स्थान चुना गया जो पेशी के बहुत ही पास था। उस स्थान पर विद्युत् का तार लगाया गया जिससे पेशी में उत्तेजना पहुँचकर उसमें संकोच होने लगा। उत्तेजना पहुँचाने और संकोच आरम्भ होने का समय लिख लिया गया। दूसरी बार नाड़ी के बिलकुल दूसरे सिरे से, जो पेशी से बहुत दूर था, उत्तेजना दी गई और पेशी के संकोच का समय फिर देखा गया। प्रथम और दूसरे संकोच के समय का अंतर वह समय है जो उत्तेजना को नाड़ी के सिरे से, जहाँ पर दूसरी बार उत्तेजना दी गई थी, प्रथम उत्तेजना के स्थान तक आने लगा है। इस प्रकार नाड़ी की लंबाई जिसके द्वारा उत्तेजना ने यात्रा की थी और वह समय जितने समय में यात्रा की थी दोनों मालूम हो गए। इससे सहज में गति निकाल ली गई।

इस प्रकार बहुत से जंतुओं में और मनुष्यों में उत्तेजना की गति मालूम की गई है। प्रयोगों के अनुसार यह गति मेंढक में ९० फुट प्रति सेकंड और मनुष्य में ३०० से ४०० फुट प्रति सेकंड पाई गई है। किसी-किसी जल-जंतु में यह गति केवल २$\frac{1}{2}$ इंच प्रति सेकंड है। किंतु उष्णता से इस गति में हेरफेर पड़ जाता है। यदि मेंढक को ९६° फेरनहीट तक गरम किया जाय तो उसमें उत्तेजना की गति बहुत बढ़ जायगी।

यह उत्तेजना सामान्य अवस्थाओं में केवल एक ही ओर को जाती है; संचालक नाड़ियों में अंग की ओर और सांवेदनिक नाड़ियों में मस्तिष्क की ओर। किंतु कुछ प्रयोगों में यह देखा

गया कि उत्तेजना बिलकुल दूसरी ओर को भी जा सकती है। कुछ लोगों का कथन है कि यदि दृष्टिनाड़ी को, जो नेत्रों में आती है, कर्ण में लगा दिया जाय और कर्ण की नाड़ी को नेत्रों में लगा दिया जाय तो हम बिजली की चकाचौंध को सुनने लगेंगे और बादल की गड़गड़ाहट को देखने लगेंगे। यह प्रयोग वास्तव में किया नहीं जा सकता, किंतु कुछ इसके समान ही प्रयोग किए जा सकते हैं। हृदय में एक नाड़ी जाती है जो उसकी गति को बढ़ाती है या धीमा करती है। नेत्र को एक दूसरी नाड़ी जाती है जो नेत्र के तारे को चौड़ा देती है इन दोनों नाड़ियों को बीच से काट दिया गया। हृदय की नाड़ी के मध्यस्थ प्रांत को नेत्रों की नाड़ी के प्रांतस्थ भाग से जोड़ दिया गया। कुछ दिनों के पश्चात् नाड़ी के मूल पर (जो हृदय की नाड़ी का मूल था) उत्तजना दी गई जिससे नेत्र का तारा फैल गया। इससे यह पता लगता है कि नाड़ी केवल एक तार की भाँति है जिसके द्वारा चाहे जैसा संदेशा भेजा जा सकता है। उत्तेजना का स्वरूप एक समान है और उसका परिणाम भी प्रत्येक स्थान में समान ही निकलेगा। भिन्नता केवल उत्तेजना भेजनेवाले और ग्रहण करनेवाले केंद्र पर निर्भर करती है।

मेंढक की जंघा में एक पेशी होती है जिसको ग्रेसिलिस Gracilis) कहते हैं। इसके दो भाग होते हैं जिनके बीच में एक झिल्ली रहती है। दोनों भागों को एक ही नाड़ी की दो शाखाएँ जाती हैं। इस पेशी के केवल एक ही भाग को यदि उत्तेजित किया जाय तो उससे दूसरा भाग भी उत्तेजित हो जाता है। यह प्रयोग भी यही बताता है कि उत्तेजना कभी-कभी दोनों ओर को जा सकती है।

इसी प्रकार और भी प्रयोग किए गए हैं। एक चूहे की पूँछ का अंतिम भाग काटकर उसकी नाक पर इस प्रकार लगा दिया गया कि पूँछ की नोक ऊपर को रहे और जड़ की ओरवाला भाग चर्म में लगा रहे। कुछ दिन के पश्चात् जब पूँछ जम गई तब उसको बीच से उत्तेजित किया गया। किन्तु उत्तेजना पूँछ के सिरे की ओर जाने के स्थान में उसकी जड़ की ओर गई।

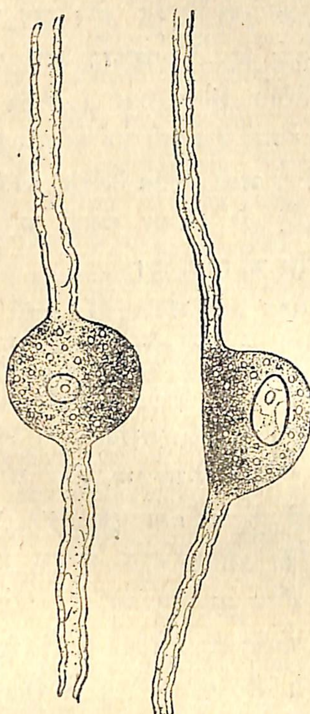
इन सब प्रयोगों से भली भाँति विदित होता है कि कभी-कभी उत्तेजना नाड़ी में दोनों ओर को जा सकती है, किंतु साधारणतया उसकी गति एक ही ओर को होती है।

नाड़ी-सेल—समस्त नाड़ी-मंडल दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक मध्यस्थ और दूसरा प्रांतस्थ। मध्यस्थ में बृहत् और लघु मस्तिष्क और सुषुम्ना सम्मिलित हैं और प्रांतस्थ में नाड़ियाँ हैं। यह सारा मंडल नाड़ी-सेल और सूत्रों का बना हुआ है। सेलों को तार-घर समझना चाहिए और नाड़ियों को संदेशे ले जानेवाले के तार। अतएव मुख्य वस्तु सेल ही है। मस्तिष्क में सेलों की मात्रा बहुत अधिक है और सूत्र बहुत कम हैं। प्रांतस्थ मंडल मुख्यतया नाड़ियों अथवा सूत्रों का बना हुआ है। ये सूत्र अथवा नाड़ीयाँ उन सेलों से निकलती हैं जो मस्तिष्क और सुषुम्ना में स्थित हैं। ये सेल प्रांतस्थ भाग में भी पाए जाते हैं जहाँ वह नाड़ियों में छोटी-छोटी ग्रन्थि के रूप में स्थित हैं और गण्ड (Ganglia) कहलाते हैं। इस प्रकार ये नाड़ियाँ नाड़ी-सेलों की बहुत लंबी-लंबी बाहुएँ हैं जिनके द्वारा साम्राज्य के अंतिम भाग तक उनकी पहुँच है।

ये नाड़ी-सेल आकार में और स्वरूप में बहुत भिन्न हैं। बृहत् मस्तिष्क के सेलों का आकार लघु मस्तिष्क के सेलों से भिन्न

है और अन्य भाग के सेल इन दोनों से भिन्न हैं। कुछ सेलों के

चित्र नं० ८२—द्वि-ध्रुवीय नाड़ी-सेल।

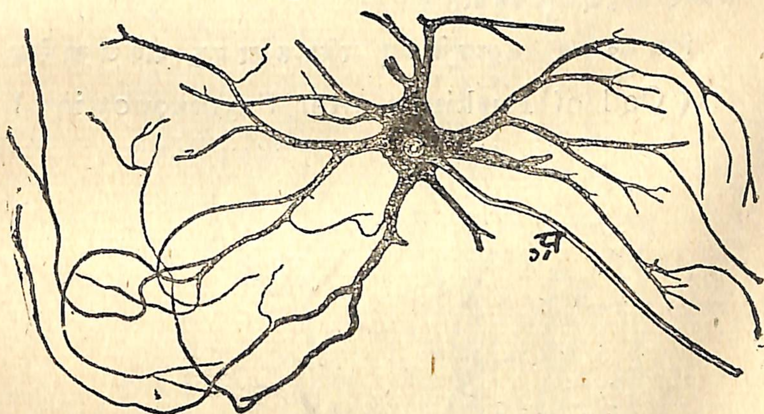


दोनों ओर से सूत्र निकलते हैं। किन्हीं के शरीर से अनेक सूत्र निकलते हैं। सबसे साधारण वे सेल हैं जिनके दोनों ओर से सूत्र निकलते हैं। इनको द्वि-ध्रुवीय (Bipolar) कहते हैं। कभी-कभी इनके रूप में कुछ परिवर्तन होकर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो इनसे केवल एक ही सूत्र निकल रहा है। किन्तु इस एक सूत्र के आगे चलकर दो भाग हो जाते हैं। वास्तव में

सेल से दो सूत्र निकले थे, किन्तु कुछ दूर तक उन दोनों के मिल जाने से केवल एक ही सूत्र रह गया।

सबसे अधिक संख्या बहु-ध्रुवीय (Multipolar) सेलों की है। सेलों के कोणों से शाखाएँ निकलती हैं। इन शाखाओं का छोटी शाखाओं में भाग होता है जिससे फिर शाखाएँ निकलती हैं। इस प्रकार एक वृक्ष की भाँति एक मूल शाखा से अनेक शाखाएँ निकलती दिखाई देती हैं। प्रत्येक सेल अत्यन्त सूक्ष्म सूत्रों का एक समूह बना देता है। किंतु उसकी

चित्र नं० ८३—बहु-ध्रुवीय नाड़ी-सेल।



अ—अक्ष

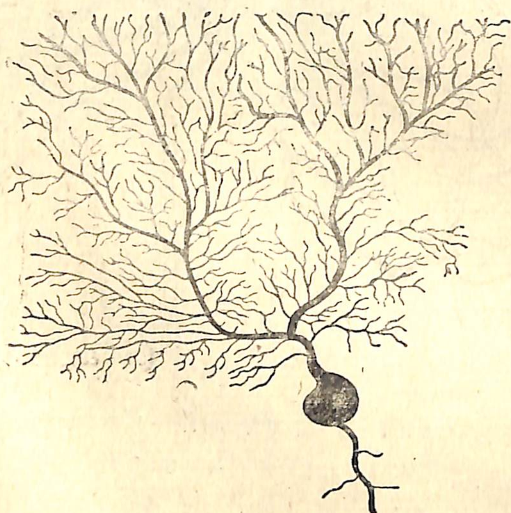
(Max Schultza)

एक शाखा ऐसी होती है जो इस भाँति अंत नहीं होती। वह सीधी बढ़ती हुई चली जाती है और अन्त में किसी नाड़ी का अक्ष बनाती है। यह मुख्य शाखा भी थोड़ी बहुत पतली-पतली

शाखाएँ इधर-उधर को देती चली जाती हैं। आगे चलकर इस पर मेदस-विधान चढ़ जाता है और यह एक नाड़ी का सूत्र बन जाता है। ऐसे ही बहुत से सूत्रों के मिलने से एक नाड़ी तैयार हो जाती है। कभी-कभी मेह सूत्र भी अनेक शाखाओं में विभक्त होकर दूसरे सेल के चारों ओर फैल जाते हैं। नाड़ियों का भी अन्त इसी प्रकार होता है। अंगों में पेशियों के अन्तस्थलों में अनेक सूत्रों में विभक्त होकर नाड़ी अन्त हो जाती है। सेल की जो शाखा नाड़ी बन जाती है उसे 'अक्षन' कहते हैं, और दूसरी शाखाओं को 'दंद्र' कहते हैं। अक्षन, दंद्र और नाड़ी-सेल तीनों मिलकर 'नाड-याणु' कहलाते हैं।

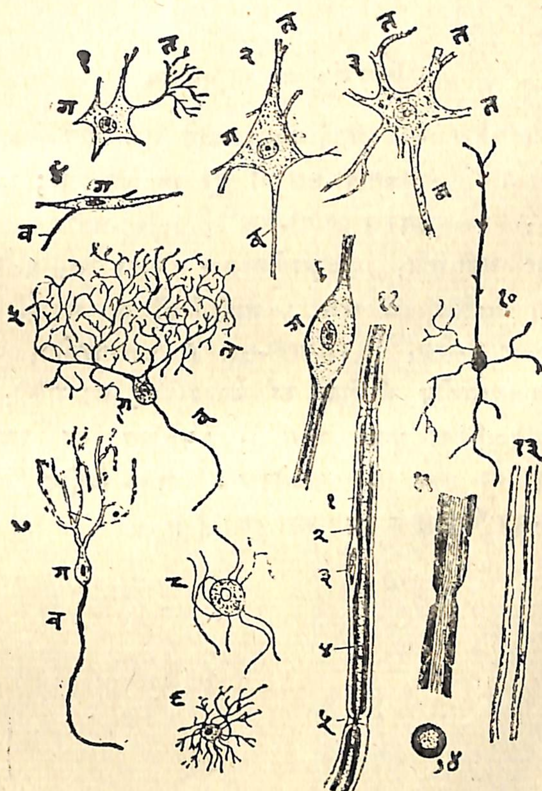
चित्र नं० ८४—मनुष्य के लघु मस्तिष्क का एक पर्किंजे का सेल

(Cell of Purkinje: after Szyomonowiez)



बृहत् मस्तिष्क के सेलों का आकार मीनारों को भाँति होता है। वे बहुकोणी होते हैं। मस्तिष्क के जो संचालक प्रांत हैं उनमें

चित्र नं० ८९—नाड़ी-सेल और नाड़ी-सूत्र।

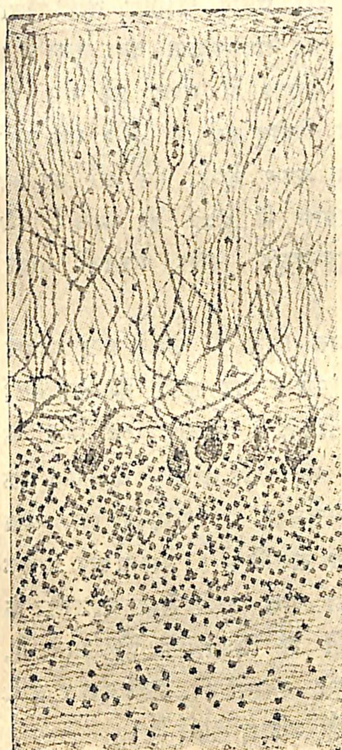


(हमारे शरीर की रचना से)

चित्र नं० ८९ का परिचय

ग=नाड़ी-सेल का गात्र; न=छोटे-छोटे सूत्र नाड़ी-सेल के पास ही अंत हो जाते हैं; व=नाड़ी-सूत्र जो दूर तक जाता है; १=सूत्रोदय नाड़ी-सेल; २=सू-प्राकार नाड़ी-सेल; ३=बहु-ध्रुवीय नाड़ी-सेल; ४=तर्कांकार नाड़ी-सेल; ५=पुरानीन्तकार नाड़ी-सेल; ६=द्वि-ध्रुवीय नाड़ी-सेल; ७=सेल; ८ और ९=नाड़ी-सेलों को सहारा देनेवाली सेलें; १०=नाड़ी-सेल; ११=नाड़ी-सूत्र (१=बाह्यकोष; २=मेदस-पिधान; ३=बाह्यकोष की सेल का चैतन्य-केन्द्र या मींगी; ४=सूत्र का अन्त; ५=मिचा हुआ भाग); १२=सूत्र का अन्त अनेक सूक्ष्म सूत्रों से बना है; १३=मेदस-पिधान-विहीन नाड़ी-सूत्र; १४=नाड़ी-सूत्र चौड़ाई के साथ कटा हुआ है।

चित्र नं० ८६—
लघु मस्तिष्क के वल्क की सूक्ष्म रचना (After Santey)



(हमारे शरीर की रचना से)

चित्र नं० ८७—
बृहत् मस्तिष्क के चक्रांग की सूक्ष्म रचना (After Meyners)



(हमारे शरीर की रचना से)

इन सेलों की विशेषकर अधिकता पाई जाती है। इन सेलों का शिखर ऊपर की ओर रहता है और इनके नीचे से अक्तन निकलता है। लघु मस्तिष्क के सेलों का आकार एक सेब के समान होता है जिसके ऊपर से अनेक दन्द्र निकलते दिखाई देते हैं और नीचे से अक्तन निकलता है।

सारा नाड़ी-मंडल इन्हीं नाड्याणुओं का बना हुआ है जो आपस में एक संयोजक वस्तु, जिसको नाड्याश्रय (Neuroglia) कहते हैं, के द्वारा मिले हुए हैं। इस प्रकार असंख्य नाड़ी-सेलों और उनकी शाखाओं द्वारा मनुष्य का नाड़ी-मंडल बना हुआ है। बहुत स्थानों में ये सेल अधिक संख्या में एकत्र हो गए हैं और उनका सम्बन्ध शरीर के किसी विशेष कर्म से है। गत पृष्ठों में हार्दिक-केन्द्र, श्वास-केन्द्र अथवा अन्य केन्द्रों का जो उल्लेख हुआ है वे इन्हीं सेलों के एक स्थान में एकत्र हो जाने से बने हैं। प्रत्येक सेल-समूह अपने सूत्र-समूह द्वारा, जिसको नाड़ी कहा जाता है, कर्म को पूरा करता है।

अनेक सेल जो पास-पास स्थित होते हैं उनके दन्द्र आपस में उसी भाँति मिले रहते हैं जिस भाँति दो वृक्षों की टहनियाँ और पत्तियाँ आपस में मिली रहती हैं। अर्थात् एक सेल के दन्द्र दूसरे सेल के दन्द्रों से संयुक्त नहीं हो जाते ; वे केवल एक दूसरे के सन्निकट रहते हैं जिससे उत्तेजना या सूचना एक सेल के दन्द्रों से दूसरे सेल के दन्द्रों में जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक नाड्याणु स्वतन्त्र है। प्रत्येक सेल का अक्ष दूसरे सेल के दन्द्रों के पास पहुँचकर अनेक सूक्ष्म शाखाओं में विभाजित हो जाता है, जो दन्द्रों के साथ मिल जाती है। ऐसे स्थानों को, जहाँ एक सेल के अक्तन और दूसरे सेलों के दन्द्र मिलते हैं, संगम कहते हैं।

चित्र नं० ८८—संचालक सूत्रों का चित्र जिसके द्वारा मस्तिष्क से उत्तेजनाएँ अंगों को जाती है।



म. स=मस्तिष्क सेल

म. स.सू=मस्तिष्क सेल-सूत्र

अ. अ. से=सुषुम्ना के अग्रिम शृंग सेल

प. अ. से=पश्चिम शृंग सेल

म=मांसपेशी

सांवेदनिक और संचालक दो प्रकार की नाड़ियाँ पहले ही बताई जा चुकी हैं। हमको देखना है कि इनके द्वारा किस प्रकार मस्तिष्क से निर्दिष्ट स्थान तक उत्तेजना पहुँचती है। सांवेदनिक मार्ग की अपेक्षा संचालक मार्ग अधिक सुगम होता है। अतएव प्रथम उसी को बताने का उद्योग किया गया है।

प्रत्येक कार्य करने की इच्छा प्रथम मस्तिष्क में उत्पन्न होती है। वहाँ से फिर सेलों के सूत्रों द्वारा सुषुम्ना में पहुँचती है। मस्तिष्क के सेल-सूत्र सुषुम्ना में पहुँचकर अत्यन्त सूक्ष्म शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं और वहाँ सुषुम्ना के सेलों के दन्द्रों से मिल जाते हैं। वहाँ से दूसरे सेल-सूत्र आरम्भ होते हैं जो नाड़ियों में होते हुए मांस-पेशियों में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार उत्तेजना प्रथम सूत्रों द्वारा सुषुम्ना तक पहुँचती है और वहाँ से दूसरे सूत्रों द्वारा पेशी में पहुँचकर उससे काम करवाती है। साथ के चित्र में यही दिखाया गया है। सबसे ऊपर जो सेल दिखाई देता है वह मस्तिष्क का सेल म० से० है जहाँ से उत्तेजना आरम्भ होती है। इस सेल के नीचे से अक्षन निकलता है और दूसरे कोनों से दन्द्र निकलते हैं। अक्षन मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों में होता हुआ सुषुम्ना के पश्चात् शृंग सेलों के दन्द्रों के पास पहुँचकर कई भागों में विभक्त हो जाता है। अतएव अक्षन द्वारा यहाँ तक उत्तेजना पहुँच जाती है, यहाँ पश्चात् शृंग सेलों से सुषुम्ना के पूर्व शृंग सेलों तक उत्तेजना ले जानेवाला एक दूसरा सूत्र है। पूर्व शृंग सेलों से एक तीसरा ही सूत्र मांस-पेशी तक उत्तेजना ले जाता है।

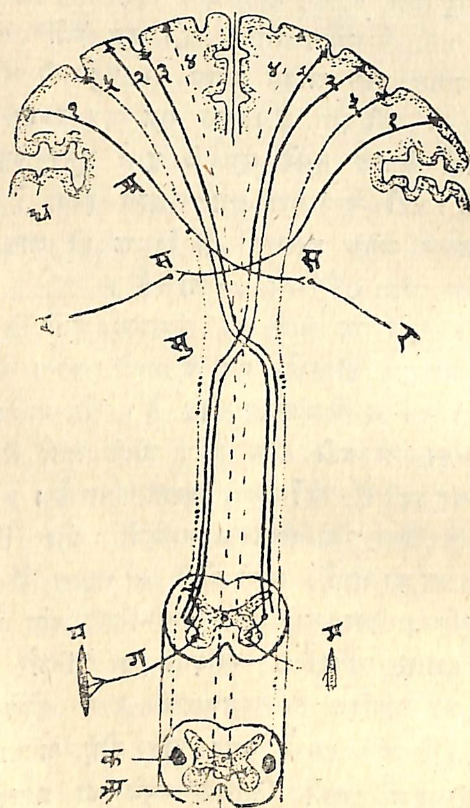
इस प्रकार उत्तेजना को अपने अंतिम निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचानेवाला केवल एक सूत्र नहीं है। जिस प्रकार पहले समय में दूर के स्थानों को डाक ले जाने का प्रबन्ध होता था, उसी भाँति

उत्तेजना के अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने का मार्ग है। जब डाक को बहुत दूर भेजना होता था या किसी यात्री को जाना होता था तो नियत स्थानों पर गाड़ी के घोड़े बदलते रहते थे। प्रथम पड़ाव पर पहुँचकर पहले घोड़े छोड़ दिए जाते थे और दूसरे घोड़ों को गाड़ी में जोता जाता था। इस भाँति कई बार घो बदलने के पश्चात् डाक अंतिम स्थान पर पहुँचती थी। उत्तेजना के मार्ग की भी यही दशा है। एक सूत्र एक स्थान तक उसे ले जाता है। वहाँ से वह दूसरे सूत्र के द्वारा दूसरे पड़ाव तक ले जाई जाती है। वहाँ से तीसरा सूत्र आरम्भ होता है जो अन्तिम स्थान पर जाकर अनेक शाखाओं में विभक्त हो जाता है। इस प्रबन्ध को System of Relays कहते हैं।

सांवेदनिक सूत्रों का मार्ग इन संचालक सूत्रों से भी अधिक टेढ़ा और घुमावदार होता है; क्योंकि उनमें सुषुम्ना के बाहर भी एक या इससे अधिक सेल-स्टेशन होते हैं। जो नाड़ियाँ अंगों को जाती हैं, उनका भी यही हाल है। उनके मार्ग में इनसे भी अधिक चुंगीघर पड़ते हैं, जहाँ उनको ठहरना पड़ता है।

हम सांवेदनिक और संचालक नाड़ियों और क्रियाओं का भिन्न-भिन्न उल्लेख कर रहे हैं, मानो दोनों का आपस में कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं है। किसी-किसी अंग का संचालन बहुत कुछ हमारी सांवेदनिक नाड़ियों पर निर्भर करता है। कम-से-कम जो प्रतिदिन के साधारण काम होते हैं वे तो इसी प्रकार होते हैं। हमारे ऊपर यदि कोई आक्रमण करता है तो तुरन्त ही हम उसको निवारण करने का प्रयत्न करते हैं। हम पर यदि कोई ढेला फेंकता है तो हम अपनी रक्षा करते हैं। हमारे ये कर्म सांवेदनिक नाड़ियों की क्रिया ही का फल है।

चित्र नं० ८६—गात-पथ।



(हमारे शरीर की रचना से)

चित्र नं० ८६ का परिचय

ध=बृहत् मस्तिष्क का दूसरा भाग ; श्व=श्वेत भाग ;

१=ये सूत्र गति-क्षेत्र से मस्तिष्क नाड़ियों के उत्पत्ति-स्थानों तक (स) जाते हैं, जो मध्य मस्तिष्क, सेतु और सुषुम्ना शीर्षक में रहते हैं । यहाँ के सेलों के नए सूत्रों से चालक नाड़ियाँ बनती हैं (र)

२ और ३=ये सूत्र सुषुम्ना शीर्षक में मध्य रेखा को पार करके एक ओर से दूसरी ओर हो जाते हैं । सुषुम्ना में जगह-जगह इनका अंत हो जाता है ; पूर्व शृंगों से नए सूत्र निकलते हैं ; इन्हीं से चालक मूलें बनती हैं ।

(ग) जो मांस-पेशियों (म) को जाती है ।

४=ये सूत्र सुषुम्ना शीर्षक में मध्य रेखा को पार नहीं करते ।

५=ये सूत्र कभी भी मध्य रेखा को पार नहीं करते ।

ये नाड़ियाँ हमारे मस्तिष्क को सूचना देती हैं कि अमुक वस्तु हमारे शरीर को हानि पहुँचाने के लिये आ रही है। तुरंत ही हमारा मस्तिष्क संचालक नाड़ी के द्वारा शरीर की रक्षा करने के लिये अंगों को आज्ञा दे देता है। किंतु मस्तिष्क को संचालित करनेवाली सांवेदनिक नाड़ियाँ थीं।

यदि हम सांवेदनिक नाड़ी के मार्ग का निरीक्षण करें तो हमें मालूम होगा कि सुषुम्ना में पहुँचकर नाड़ी से छोटी-छोटी शाखाएँ निकलती हैं जो सुषुम्ना के सेलों को चारों ओर से घेर लेती हैं और इस प्रकार वे संचालक नाड़ियों से सुषुम्ना द्वारा संबंध स्थापित कर लेती हैं। इस प्रकार संचालक नाड़ियों का दोहरा संबंध हो जाता है। एक मस्तिष्क से; दूसरा सांवेदनिक नाड़ियों से। कभी-कभी ऐसा होता है कि उत्तेजना मस्तिष्क में न पहुँचकर सुषुम्ना द्वारा ही संचालक नाड़ियों में पहुँच जाती है और कार्य होने लगता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मार्ग में जाने के समय सामने से कोई भुनगा आकर नेत्र के भीतर घुसने लगता है, तो उस समय यद्यपि हम उस भुनगे को आता हुआ नहीं देखते तो भी पलक तुरंत ही बंद हो जाते हैं। यह एक ऐसी क्रिया है जो मस्तिष्क के द्वारा न होकर सुषुम्ना के द्वारा होती है। ऐसी क्रियाओं को प्रत्यावर्त्तक व परावर्तित क्रिया कहते हैं।

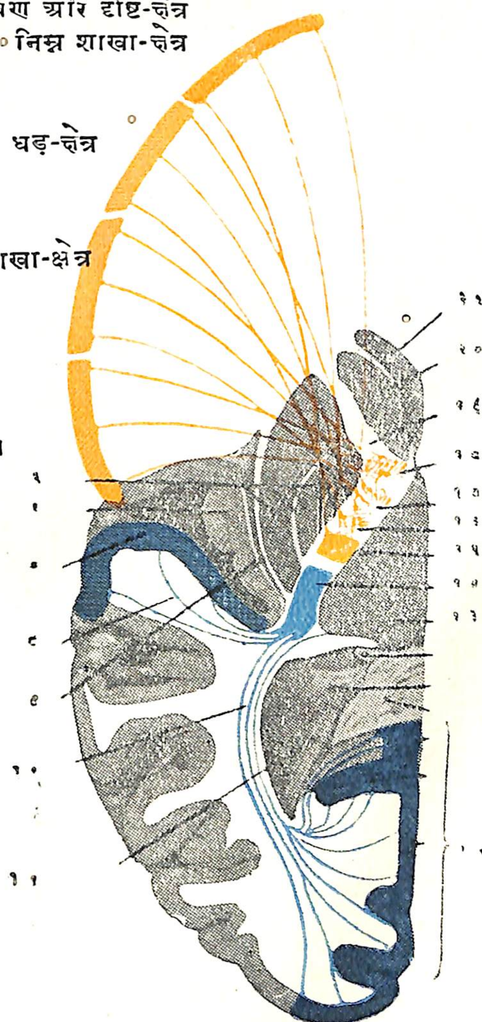
हमारे अनेक कर्म परावर्तित क्रियाएँ होती हैं जो विशेष महत्त्व की होती हैं। साथ के चित्र की ओर देखने से परावर्तित क्रिया का मार्ग स्पष्ट हो जायगा। चर्म पर कोई काँटा चुभता है या कोई जीव काट लेता है, तो वहाँ के सेलों में उत्तेजना उत्पन्न होती है। यह उत्तेजना वहाँ से ऊपर को जानेवाली नाड़ी द्वारा ऊपर गंड तक पहुँचती है, जो सुषुम्ना के पास नाड़ी

प्लेट नं० १० की व्याख्या

१=अधोशाखा क्षेत्र
२=धड़ क्षेत्र
३=ऊर्ध्व शाखा क्षेत्र
४=मुख (चेहरा) क्षेत्र
५=तालाकार केंद्र (तालूपमपिंड)
६=द्वीप
७=श्रावण क्षेत्र
८=श्रावण किरणें
९=पार्श्व कोष्ठ में नीचे की ओर स्थित एक श्वेत उत्रोध
१०=दृष्टि किरणें
११=मस्तिष्क के बहिर्कोष के बाहर की ओर एक कोमल अवरोधक (Claustrum)
१२=दृष्टि क्षेत्र
१३=थैलेमस
१४=सांवेदनिक तार
१५=अधोशाखा तार
१६=धड़ के तार
१७=ऊर्ध्व शाखा के तार
१८=चेहरे का तार
१९=अंतरीय कोष का अगला भाग
२०=वेत्राकार पिंड
२१=पार्श्विक कोष्ठ का अग्र शृंग

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १०

गति, श्रवण और दृष्टि-क्षेत्र

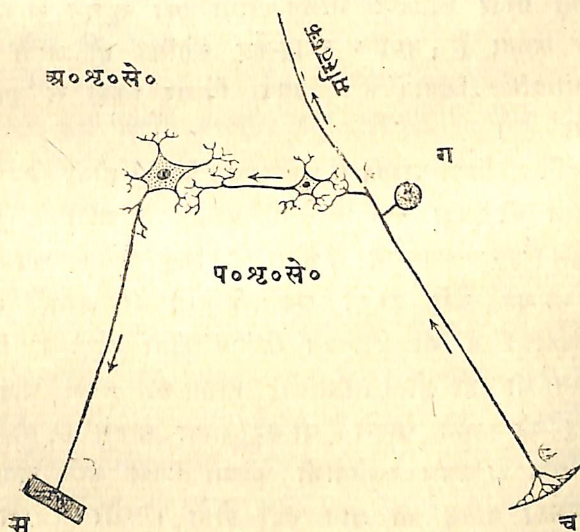


(From Cunningham's Practical Anatomy)
(हमारे शरीर की रचना से) पृष्ठ-संख्या ४००

के ऊपर स्थित है। इस गंड से आगे चलकर वह सुषुम्ना में प्रवेश करके मस्तिष्क की ओर चलती है। यहाँ पर नाड़ी से पतली सी शाखा सुषुम्ना के पश्चात् सेलों की ओर जाती है और उनसे मिलकर संगम बनाती है। पश्चात् सेलों से पूर्व सेलों तक फिर कुछ सूत्र जाते हैं। वहाँ एक दूसरा संगम बनता है जिससे एक सूत्र अंग के मांस-पेशियों को जाता है।

अतएव उत्तेजना को मांस-पेशी के पास पहुँचने के लिये दो मार्ग हैं। प्रथम मार्ग द्वारा उसको सुषुम्ना में होकर मस्तिष्क में जाना होता है। जहाँ से संचालक नाड़ी उसको पेशी तक ले

चित्र नं० ४०—प्रत्यावर्त्तक क्रिया का मार्ग।



च. चर्म; ग. गंड; प० श्टं० से०. पाश्चात्य श्टंगसेल; अ० श्टं० से०. अग्र श्टंग सेल; म. मांसपेशी।

जाती है। दूसरे मार्ग द्वारा उसको मस्तिष्क तक जाना नहीं होता, किंतु सीधे सुषुम्ना द्वारा ही वह संचालक नाड़ी में पहुँचकर पेशी को संकुचित कर सकती है। दूसरा मार्ग पहले की अपेक्षा बहुत छोटा और सीधा है। अतएव जब कभी समय की कमी होती है तो उत्तेजना सदा दूसरे मार्ग का अवलंबन करती है।

जब कभी क्रियाएँ हमारे विशेष विचार के बिना होती हैं तो वे सब परावर्त्तित क्रियाएँ होती हैं। ये क्रियाएँ सदा सांवेदनिक उत्तेजनाओं का परिणाम होती हैं; हमारी विचार-क्रिया से उनका संबंध नहीं रहता। यदि किसी मनुष्य के पाँव के तलवे को खुजलाया जाय तो उससे पाँव की उँगलियों की पेशियाँ क्रिया करने लगती हैं। इसी प्रकार स्वादिष्ट भोजन-पदार्थों को सूँघने से मुँह में जल आने लगता है; क्योंकि स्वाद-केंद्र उत्तेजित हो जाता है। ये सब परावर्तित क्रियाएँ हैं। इनका विचार क्रिया से कुछ भी संबंध नहीं है।

परावर्त्तित क्रिया वास्तव में अनैच्छिक क्रिया होती है। हम उसको करने की इच्छा नहीं करते तो भी वह हो जाती है। बहुधा वह हमारी जागृत अवस्था में होती है, किंतु अचेतन अवस्था या निद्रा में भी वह वैसे ही हो सकती है। तो भी हमारी सैकड़ों ऐच्छिक क्रियाओं में भी परावर्तन क्रियाएँ होती रहती हैं जिनका हमको ज्ञान भी नहीं होता। हम कोई विशेष कर्म करना चाहते हैं, किसी वस्तु को उठाना चाहते हैं या कहीं जाना चाहते हैं, तो तुरंत ही उस क्रिया से संबंध रखनेवाली पेशियाँ क्रिया करने लगती हैं जिनका हमको तनिक भी ज्ञान नहीं होता। और न हम यह विचारते ही हैं कि अमुक पेशी कर्म करे। हमारी इच्छा क्रियाओं के केंद्रों को उत्तेजित कर देती है और ये परावर्त्तित क्रियाएँ होने

लगती हैं। जिस समय हम चलते हैं, उस समय शरीर की अनेक पेशियाँ काम करती हैं। चलने का कर्म एक अत्यंत गूढ़ कर्म है। किन्तु उन पेशियों के कर्म का हमको ध्यान भी नहीं होता। हमारे एक बार चलने की क्रिया को आरम्भ करने से मांसपेशियों को बराबर उत्तेजना पहुँचती रहती है और वे संकोच और विस्तार करती रहती हैं। यदि किसी मेंढक के शरीर में से उसका मस्तिष्क निकाल दिया जाय और उसकी एक टाँग पर कुछ अम्ल लगा दिया जाय तो वह अपनी दूसरी टाँग से उस अम्ल को बराबर हटाने का उद्योग करता रहेगा। यह केवल परावर्तित क्रिया है।

हमारे प्रतिदिन के जीवन में हमारी क्रियाओं में से अधिकांश क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जिनका एक प्रकार से हमारे विचार से संबंध नहीं होता।

सांवेदनिक और संचालक उत्तेजनाओं का आपस में अद्भुत सम्बन्ध है। असंख्य मस्तिष्क और सुषुम्ना के सेल और सूत्रों का यही काम प्रतीत होता है कि वे इन दोनों भाँति की उत्तेजनाओं को इस प्रकार संयुक्त कर दें कि उससे शरीर के लिये लाभदायक कर्म हो। न केवल यही, किंतु इनकी स्थिति हमारे कर्मों को विचार से स्वतन्त्र करने का उद्योग करती है और बहुत कुछ अपने उद्देश्य में सफल भी होती है। हमारी क्रियाएँ विचार से कहाँ तक स्वतन्त्र हैं यह पहले ही बताया जा चुका है। विचार केवल एक कर्म की इच्छा करता है; वह इन छोटी-छोटी क्रियाओं को, जिनके मिलने से वह कर्म होता है, नहीं विचारता, इच्छा के पश्चात् विचार का काम समाप्त हो जाता है; शेष सब परावर्त्तन (Reflex) पूर्ण करता है। एक उत्तेजना दूसरी उत्तेजना को उत्पन्न करती है; सेलों और नाड़ियों को अद्भुत प्रकार से संयुक्त

करके परावर्त्तन कार्य करवा देता है। हम एक प्रकार से इन परावर्त्तनों और उत्तेजनाओं के हाथ की कठपुतली हैं। संचालक सूत्रों की अपेक्षा सांवेदनिक सूत्रों की संख्या बहुत अधिक है और संवेदनाएँ ही सारे परावर्त्तनों का कारण हैं। यही संवेदनाएँ हम में चेतना उत्पन्न करती हैं और काम करवाती हैं। हृदय, फुस्फुस, ग्रंथियाँ, वृक्क, यकृत् इत्यादि इन्हीं के द्वारा अपना काम करते हैं।

यदि चर्म की थोड़ी सी उष्णता बढ़ जाती है तो तुरन्त ही सारा चर्म स्वेद-ग्रन्थियों से स्वेद बनवाकर उसके द्वारा अपने को शीतल करने का प्रयत्न करने लगता है। यदि रक्त में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा कुछ भी बढ़ जाती है तो तुरंत ही फुस्फुस अपनी क्रिया बढ़ा लेते हैं जिससे वे सारे विष को शरीर से बाहर निकाल देते हैं। रक्त में जल, शर्करा या दूसरे लवणों के बढ़ने से वृक्क और यकृत् तेज़ी से काम करने लगते हैं और इन विषों को रक्त से अलग कर देते हैं। ये सब संवेदनाओं से उत्पन्न हुए परावर्त्तन कर्म हैं। हम कभी जानते भी नहीं कि हमारे शरीर में क्या हो रहा है, किंतु ये सब ऐसे महत्त्व के कार्य वहाँ होते रहते हैं।

यह सूक्ष्म नाड़ी सेल-समूह विचित्र-शक्ति के भंडार हैं। आयु-पर्यंत वर्षों तक प्रत्येक सेकिंड में ३० व ४० उत्तेजनाएँ उत्पन्न किया करते हैं और कंपनाएँ करते रहते हैं। कुछ सेल के समूह हृदय की देखभाल करते हैं; कुछ फुस्फुस की व्यवस्था करते हैं; कुछ हमारे पाचन की ओर ध्यान रखते हैं; कुछ हमारे शरीर की गति को पूर्ण करते हैं; कुछ समूह ऐसे हैं जो नेत्र, कर्ण इत्यादि द्वारा हमें ज्ञान कराते हैं। मूर्ख और पंडित बनाना सब इन्हीं सूक्ष्म सेलों का काम है। वायुयान बनवाना, बिना तार की तार

बर्फ़ी निकलवाना, वृत्तों में नाड़ी-मंडल का ज्ञान कराना, समुद्र को थल से भी अधिक सुगम बना देना, ये सब संसार के बड़े-बड़े काम इन्हीं कुछ सेल-समूहों के कर्म हैं। जिस बुद्धिमत्ता से ये सेल काम करते हैं, उसके सामने सुलेमान की बुद्धि समुद्र के सामने एक बिंदु के बराबर भी नहीं है। डेगचो में पानी के उबलने से जो भाप उठती है उसमें डेगचा के ढक्कन को उठते और गिरते हुए बहुत लोग देखते हैं, किंतु उससे कुछ परिणाम निकालनेवाले थोड़े ही होते हैं। वह इन सेल-समूहों की ही कृपा होती है कि कुछ लोग वृत्त से गिरते हुए सेब के फल को देखकर गणित के बड़े-से-बड़े सिद्धांत बना डालते हैं।

निद्रा—निद्रा का भी मस्तिष्क ही से संबंध है। जब मस्तिष्क अपना सब काम करना बन्द करके विश्राम करता है तो वह समय निद्रा का होता है। श्रम और कार्य के पश्चात् संसार में सबको विश्राम की आवश्यकता है। विना पूर्ण विश्राम किए कोई कुछ काम नहीं कर सकता। श्रम से उत्पन्न हुई थकावट मिटाने के लिये और शरीर में जो क्षति हो चुकी है उसकी पूर्ति करने के लिये विश्राम आवश्यक है। इसी प्रकार मस्तिष्क भी बराबर काम करते-करते थक जाता है। उसमें भी कार्य करने से कुछ क्षति होती है। अतएव इस श्रम को मिटाने के लिए और अपने तंतुओं की क्षति-पूर्ति के लिये उसे भी विश्राम करना पड़ता है। इससे यह न समझना चाहिए कि निद्रा के समय में मस्तिष्क बिलकुल शिथिल हो जाता है और अपना कार्य छोड़ देता है। उसके बहुत से भाग सदा अपना कर्म करते रहते हैं। हृदय, फुस्फुस इत्यादि के केंद्र सदा उत्तेजनाएँ भेजते रहते हैं। परावर्त्तन निद्रा के समय में भी हुआ ही करता है। केवल मस्तिष्क के वे भाग, जो बाह्य

उत्तेजनाओं को ग्रहण करने और संचालन का काम करते हैं, अपना काम छोड़ देते हैं। बाहर से मस्तिष्क में उत्तेजनाएँ पहुँचनी बंद हो जाती हैं; और यदि उत्तेजना पहुँचाई जाती है तो निद्रा भंग हो जाती है।

निद्रा भी क्या ही एक अद्भुत घटना है। वह संसार के धनी से धनी और निर्धन से निर्धन को कुछ समय के लिये समान बना देती है। धनी अपने धन को भूलता है और निर्धन अपनी निर्धनता के दुःख से मुक्त हो जाता है। सब प्राणियों के कष्ट कुछ समय के लिये दूर हो जाते हैं। इसी कारण Sancho Panza ने कहा था कि "Blessings on him who invented sleep!—the mantle that covers all human thoughts; the food that appeases hunger; the drink that quenches thirst; the fire that warms; the cold that moderates heat; and lastly, the general coin that purchases all things; the balance and weight that make the shepherd equal to the king and the simple to the wise." सच है, मृत्यु के पश्चात् राव और रंक में कुछ भी भेद नहीं रहता; दोनों को एक ही मार्ग का अवलंबन करना होता है; केवल भेद उनके कर्मों द्वारा होता है। और निद्रा से एक आगे की अवस्था का नाम मृत्यु है। निद्रा में मस्तिष्क के केवल कुछ भाग विश्राम लेते हैं; शरीर के बहुत से अंग हृदय, फुस्फुस इत्यादि उस समय भी अपना कर्म करते रहते हैं। यदि ये अंग भी पूर्ण विश्राम करने की ठान लें तो मृत्यु नामक घटना की अवस्था उत्पन्न हो जाय।

किंतु इस शांतिदायिनी सर्वप्रिय घटना का कारण क्या है? क्या निद्रा हमारे लिये आवश्यक है? वह किस प्रकार उत्पन्न होती है और निद्रा के समय में जागृत अवस्था की अपेक्षा शरीर के भीतर की क्रियाओं में क्या अंतर पड़ जाता है ?

निद्रा के कारण के संबंध में बहुत से मत हैं। यद्यपि वैज्ञानिकों ने इस ओर अपना काफ़ी ध्यान दिया है और प्रयोग भी किए हैं तो भी वे किसी संतोष-जनक परिणाम पर नहीं पहुँच सके हैं। यही मतभेद का कारण है। निद्रा के संबंध में जो भिन्न-भिन्न विचार समय-समय पर प्रकट हुए हैं, उन सबके लिखने के लिये बहुत अधिक स्थान की आवश्यकता है। मुख्य सिद्धांतों का नीचे उल्लेख किया जाता है—

१—गत परिच्छेदों में यह कई बार बताया जा चुका है कि जब कोई भी तंतु कर्म करता है तो उसकी क्रिया से कुछ विषैले पदार्थ उत्पन्न होते हैं। पेशियों की क्रिया से अम्ल और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बनते हैं। नाड़ी के क्रिया करने से भी लेक्टिक अम्ल इत्यादि वस्तुएँ बनती हैं। इस सिद्धांत के अनुसार ये विषैली वस्तुएँ शरीर में एकत्र होती रहती हैं। शरीर में क्रिया इतनी अधिक होती है कि उससे उत्पन्न हुई विषाक्त वस्तुएँ रक्त द्वारा नष्ट नहीं होने पाती हैं। कुछ अवश्य नष्ट होती हैं; किंतु सारी वस्तुओं का रक्त नहीं नाश कर पाता। इस प्रकार यह वस्तु शरीर में एकत्र होकर नाड़ी-मंडल को हानि पहुँचाती है। इन विषों के कारण नाड़ी-मंडल की उत्तेजना ग्रहण करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। अतएव जब मस्तिष्क में उत्तेजनाओं का पहुँचना बंद हो जाता है तो वह विश्राम अवस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार निद्रा का आरंभ होता है।

इस सिद्धांत का समर्थन किन्हीं प्रयोगों द्वारा नहीं होता।

२—फ्लूगर नामक विद्वान् का मत था कि नाड़ी-मंडल के सेलों के भीतर ऑक्सीजन का संग्रह होता है। दिन में काम करने में यह सारा संग्रह खर्च हो जाता है। सेल इस ऑक्सीजन को प्रयोग कर डालते हैं। ऑक्सीजन की कमी हो जाने से नाड़ी-मंडल के सेल अचेतन हो जाते हैं अर्थात् वे बाहर की उत्तेजनाओं को ग्रहण नहीं कर सकते। इस प्रकार उनके अचेतन हो जाने से निद्रा का प्रादुर्भाव होता है। इस सिद्धांत के अनुसार मस्तिष्क के प्रत्येक सेल में ऑक्सीजन का एक भंडार रहता है। जागृत अवस्था में यह बराबर व्यय होता रहता है। निद्राकाल में रक्त द्वारा यह भंडार फिर परिपूर्ण हो जाता है। यह सिद्धांत भी प्रथम की भाँति बिलकुल त्याज्य है।

३—विष-सिद्धान्त यह सिद्धांत यह मानता है कि काम करने के समय शरीर में एक विशेष प्रकार का विष बना करता है, जिसको निद्रालु-विष—(Hypno Toxin) का नाम दिया गया है। जब रक्त में इसकी काफ़ी मात्रा हो जाती है तब मस्तिष्क के सेल उससे संचरित होकर अपना कार्य करना छोड़ देते हैं।

४—नाड्याणु-सिद्धांत—नाड़ी-सेलों की रचना बताते समय कहा गया था कि सेलों के दंद्र आपस में मिले रहते हैं जिस भाँति पास-पास के वृक्षों के पत्ते आपस में मिल जाते हैं और इस प्रकार इनके मिलने से संगम स्थान बन जाते हैं। यह सिद्धांत यह मानता है कि निद्रा का कारण प्रत्येक सेल का अपने दंद्रों को सिकोड़ लेना है। इस प्रकार दंद्र सिकुड़कर एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और दोनों सेलों के दंद्रों में बहुत अंतर हो जाता है। इस कारण उत्तेजनाएँ एक सेल से दूसरे सेल में नहीं

जा सकतीं। किंतु यह सिद्धांत भी ऊपर कहे हुए सिद्धांतों की गणना में सम्मिलित है। प्रयोगों द्वारा इस सिद्धांत का समर्थन नहीं होता।

४—मस्तिष्क में रक्त की कमी—प्रयोगों द्वारा इस बात का पता लगा है कि निद्रा की अवस्था में मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। निद्रा के समय वहाँ इतना रक्त नहीं जाता जितना जागृत अवस्था में जाता है। इस कारण रक्त का भार भी कम हो जाता है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि निद्रा का यही कारण है। बहुधा भोजन के पश्चात् निद्रा अधिक आती है। इसका कारण यह है कि शरीर के रक्त का अधिक भाग उस समय अंत्रियों में पहुँच जाता है। चर्म की शिराएँ और अन्य नलिकाएँ भी सिकुड़ जाती हैं और दूसरे प्रांतों की नलिकाओं की भी यही दशा होती है। अतएव मस्तिष्क में भी रक्त की कमी हो जाती है। इस कारण नींद आने लगती है।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह सिद्धांत कहाँ तक ठीक है। यह निद्रावस्था में शरीर में होनेवाली एक घटना का वर्णन करता है; किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका कारण भी यही है। वास्तव में ये जितने भी सिद्धांत हैं, सब घटना का वर्णन ही करनेवाले हैं। कारण बतानेवाला कोई भी नहीं है; क्योंकि कारण का अभी तक अन्वेषण नहीं हो सका है। संतोषजनक सिद्धांत वही कहा जा सकता है जब कि वह अनेक गूढ़ प्रश्नों का उत्तर दे, जैसे कि बच्चों को युवा की अपेक्षा निद्रा क्यों अधिक आती है; युवा अवस्था में निद्रा की मात्रा क्यों घट जाती है? वृद्धावस्था में निद्रा की मात्रा बहुत कम हो जाती है, किंतु उससे शरीर पर कुछ बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। सामान्य परिश्रम के पश्चात् निद्रा जल्दी

आती है; किंतु परिश्रम के बहुत अधिक हो जाने पर फिर निद्रा नहीं आती। फिर यह एक साधारण सी बात है जिससे कुछ ही लोग अनभिज्ञ होंगे कि मस्तिष्क को शक्ति और निद्रा की मात्रा में कोई संबन्ध नहीं है। बहुत अधिक विचार का कार्य करनेवाले और तीव्र प्रखर बुद्धि के लोगों के लिये अधिक निद्रा और मूढ़ मनुष्यों के लिये कम निद्रा आवश्यक हो, ऐसा भी कोई नियम देखने में नहीं आता। नेपोलियन, फेडरिक दी ग्रेट, ऐडीसन इत्यादि इस बात का उदाहरण हैं कि थोड़े समय सोने से मनुष्य की विचारशक्ति को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती। इन सब समस्याओं का हल करना साधारण काम नहीं है। इसके अन्वेषण करने में कई दुर्गम कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

निद्रा कोई शरीर का विकार नहीं है और न वह किसी प्रकार के विषों के कारण उत्पन्न होती है। नाड़ी-मंडल के विषाक्त हो जाने का परिणाम निद्रा नहीं है। निद्रा शरीर की अन्य क्रियाओं की भाँति एक साधारण और स्वाभाविक क्रिया है। जागृत अवस्था की भाँति निद्रावस्था भी हमारे भौतिक शरीर की एक अविच्छिन्न घटना है। इस घटना के द्वारा शरीर का निर्माण होता है; शरीर में वृद्धि होती है। जो अंगों में क्षति हो चुकी है उसकी पूर्ति होती है।

कुछ लोगों ने एक दूसरा ही सिद्धांत निकाला है। वे कहते हैं कि जब मस्तिष्क को पहुँचनेवाली उत्तेजनाएँ एक समान हो जाती हैं, उनमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती, तो मस्तिष्क निद्रावस्था में चला जाता है। उनका कहना है कि यदि हम मस्तिष्क को एक ही प्रकार की उत्तेजनाएँ कुछ समय तक पहुँचाते रहें तो मस्तिष्क का वह केंद्र, जो उसे ग्रहण कर रहा है,

थक जायगा और वह अपना काम छोड़कर फिर शिथिल हो जायगा। हम उसी समय तक चेतन रहते हैं जब तक भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजनाएँ मस्तिष्क में पहुँचा करती हैं। इस मत के अनुसार ज्यों ही यह भिन्नता जाती रहती है त्यों ही निद्रा उत्पन्न हो जाती है। इस मत के अनुयायियों का कहना है कि हमारे जागृत रहने के लिये न केवल उत्तेजनाओं की भिन्नता ही आवश्यक है, वरन् मस्तिष्क ऐसी अवस्था में होना चाहिए कि वह उन भिन्नताओं को ग्रहण करे। यदि मस्तिष्क उत्तेजनाओं को ग्रहण करने से थक चुका है तो वह भिन्नताओं को अनुभव न करेगा जिससे वह शिथिल हो जायगा।

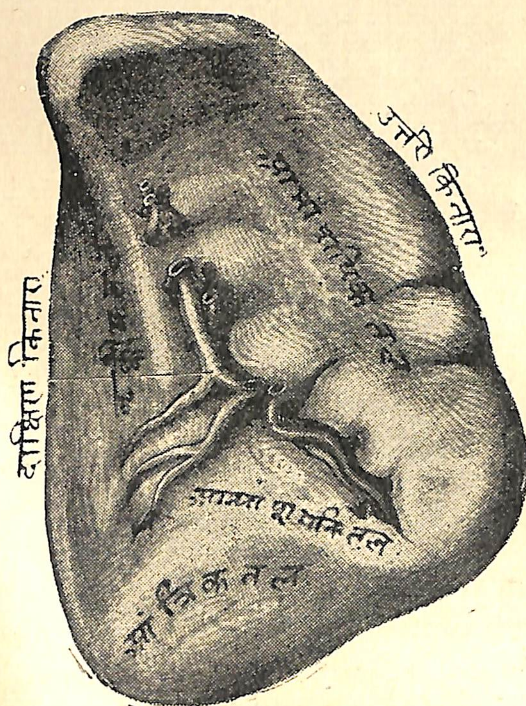
यह सिद्धांत भी दूसरे सिद्धांतों के ही समान मालूम होता है। जिस काम के करने से हम एक समय जागृत अवस्था में रहते हैं, उसी के दूसरे समय करने से हमें निद्रा आ जाती है। दिन भर किसी एक पुस्तक के पढ़ने से हम नहीं सोते, किंतु हमारे सोने का जो नियत समय है उस समय उस पुस्तक को पढ़ने से हम सो जाते हैं। इस मत के अनुयायी कह सकते हैं कि दिन भर के काम के पश्चात् मस्तिष्क इतना थक गया था कि वह उत्तेजना ग्रहण नहीं कर सकता था। किंतु यदि हम दिन भर बिना किसी प्रकार अपना मस्तिष्क थकाए हुए सोने के समय पर उस पुस्तक को लेकर लेट जायँ और उसका पाठ करना आरंभ करें तो थोड़े ही समय पश्चात् हमें निद्रा आ जाती है। कुछ लोग जब चाहें तब सो सकते हैं। ये सब बातें इस सिद्धांत द्वारा स्पष्ट नहीं होतीं।

निद्रा वह काल है जब हमारे शरीर में वृद्धि होती है और टूटे-फूटे स्थानों की मरम्मत होती है। इस कारण वह हमारे लिये

बहुत ही आवश्यक है; किंतु अधिक सोना हानिकारक है। हम लोग आवश्यकता से कहीं अधिक सोते हैं। छः घंटे की निद्रा एक युवा मनुष्य के लिये पर्याप्त है। स्वभाव बना लेने से मनुष्य चाहे जितना अधिक सो सकता है; किंतु वह जीवन का अमूल्य समय नष्ट करना है। अधिक सोने से मस्तिष्क की उत्तेजना ग्रहण करने की शक्ति नष्ट हो जाती है और उसका रक्त-संचालन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। शरीर के अंगों की शिथिलता बढ़ती है। न केवल यही, वरन् कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के अधिक उत्पन्न होने से रक्त-शुद्धि के कार्य में भी बाधा पड़ सकती है।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ११

प्लीहा



(From Gray's, Anatomy)

पृष्ठ-संख्या ४१३

शरीर की कुछ विशेष ग्रंथियाँ

शरीर में ग्रंथियों की संख्या बहुत अधिक है। लसीका ग्रंथियाँ तो सारे शरीर में यतस्ततः बहुत ही अधिक संख्या में एक राज्य में पुलिस स्टेशनों की भाँति उपस्थित हैं। प्रत्येक रसवाहिनी नलिका इन्हीं ग्रंथियों में जाकर समाप्त होती है और इन्हीं से आरंभ होती है। किंतु इन ग्रंथियों के अतिरिक्त और भी बहुत सी ग्रंथियाँ हैं जो शरीर के लिये बड़े महत्त्व की हैं। यकृत् का प्रथम ही वर्णन हो चुका है। प्लीहा भी एक ऐसी ही ग्रंथि है। गलग्रंथि, उपवृक्क, पीयूषग्रंथि, बालग्रंथि इत्यादि ऐसी ग्रथियाँ हैं जिनका शरीर के भीतर होनेवाली दैनिक क्रियाओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अतएव उनका कुछ वर्णन करना आवश्यक है।

सीहा—प्लीहा बेचारी का नाम बहुत बदनाम है। ज्वरों में वह बढ़ जाती है; अन्य कई प्रकार के रोगों में भी उसके आकार में वृद्धि होती है, इस कारण उसको रोगों का अभिन्न मित्र मान-कर उसका बहुत अनादर किया जाता है। अँगरेजी भाषा में स्वभाव का प्लीहा के साथ संबंध जोड़ दिया गया है। Splenic Temper

का अर्थ चिड़चिड़े स्वभाव से है। यद्यपि मनुष्य के स्वभाव के चिड़चिड़े होने में प्लीहा किसी भाँति भी उत्तरदायी नहीं है, तो भी उसी के सिर यह सेहरा बाँधा गया है। संभव है, इसका कारण यह हो कि जब कोई मनुष्य बहुत दिनों तक रोगी रहता है तो उसका स्वभाव बिगड़ जाता है; वह चिड़चिड़ा हो जाता है। ऐसी दशाओं में प्लीहा भी बहुधा बढ़ जाती है। अतएव लोगों ने विचार लिया कि स्वभाव के बिगड़ जाने का कारण प्लीहा ही है। किंतु यह भूल है, प्लीहा का स्वभाव से कोई संबन्ध नहीं है और न प्लीहा रोग का कारण ही होती है। वह तो उलटे रोग से उत्पन्न हुए विषों का नाश करने का प्रयत्न करती है।

प्लीहा बाईं ओर स्थित होती है। इसके पीछे की ओर नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं पर्शुकाएँ रहती हैं। इसके आगे की ओर आमाशय का कुछ भाग रहता है। आमाशय के पुच्छ का सिरा भी इसके ऊपर तक पहुँच जाता है। वृक्क और अंत्रियाँ भी इससे मिली रहती हैं। इसकी लंबाई पाँच इंच के लगभग होती है। जो मनुष्य मलेरिया के समान ज्वरों से पीड़ित रहे हैं उनके शरीर में प्लीहा बहुत बढ़ जाती है। प्लीहा का रङ्ग बैंगनी होता है और उसका भार २ छटाँक के लगभग होता है। इसके भीतर की ओर एक दबा हुआ स्थान होता है जो एक छोटे गड्ढे के समान होता है। वह इसका द्वार समझना चाहिए। जितनी रक्त की नलिकाएँ प्लीहा के भीतर जाती हैं और बाहर निकलती हैं, वे सब की सब इसी द्वार के द्वारा आती जाती हैं।

प्लीहा के ऊपर एक आवरण चढ़ा रहता है जो अंत्रियों और उदर के बृहत् आवरण का एक भाग होता है। यदि प्लीहा को भीतर से काटकर देखा जाय तो इस आवरण से अनेक लम्बे-लम्बे सूत्र

भीतर जाते हुए दिखाई देंगे। ये आवरण-सूत्र भीतर जाकर चारों ओर फैल जाते हैं। इस प्रकार प्लीहा का भीतरी भाग बहुत से कोष्ठों में विभाजित हो जाता है जिसके चारों ओर सूत्र रहते हैं और उनके बीच में प्लीहा का गूदा रहता है। यह गूदा बड़े-बड़े केंद्र-मय सेलों और उनके आश्रित करनेवाले सूत्रों का बना होता है। ये सेल भी कई प्रकार के होते हैं। कुछ तो रक्त के श्वेताणुओं की भाँति होते हैं जो अपना आकार परिवर्तित कर सकते हैं। दूसरे रक्त के लाल कण की भाँति होते हैं। इनके अतिरिक्त और भी कुछ बड़े सेल पाए जाते हैं जिनमें या तो कुछ रंजक वस्तु के कण होते हैं अथवा लाल कण होते हैं।

प्लीहा में एक मोटी धमनी जाती है जो प्लैहिक धमनी (Splenic Artery) कहलाती है। यह प्लीहा के द्वार में होकर भीतर प्रवेश करती है और भीतर जाकर अनेक शाखाओं में विभक्त हो जाती है। प्रत्येक शाखा पहले तो बाह्यावरण के सूत्रों के साथ रहती है, किंतु अन्त में प्लीहा के गूदे में जाकर केशिकाओं के रूप में आ जाती है। ये केशिकाएँ भी बहुत ही कोमल होती हैं। इनका सबसे ऊपर का आवरण यहाँ अनुपस्थित होता है और वह इतना सूक्ष्म होता है कि रक्त उनके द्वारा बाहर निकल जाता है। इस प्रकार प्लीहा में रक्त प्लीहा के सेलों के संपर्क में आता है। शरीर भर में इसके अतिरिक्त और कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ रक्त और अंग का संपर्क हो।

प्लीहा की शिरा इन्हीं केशिकाओं से आरंभ होती है और धमनी की शाखाओं के साथ ही साथ उसकी भी शाखाएँ रहती हैं। इन शाखाओं के मिलने से शिरा बन जाती है जो प्लीहा के द्वार में होती हुई बाहर निकल जाती है।

प्रकृति के अनेक रहस्यों की भाँति प्लीहा ने भी अपना रहस्य शीघ्र नहीं बताया। किंतु वैज्ञानिक लोग भी कब माननेवाले थे। अन्त में उन्होंने भी बहुत कुछ परिश्रम के पश्चात् प्लीहा के कर्मों का पता लगा ही लिया। यह नहीं कहा जा सकता कि जो कर्म मालूम हो चुके हैं, उनके अतिरिक्त प्लीहा कुछ कर्म करती है या नहीं। किन्तु अभी तक केवल निम्न-लिखित कर्म मालूम हुए हैं—

१. प्लीहा का सबसे बड़ा कार्य यह मालूम होता है कि जिन रक्त के लाल कणों ने अपना जीवन-कार्य समाप्त कर दिया है और नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं उनका वह बिलकुल नाश कर देती है। मलेरिया और अन्य रोगों में प्लीहा के बढ़ने का कारण यह होता है कि रोगों के जीवाणुओं द्वारा रक्त के लाल कणों के नष्ट होने से जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उन सबको प्लीहा अपने में संग्रह कर लेती है। जो रोग ऐसे होते हैं जिनमें रक्त के कणों का अधिक नाश होता है, उन सभी में प्लीहा में एकत्र नष्ट कण बहुत अधिक संख्या में पाए जाते हैं। कभी-कभी प्लीहा में रक्त की बहुत अधिक मात्रा मिलती है जो रक्त के लाल कणों के टूटने से उत्पन्न होती है। पहले यह सोचा जाता था कि प्लीहा लाल कणों का नाश करके उनके हीमोग्लोबिन को स्वतंत्र कर देती है और यह हीमोग्लोबिन यकृत् में पहुँचकर पित्त की रंजक वस्तुएँ उत्पन्न कर देता है। किन्तु यह विचार असत्य प्रमाणित हुआ है।

२. प्लीहा न केवल लाल कणों का नाश ही करती है, वरन् उनको बनाती भी है। इस कर्म के बारे में मनुष्य के संबंध में निश्चय प्रकार से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ पशुओं में यह ठीक प्रकार से मालूम हो चुका है कि प्लीहा लाल कण बनाती

है। यदि इन पशुओं में से प्लीहा निकाल दी जाय तो अस्थियों की लाल मज्जा में वृद्धि हो जाती है।

३. प्लीहा रक्त के श्वेत कणों को भी बनाती है। जो रक्त प्लीहा से शिरा के द्वारा बाहर जाता है उसमें धमनी के रक्त की अपेक्षा अधिक श्वेत कण होते हैं। जिससे मालूम होता है कि प्लीहा में श्वेत कण बनकर शिरा में होते हुए रक्त में पहुँच जाते हैं। जिन दशाओं में रक्त के श्वेत कणों की संख्या बहुत बढ़ती है उनमें प्लीहा के आकार में भी वृद्धि हो जाती है।

इनके अतिरिक्त प्लीहा के और भी एक-दो छोटे-मोटे कर्म मालूम किए गए हैं। कहा जाता है कि प्लीहा यूरिया के बनाने में भाग लेती है। प्लीहा में सदा संकोच और विस्तार हुआ करता है। संकोच के समय इसका आकार घट जाता है और विस्तार के समय बढ़ जाता है। प्लीहा के बढ़ने से अंत्रियों का रक्त उसमें चला जाता है और संकोच करने से फिर अंत्रियों में आ जाता है। यह देखा गया है कि जिस समय आमाशय और अंत्रियों में पाचन होता रहता है उस समय प्लीहा संकुचित रहती है। किंतु पाचन के पश्चात् उसका विस्तार हो जाता है। इस प्रकार प्लीहा रक्त के भंडार का काम करती है।

प्लीहा में किसी भाँति का कोई रस नहीं बनता है। जिन पशुओं में प्लीहा को शरीर से निकाल दिया गया उनको उससे कोई विशेष हानि नहीं हुई। किंतु शरीर में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ हैं जो एक रस बनाती हैं और उस रस से शरीर में अनेक क्रियाएँ होती हैं। पाचन के संबंध में ऐसी कई ग्रंथियों का उल्लेख किया गया है। यकृत् से पित्त बनकर अंत्रियों में आता है जहाँ वह पाचन में सहायता देता है। अग्न्याशय से जो रस निकलता है वह पाचन की मुख्य क्रियाएँ करता है।

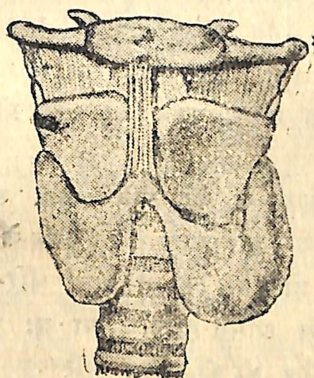
यह रस एक नलिका द्वारा ग्रंथि से निकलकर अंत्रियों में जाता है। किंतु कुछ ग्रंथियाँ अपने बनाए हुए रस को सीधा रक्त और लसीका में मिला देती हैं। यकृत् और क्लोम दोनों इसका उदाहरण हैं। यकृत् से पित्त एक नलिका द्वारा अंत्रियों में आता है। किन्तु यकृत् का ग्लायकोजिन सीधा रक्त में चला जाता है। अग्न्याशय से पाचक रस अवश्य एक नलिका द्वारा पाचन-प्रणाली में आता है। किन्तु उसका दूसरा रस, जिसका वर्णन मधुमेह के संबंध में हो चुका है, सीधा रक्त में जाता है। ऐसे रसों को 'आंतरिक उद्रेचन' कहते हैं; क्योंकि ये रस किसी नाली के द्वारा शरीर के किसी भाग में नहीं पहुँचते हैं। ऐसी ग्रंथियाँ कई हैं जो आंतरिक उद्रेचन बनाती हैं। इनको निःस्रोत ग्रंथि कहते हैं। यकृत् और अग्न्याशय का इस विषय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। अवटुका, बालग्रंथि, अधिवृक्क, पीयूष-ग्रंथि सब ऐसी ही ग्रंथियाँ हैं। पुरुष और स्त्रियों में शुक्रग्रंथि (Testis) और डिंभग्रंथि (Ovary) अपने विशेष कर्म के अतिरिक्त एक ऐसा आंतरिक रस भी बनाती हैं जो रक्त द्वारा सीधा शरीर में पहुँच जाता है और शरीर को पुष्ट करता है।

इन रसों को Harmony के नाम से पुकारा जाता है जिसका अर्थ उत्तेजक है। यह एक रासायनिक वस्तु होती है जो शरीर की बड़ी-बड़ी क्रियाओं पर अपना प्रभाव डालती है। इसका ज्ञान बहुत ही समीप काल का है। जब तक इसका ज्ञान नहीं हुआ था तब तक इन ग्रंथियों को व्यर्थ समझा जाता था। किन्तु अन्वेषण और प्रयोगों द्वारा मालूम हुआ कि इनमें से कोई-कोई ग्रंथि तो जीवन के लिये बहुत ही आवश्यक हैं। इनके विकृत होने, घटने या बढ़ने से कई प्रकार के रोग हो जाते हैं।

ऐसे रोगों ही से इन ग्रंथियों का भली भाँति अन्वेषण हो सका है। ऐसी दशाओं में जब ग्रंथि बिलकुल नष्ट हो गई है और उसमें उद्रेचन का बनना बिलकुल बन्द हो गया है तब कुछ पशुओं से उसी ग्रंथि को निकालकर या उस ग्रंथि का रस तैयार करके रोगी को देने से लाभ हुआ है। विशेषकर ग्रंथियों के विकार से उत्पन्न रोगों के द्वारा ग्रंथि के कर्म का पूर्ण ज्ञान हुआ है। अभी तक यह ज्ञान बिलकुल पूर्ण नहीं है; रात-दिन वह बढ़ रहा है। किंतु यह ज्ञान ऐसे विशेष महत्त्व का प्रमाणित हुआ है कि वह रोग-विज्ञान की एक बहुत बड़ी शाखा बन गया है और थोड़े ही समय में उस पर सहस्रों पृष्ठ के ग्रंथ लिखे जा चुके हैं।

अवटुका-ग्रंथि (Thyroid)—यह ग्रंथि ग्रीवा में होती है। जब कभी यह बढ़ जाती है तो ऊपर से दिखाई देने लगती है। ग्रीवा के दोनों ओर इस ग्रंथि के दो भाग रहते हैं जो आपस में

चित्र नं० ६१—अवटुका-ग्रंथि जिसका आकार कुछ विकृत है।



एक संकुचित भाग के द्वारा जुड़े रहते हैं। इसको सेतु कहते हैं; दूसरी ग्रंथियों की भाँति यह भी एक सौत्रिक तंतु के आवरण से

ढकी रहती है। इस आवरण से बहुत से सूत्र ग्रंथि के भीतर जाते हैं, जो उसको भिन्न-भिन्न कोष्ठों में विभाजित कर देते हैं। इस प्रकार ग्रंथि के भीतर अनेक कोष्ठ बन जाते हैं। इन कोष्ठों के भीतर एक श्वेत पारदर्शी गाढ़ा पदार्थ रहता है। इन कोष्ठों के बीच की दीवारों में धमनी और शिरा की शाखाएँ रहती हैं। इस ग्रंथि में कई धमनियों द्वारा रक्त आता है। साथ में नाड़ियाँ भी रहती हैं। रसवाहिनी नलिकाएँ भी चारों ओर फैली हुई हैं।

यह ग्रंथि शरीर की कई क्रियाओं पर अपना प्रभाव डालती है। जब इसमें विकार होता है, ग्रंथि की कार्य-शक्ति नष्ट हो जाती है अथवा साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक कार्य करने लगती है तो कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। बच्चों में जो रोग उत्पन्न होता है उसे Cretinism और युवा पुरुषों में उत्पन्न होनेवाले रोग को मिक्सोडीमा (Myxoedema) कहते हैं। ये रोग ग्रंथि के नष्ट हो जाने और उसकी क्रिया कम हो जाने से उत्पन्न होते हैं। किन्तु जिन दशाओं में इस ग्रंथि की क्रिया बढ़ जाती है तो उससे Exophthalmic Goitre नामक रोग उत्पन्न होता है। इन रोगों के लक्षण वर्णन करने से ग्रंथि की विशेषता स्पष्ट हो जायगी।

जब बाल्यकाल में यह ग्रंथि अपना उद्रेचन बनाना बंद कर देती है या वह कम हो जाता है तो बच्चे के शरीर की वृद्धि बंद हो जाती है। यदि होती भी है तो बहुत धीरे-धीरे। सोलह वर्ष का लड़का, जो रोग से ग्रसित है, पाँच या छः वर्ष का-सा प्रतीत होता है। न केवल शरीर ही की, किंतु मस्तिष्क की शक्तियों का विकास भी बहुत कम होता है। वह बिलकुल मूढ़ हो जाता है। सोलह वर्ष के लड़के की विचार-शक्ति पाँच वर्ष के बच्चे के समान होती है।

मूढ़ता उसके चेहरे से प्रकट होती है। जिह्वा बड़ी होती है और वह मुख से बाहर निकली रहती है। उससे प्रत्येक समय थूक गिरा करता है। टाँगें छोटी होती हैं और पेट आगे को निकला रहता है। शरीर पर बाल बहुत थोड़े होते हैं और देह का चर्म शुष्क होता है। यदि बच्चा रोग-ग्रस्त है तो ये सब चिह्न आयु के प्रथम वर्ष में देखे जा सकते हैं। दूसरे वर्ष में चिह्न और भी स्पष्ट हो जाते हैं। चेहरा शरीर की अपेक्षा बड़ा और सूजा हुआ प्रतीत होने लगता है। नेत्रों के पलक भारी और मोटे पड़ जाते हैं। नाक बैठी हुई और चपटी दीखती है और नथुने चौड़े हो जाते हैं। बच्चे के दाँत बहुत देर से निकलते हैं और निकलने पर जल्दी ही गिर जाते हैं। हाथ छोटे और फूले हुए होते हैं। चेहरा पीला होता है।

बच्चे के युवा होने पर जननेंद्रियों का विकास नहीं होता। यह इंद्रिय बिलकुल वैसी ही दशा में रहती है जैसी कि वह बाल्य-काल में होती है। कभी-कभी शुक्र-ग्रंथियाँ अंडकोषों में अनुपस्थित होती हैं। वास्तव में जननेंद्रियों के संबंध में वह बिलकुल ही बच्चा होता है।

मिक्सोडीमा यद्यपि उसी कारण से उत्पन्न होता है जिससे कि ऊपर की दशा, किंतु उसके चिह्न बिलकुल भिन्न होते हैं। इस रोग में चर्म के नीचे का तंतु बढ़ने लगता है जिससे सारा चर्म मोटा और भद्दा दिखाई देता है। शरीर का आकार बढ़ जाता है। यह मोटापन सबसे पहले मुख और हाथों पर दिखाई देता है। चेहरे की आकृति भारी हो जाती है और रोगी मूढ़ और कर्तव्यहीन दिखाई देता है। चेहरे की अस्थियाँ लंबी हो जाती हैं; शिर बढ़ जाता है। इस कारण जो टोपी रोगी को पहले

ठीक आती थी, अब छोटी हो जाती है। पलक मोटे हो जाते हैं; ऊपर के पलक नीचे के पलकों पर गिरे रहते हैं। गाल भी नीचे की ओर लटक आते हैं; नाक चौड़ी हो जाती है; ओष्ठ नीचे को लटकने लगते हैं; ठोड़ी चौड़ी हो जाती है; सिर और पलकों के बाल गिर जाते हैं।

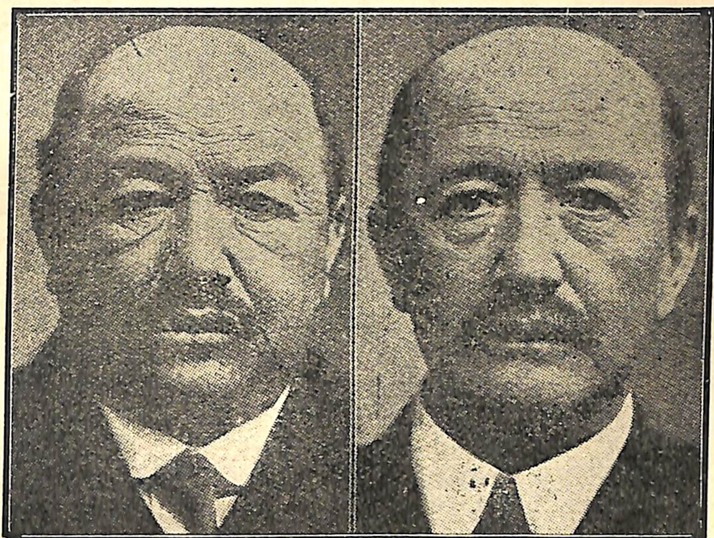
चर्म के नीचे की सूजन चेहरे से गर्दन की ओर बढ़ती है। गर्दन, पीठ, उदर, वक्ष, बाहु, हाथ, जंघा, पाँव इत्यादि सब भारी और मोटे पड़ जाते हैं। हाथ चौड़े हो जाते हैं और उनका आकार लेखक फावड़े (Spade like) जैसा बताते हैं। मुह और गले के अंदर का भाग भी मोटा हो जाता है। इससे शब्द में अन्तर पड़ जाता है। शरीर में बड़ी दुर्बलता मालूम होने लगती है; नाड़ी-मंडल भी बचा नहीं रहता; रोगी का किसी भी काम करने को चित्त नहीं चाहता। भाषण और बातचीत की शक्ति बहुत मंद हो जाती है। स्मरण-शक्ति भी क्षीण हो जाती है; रोगी बात का कठिनता से समझता है और उसको प्रायः नींद बहुत आती है।

इन दोनों भयानक रोगों का कारण इस ग्रंथि की अकर्मण्यता है। वह जितना आवश्यक है उतना उद्रेचन नहीं बनाती। इस कारण ये दशाएँ उत्पन्न होती हैं। इसको पाश्चात्य विज्ञानवाले Thyroid Defeciency के नाम से पुकारते हैं।

यदि एक स्वस्थ मनुष्य के शरीर से इस ग्रंथि को निकाल दिया जाय तो उसकी भी यही दशा हो जायगी। किंतु यदि ऊपर कहे हुए रोगों के रोगियों को इस ग्रंथि का सत्त्व (Extract) खाने को दिया जाय तो उसने रोग दूर हो जाते हैं। शल्यकारों ने इस ग्रंथि को मिक्सिडीमा के रोगियों में उनके चर्म के नीचे कई बार लगाया है और साथ में ग्रंथि का सत्त्व भी

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १२

मिक्सोडीमा—चिकित्सा के पूर्व और पश्चात्



(From Bainbridge and Menzies)

पृष्ठ-संख्या ४२२

शरीर में प्रविष्ट किया है जिससे रोगी नीरोग हो गए हैं। अनुभव से यह पता लगा है कि यदि यह ग्रंथि, कच्ची या पकाकर रोगी को खिलाई जाय तो उसकी दशा ठीक हो जायगी। आजकल यह चिकित्सा बहुत की जाती है और इस ग्रंथि का सत्त्व इन ऊपर कहे हुए रोगों के अतिरिक्त दूसरी दशाओं में भी प्रयोग कराया जाता है।

यदि इन रोगों के रोगियों को ग्रंथि का प्रयोग कराया जाता है तो उससे बहुत थोड़े समय में उनकी मूढ़ता, शरीर का भद्दापन, चर्म की मोटाई इत्यादि सब दूर हो जाते हैं। स्मरण-शक्ति लौट आती है; विचार-शक्ति भी ठीक हो जाती है; भाषण के दोष भी जाते रहते हैं और कार्य में चित्त लगने लगता है। शरीर की दुर्बलता जाती रहती है और रोगी रोग-मुक्त हो जाता है। यदि बच्चों को, जो रोग से ग्रस्त होते हैं, ग्रंथि का प्रयोग कराया जाता है तो उनकी वृद्धि फिर से होने लगती है; मानसिक अवस्था भी बदलने लगती है। पेट का आगे की ओर निकलना, जीभ का लटकना और उससे थूक का गिरना इत्यादि सब लक्षण जाते रहते हैं। कुछ समय के पश्चात् वह एक साधारण बच्चे की भाँति दीखने लगता है। किंतु यह चिकित्सा कई वर्षों तक जारी रखनी पड़ती है, तब उससे कुछ परिणाम निकलता है। कभी-कभी आयुपर्यंत ग्रंथि का प्रयोग करना होता है। समय से पूर्व चिकित्सा के बन्द करते ही फिर रोग की पुनरावृत्ति हो जाती है।

ऊपर कही हुई दशाएँ ग्रंथि की क्रिया की कमी से उत्पन्न होती हैं। किंतु जब ग्रंथि की क्रिया अधिक बढ़ जाती है तब भी उससे स्वास्थ्य में विकार आ जाता है। उस समय जो दशा उत्पन्न होती है उसे Exophthalmic Goitre कहते हैं।

गले की ग्रंथि आकार में बढ़ जाती है और ग्रीवा में दूर से दिखाई पड़ने लगती है। साधारणतया दोनों ओर के भाग बढ़ जाते हैं, किंतु कभी-कभी केवल एक ही ओर का भाग बढ़ता है। सबसे अधिक स्पष्ट लक्षण जो रोगी पर दिखाई पड़ता है वह उसके नेत्रों के ढेलों का बाहर की ओर को निकलना है। यह प्रतीत होता है कि मानो रोगी के नेत्र बाहर को निकले पड़ते हैं। वे देखने में बड़े भयानक मालूम होते हैं। पलकों के सिकुड़ जाने के कारण नेत्र और भी बड़े दिखाई देते हैं। कभी-कभी नेत्र वास्तव में नेत्र-गुहा से बाहर निकल आते हैं। पलकों में भी कभी-कभी कंपन होता है।

साथ ही हृदय की गति बढ़ जाती है। नाड़ी प्रथम ही से ९२ या १०० प्रति मिनट चलने लगती है। आगे चलकर जब रोग बढ़ता है तब उसकी गति १४०-१६० हो जाती है। कभी-कभी हृदय इससे भी तेजी से चलने लगता है। धमनियों में स्पंदन तेजी से होता है। गले के दोनों ओर की नाड़ियों में स्पंदन देखा जा सकता है। शिराओं तक में स्पंदन होने लगता है। केशिकाएँ भी इससे बची नहीं रहतीं। वहाँ भी नाड़ी प्रतीत की जा सकती है। हाथ पर की शिराओं में नाड़ी प्रतीत होने लगती है। इससे हृदय की गति के वेग का अनुमान किया जा सकता है। कभी-कभी हृदय बड़ा दुर्बल हो जाता है और उत्तेजना की अधिकता से उसके आघात को न सम्हाल सकने के कारण विस्तृत (Dilatation of Heart) हो जाता है। इन चिह्नों के साथ शरीर में कंपनाएँ होने लगती हैं।

इस दशा की चिकित्सा ग्रंथि की क्रिया को कम करने से हो सकती है। अतएव शस्त्रचिकित्सक लोग ग्रंथि के कुछ भाग को काटकर निकाल देते हैं। कभी-कभी इससे बहुत शीघ्र आराम होता है।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १३

नेत्रोत्मेधक अवटुका वृद्धि



(From Bainbridge and Menzies)

पृष्ठ-संख्या ४२४

शरीर में इतने बड़े परिवर्तन करनेवाली इस ग्रंथि के कोष्ठों के भीतर एक रासायनिक वस्तु पाई जाती है जिसको Thyro-Iodine का नाम दिया गया है। यह आयोडिन (Iodine) का एक योग है। शरीर में पाई जानेवाली रासायनिक वस्तुओं में यह एक अद्‍भुत वस्तु है। इस वस्तु का अणु बहुत बड़ा होता है और उसमें आयोडीन की मात्रा अधिक होती है। कोष्ठों के भीतर जो श्वेत पारदर्शी स्वच्छ वस्तु भरी रहती है उसमें यह वस्तु सम्मिलित रहती है। प्रयोगों के लिये उसको ग्रंथि से पृथक् किया जा सकता है।

यह एक विचित्र बात है कि मनुष्य की सारी मानसिक शक्तियाँ, जनन शक्तियाँ इत्यादि एक छोटी सी ग्रंथि पर निर्भर करती हैं। चाहे कोई बच्चा कैसी ही तीव्र प्रखर बुद्धि को लेकर इस संसार में आवे, किंतु यदि इस ग्रंथि के सेल अपना काम करना छोड़ दें तो उसकी सारी स्वाभाविक शक्तियाँ नष्ट हो जायँगी और वह मूढ़ बन जायगा। वास्तव में इस शरीर की क्रियाएँ ऐसी विचित्र हैं और उसके भिन्न-भिन्न पुरजों का आपस में ऐसा गूढ़ संबंध है कि शरीर का उत्तम दशा में रहना या हमारा स्वस्थ रहना, एक आश्चर्य-जनक घटना है।

ग्रीवा में दो और ग्रंथियाँ होती हैं। एक का नाम बालग्रंथि (Thymus) और दूसरी का नाम उपवटुका (Parathyroid) है। बालग्रंथि जन्म के समय काफ़ी बड़ी होती है, किंतु उसके पश्चात् शीघ्र ही उसकी क्षति होने लगती है। युवावस्था तक पहुँचने पर इस ग्रंथि का अस्तित्व भी कठिनता से शेष रहता है। सारी ग्रंथि लुप्त हो जाती है। कुछ लोगों का कहना है कि यह ग्रंथि कुछ अधिक दिनों तक रहती है। कभी-कभी युवावस्था तक बढ़ती रहती है।

इस ग्रंथि का कोई विशेष कर्म मालूम नहीं है। किन्हीं-किन्हीं वैज्ञानिकों का मत है कि इस ग्रंथि का जननेंद्रियों से कुछ संबंध

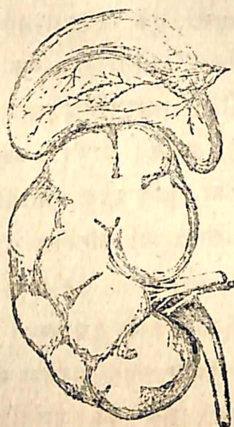
है। प्रयोगों द्वारा यह मालूम किया गया है कि यदि बाल्यकाल ही में शुक्र-ग्रंथि को निकाल दिया जाय तो इससे यह ग्रंथि जल्दी नष्ट नहीं होने पाती। और यदि यह ग्रंथि निकाल दी जाय तो जननेंद्रियाँ समय से पूर्व ही पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाती हैं।

उपवटुका भी ऐसी ही ग्रंथि है जिसके कर्म का विशेष ज्ञान नहीं है। ये दो या चार छोटी-छोटी ग्रंथियाँ होती हैं जो अवटुका से मिली हुई रहती हैं। कभी-कभी वे अवटुका ग्रंथि के भीतर ही पाई जाती हैं। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि यह वास्तव में अवटुका ही का भाग है जो परिपक्व नहीं हुआ है; आगे चलकर अवटुका का स्वरूप धारण करके उसी में मिल जायगा। किंतु अधिक लोग इस बात से सहमत नहीं हैं।

बहुतों का यह मत है कि वे अवटुका से उत्पन्न हुए एक विष का नाश करती हैं।

अधिवृक्क—ये दोनों ग्रंथियाँ मुर्गे के सिर की कलँगी की भाँति

चित्र नं० ६२—वृक्क और अधिवृक्क ग्रंथि, जैसी सामने से दीखती हैं।



वृक्क के ऊपरी सिरे पर रहती हैं। इनका आकार भी बहुत कुछ मुर्गे की कलँगी से मिलता-जुलता होता है। यह त्रिकोणाकार होती हैं। इन ग्रंथियों पर एक आवरण चढ़ा रहता है। यदि इनको भीतर से काटकर देखा जाय तो ग्रंथि में दो प्रकार की रचनाएँ दिखाई पड़ेंगी। मध्यस्थ भाग की रचना बाहर के भाग से भिन्न है। उसमें सौत्रिक तंतुओं का एक जाल दिखाई देगा जिसके भीतर अनेक केंद्र और प्रोटोप्लाज़्म मिलेंगे। वहाँ पर सेलों के बीच की दीवारें बहुत स्थानों पर उड़ गई हैं; रक्त-नलिकाओं की अधिकता है और नाड़ियाँ भी उपस्थित हैं।

बाहर के प्रांत में सेल लंबी रेखाओं में स्थित हैं और इस प्रकार उनके स्तंभ बन गए हैं। ऊपर के सेल कुछ गोल हैं किंतु उनके नीचे के सेल अधिकतर चौकोर हैं।

यह एक छोटी सी ग्रंथि है जो देखने से किसी प्रकार के विशेष गुणों से आभूषित नहीं मालूम होती। वह एक तुच्छ वस्तु सी प्रतीत होती है किंतु जब पूर्णतया खोज की गई तो बिलकुल दूसरी ही बात मालूम हुई। जब कभी यह ग्रंथि विकृत हो जाती है, उसमें किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है तो सारे शरीर में बड़ी दुर्बलता आ जाती है, शरीर के रक्त का भार कम हो जाता है, चित्त का उत्साह जाता रहता है, मस्तिष्क की शक्ति भी कम हो जाती है, वमन होने लगते हैं और साथ में चर्म का वर्ण ताँबे जैसा हो जाता है। इस रोग को ऐडीसन का रोग (Addison's disease) कहा जाता है; क्योंकि सबसे प्रथम ऐडीसन ने सन् १८८५ में इस रोग का उपवृक्क ग्रंथि से संबंध मालूम किया था। कुछ दिनों के पश्चात् ब्राउन-सीकर्ड ने इस ग्रंथि पर प्रयोग भी किए। उसने देखा कि इस ग्रंथि के निकाल डालने से पशु की मृत्यु हो जाती है।

रासायनिक परीक्षा से यह मालूम हुआ है कि ग्रंथि के मध्यस्थ भाग में एक रासायनिक वस्तु रहती है, जिसको एक जापानी विद्वान् ने, जिसका नाम टाकामीन था, मालूम किया था। इस वस्तु को ऐड्रिनेलिन (Adrenalin) के नाम से पुकारा जाता है। उसको अब रासायनिक विधियों द्वारा प्रयोगशालाओं में बनाया जाता है और चिकित्सा में उसका बहुत प्रयोग होता है।

इस वस्तु को शरीर में प्रविष्ट करने से रक्त-नलिकाएँ संकुचित हो जाती हैं और शरीर का रक्त-भार बढ़ जाता है। ऐच्छिक मांस-पेशियों की शक्ति बढ़ जाती है। अनैच्छिक मांस-पेशियों की भी क्रिया में वृद्धि होती है। हृदय की गति भी बढ़ जाती है। यदि हृदय को शरीर से भिन्न करके किसी पोषक द्रव्य में रख दिया जाय और फिर ऐड्रिनेलिन उसमें प्रविष्ट की जाय तो हृदय अधिक वेग और शक्ति से संकोच करने लगेगा।

ऐड्रिनेलिन की अनैच्छिक मांस-पेशियों पर स्वतंत्र नाड़ी-मंडल के द्वारा क्रिया होती है। अंत्रियों इत्यादि की जितनी पेशियाँ हैं उनका स्वतंत्र नाड़ियों से संबंध रहता है। इन नाड़ियों के जो सूत्र पेशियों में जाते हैं उन पर ऐड्रिनेलिन की क्रिया होती है। अतएव इस सारी क्रिया का कारण स्वतंत्र नाड़ियों के वे सूत्र हैं जो पेशियों के भीतर रहते हैं।

ऐड्रिनेलिन एक बड़ी ही तेज़ वस्तु है। यदि उस वस्तु का एक भाग जल के एक सहस्र भाग में घोल दिया जाय और उसकी एक मात्रा शरीर में प्रविष्ट की जाय तो उससे भी ऊपर कहे हुए परिणाम उत्पन्न होंगे।

साधारणतया प्रत्येक समय दोनों उपवृक्क ऐड्रिनेलिन बनाकर शरीर में भेजते रहते हैं। और वहाँ रक्त-द्वारा वह सारे स्वतंत्र नाड़ी-

मण्डल को वितरित कर दी जाती है। इसके कारण यह नाड़ी-मण्डल सदा जागृत अवस्था में रहता है और अपना काम करता रहता है। जब कभी हमको क्रोध आता है या हम किसी प्रकार उत्तेजित हो जाते हैं तो ऐड्रिनेलिन की अधिक मात्रा बनने लगती है। इसके बनने से हृदय में अधिक शक्ति आ जाती है और पेशियाँ आवश्यकता के समय तेजी से काम करने को तैयार हो जाती हैं। यह ऐड्रिनेलिन यकृत् से ग्लायकोजिन को निकालकर रक्त में पहुँचाती है, जो उसे पेशी के पास आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग करने के लिये ले जाता है। इसी शर्करा से पेशियों में शक्ति आती है।

यह ऐड्रिनेलिन बनाना ग्रन्थि के मध्य भाग का काम है। प्रांतस्थ भाग इसके बनाने में किसी कप्रार का योग नहीं देता। वास्तव में ये दोनों भाग दो भिन्न-भिन्न अंग कहे जा सकते हैं। इनका आपस में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यदि भ्रूण की उत्पत्ति और वृद्धि का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाय तो मालूम होगा कि ये दोनों भाग बिलकुल भिन्न-भिन्न स्थानों में और भिन्न प्रकार से बनते हैं और फिर दोनों मिल जाते हैं।

प्रांतस्थ भाग का कर्म अभी तक ठीक-ठीक नहीं मालूम हो सका है। बहुत लोगों का विचार है कि उसका जननेंद्रियों की वृद्धि के साथ सम्बन्ध है। यह देखा गया है कि जब कभी ग्रंथि के इस भाग में अर्बुद इत्यादि हो जाते हैं तो जनन-शक्ति का विकास समय से पूर्व हो जाता है अथवा शक्ति प्रबल हो जाती है। स्त्रियों में भी पुरुषों के समान गुण उत्पन्न हो जाते हैं। उनका गला मोटा हो जाता है; आवाज बारीक न होकर भारी हो जाती है।

अतएव इस ग्रंथि का मुख्य भाग बीचवाला प्रांत है जो ऐड्रि-नेलिन बनाता है। यदि बाहर के भाग को निकाल भी दिया

जाय तो भी उससे किसी प्रकार के दुष्परिणाम नहीं होते। किंतु मध्यस्थ भाग का निकालना घातक होता है। स्वतन्त्र नाड़ी-मंडल से यह रासायनिक निर्जीव वस्तु कैसे-कैसे कार्य करवाती है! शीत, भय इत्यादि के समय सिर पर बाल खड़े कर देना, आँखों की पुतलियों को चौड़ा कर देना, मुख से थूक का निकालना, और भी बहुत से दूसरे कर्म यह ऐड्रिनेलिन ही करवाती है।

ये दो छोटी तुच्छ ग्रन्थियाँ हमारे जीवन के लिये परमावश्यक हैं। और शरीर के मुख्य कर्मों में इनका बहुत बड़ा भाग रहता है।

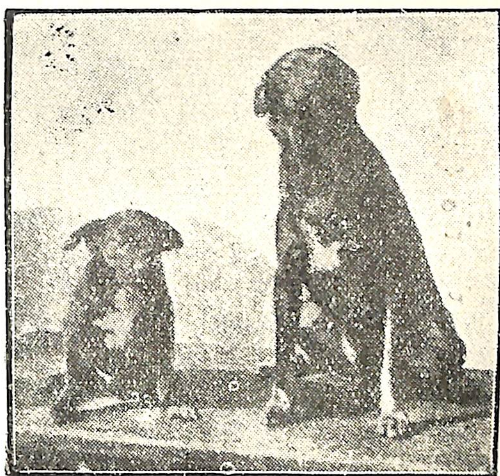
शरीर के जितने अंग हैं सब एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। सबों के कर्म भी आपस में इसी प्रकार एक दूसरे के आश्रित हैं: एक स्थान में गड़बड़ी आने से सारा यंत्र बिगड़ जाता है। यहाँ प्रत्येक अंग की भलाई इसी में है कि वह अपने साथी की भलाई करता रहे।

पीयूष-ग्रंथि (Pituitary gland)—यह ग्रन्थि मस्तिष्क में होती है। इसका आकार एक अंडे के समान होता है और यह कपाल की जतूकास्थि के एक खात में रहती है। इसकी ऊपर से नीचे तक लंबाई ⅓ इंच, चौड़ाई ½ इंच और मोटाई ¼ इंच होती है। इसके दो भाग होते हैं। एक अग्र भाग जो जतूकास्थि पर रहता है और दूसरा पिछला भाग जो एक डंठल द्वारा मस्तिष्क से संयुक्त रहता है। वास्तव में यह ग्रंथि तीन भागों में विभक्त की जा सकती है; क्योंकि काटकर देखने से इसमें तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न रचनाएँ पाई जाती हैं। इन तीनों भागों के कर्म भिन्न-भिन्न हैं और उनकी उत्पत्ति भी भिन्न है।

यद्यपि यह बहुत ही छोटी ग्रन्थि है और उपवृक्क से भी अधिक तुच्छ दीखती है, किंतु यह भी जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १४

दो कुत्ते जो एक ही समय पर एक ही माता से उत्पन्न हुए हैं। बाईं ओर के कुत्ते की पिट्यूटरी ग्रंथि निकाल दी गई है।



पृष्ठ-संख्या ४३०

एक ही व्यक्ति के चार चित्र जो भिन्न-भिन्न समय पर लिये गये हैं। उनसे रोग की वृद्धि स्पष्ट है।



२४ वर्ष की आयु; २६ वर्ष की आयु; ३७ वर्ष की आयु; ४२ वर्ष की आयु।

(From Bainbridge and Menzies)

पृष्ठ-संख्या ४३१

यदि इस ग्रंथि को काटकर निकाल दिया जाय, तो शीघ्र ही मृत्यु हो जायगी। यदि इसका अग्र भाग निकाल दिया जाय तो उसका भी यही परिणाम होगा। किंतु यदि पूरा न निकालकर उसका केवल कुछ भाग ही निकाल दिया जाय, तो उससे शरीर में चर्बी बढ़ जायगी। जब कभी ग्रंथि में किसी प्रकार का रोग हो जाता है तो उससे शरीर की चर्बी बढ़ जाती है, जनन-शक्ति क्षीण हो जाती है और मैथुन-शक्ति का ह्रास हो जाता है।

ग्रंथि का यह भाग एक आंतरिक उद्रेचन बनाता है। इसी के घटने से ऊपर कहे हुए परिणाम होते हैं। यदि यह उद्रेचन अधिक बनने लगता है, जैसा कि कभी-कभी ग्रंथि के बढ़ने से हो जाता है, तो शरीर की सारी अस्थियाँ अधिक लंबी-चौड़ी हो जाती हैं; मुँह की लंबाई और चौड़ाई बढ़ जाती है; सारे शरीर की अस्थियों में वृद्धि होती है जिससे आकार विकृत हो जाता है। इस रोग को Acromegaly कहते हैं।

ग्रंथि के बीच के भाग के सेलों का आंतरिक दृश्य अवटुका के सेलों के समान होता है। इनमें भी वैसा ही श्वेत, स्वच्छ, गाढ़ा, तरल पदार्थ भरा रहता है। किंतु इसमें आयोडीन नहीं होती। यह देखा गया है कि जब अवटुका ग्रंथि को शरीर से निकाल दिया जाता है तो इस भाग में वृद्धि हो जाती है। किंतु अवटुका और इस भाग को निकाल देने से परिणाम बिलकुल ही भिन्न होते हैं। पीयूष ग्रंथि के अग्र और मध्य भागों को निकालने से भी परिणाम भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों भागों की आंतरिक रचना भी बहुत कुछ भिन्न है।

पिछले भाग की रचना दूसरे भागों से भिन्न है। कुछ पशुओं में वह भीतर से खोखला होता है, किंतु मनुष्य में भरा हुआ और

ठोस होता है। इस भाग का मस्तिष्क के कोष्ठों से सम्बन्ध रहता है। इस भाग में जो वस्तु बनती है उसको पिट्यूटरीन (Pituitrin) कहते हैं। उसको शरीर में प्रविष्ट करने से शरीर का रक्त-भार बढ़ जाता है। किंतु यह दशा अधिक समय तक नहीं रहती। थोड़े समय के पश्चात् भार फिर कम हो जाता है। इस रक्त-भार के बढ़ने का मुख्य कारण चर्म की रक्त-नलिकाओं का सिकुड़ना है। कुछ अनैच्छिक पेशियों का, जैसे कि गर्भाशय की पेशी, इस वस्तु के प्रभाव से संकोचन होने लगता है। इस कारण प्रसव के समय इस वस्तु का इंजेक्शन दिया जाता है।

पिट्यूटरीन का वृक्क पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उसके शरीर में प्रविष्ट करने से मूत्र की अधिक मात्रा बनने लगती है। इसका कारण वृक्क की रक्त-नलिकाओं का विस्तार होना है। जहाँ चर्म की नलिकाओं का संकोच होता है वहाँ वृक्क की नलिकाओं का विस्तार हो जाता है और इससे मूत्र का बनना अधिक हो जाता है। इसके अतिरिक्त पिट्यूटरीन स्तनों में दूध अधिक उत्पन्न करती है, क्योंकि स्तनों के मांस-पेशी संकुचित हो जाते हैं।

अग्र भाग के रस को शरीर में प्रविष्ट करने से यह परिणाम नहीं होते। न मूत्र-प्रवाह बढ़ता है, न रक्त-भार बढ़ता है और न स्तनों की क्रिया ही में कुछ विशेषता होती है।

पिट्यूटरीन का हृदय को सँभालने के लिये इंजेक्शन देते हैं। जब हृदय की शक्ति क्षीण हो जाती है, जैसे निमोनिया इत्यादि रोगों में, वहाँ इस वस्तु के इंजेक्शन से बहुत लाभ होता है।

शुक्र-ग्रंथि—पुरुषों में दो शुक्र व अंड ग्रंथियाँ होती हैं जो अंडकोषों में रहती हैं। इस ग्रंथि में शुक्राणु (Sperms) बनते हैं जो अन्य कई ग्रन्थियों से उत्पन्न हुए द्रव्य में रहते हैं।

इस वस्तु को शुक्र कहते हैं। जब यह शुक्र स्त्रियों के रज से मिलता है, तो गर्भ उत्पन्न होता है।

संतानोत्पत्ति के अतिरिक्त इन० ग्रंथियों के अन्य कर्म भी हैं। यदि युवावस्था प्राप्त होने के पूर्व शुक्र-ग्रंथियों को अंडकोषों में से निकाल दिया जाय तो जननेंद्रियों के शेष भाग भी स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। साथ में पुरुषों के दूसरे लक्षण, वक्ष पर बालों का निकलना, मूँछ और दाढ़ी का उगना, आवाज में मरदानगी आना, पुरुषों की भाँति शरीर की वृद्धि इत्यादि सब रुक जाते हैं। शरीर बच्चों के समान रह जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि शरीर स्त्रियों की भाँति हो जाता है; किंतु यह सत्य नहीं है। शरीर में चर्बी बढ़ जाती है।

यदि यह प्रयोग पशुओं पर किया जाता है, तो वहाँ भी वैसे ही परिणाम निकलते हैं। मुर्गे की शुक्र-ग्रंथि निकाल देने से उसके सिर की कलँगी की वृद्धि नहीं होती। जिन पशुओं में केवल पुरुष जाति में सींग होते हैं उनमें सींग निकलने बन्द हो जाते हैं। किंतु जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों के सींग होते हैं वहाँ केवल सींगों के आकार में अन्तर पड़ जाता है।

शुक्र-ग्रंथि से जो नलिका शुक्र को बाहर लाती है उसको बाँध देने से ऐसा परिणाम नहीं होता। ग्रंथियों के जो भाग शुक्र उत्पन्न करते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। किंतु ग्रंथि में कुछ ऐसे सेल होते हैं जिनका उस पर भी नाश नहीं होता। वे उत्तम दशा में बने रहते हैं और पुरुष के लक्षण भी शरीर पर प्रकट होते हैं, जैसे कि वक्ष का चौड़ा होना, मूँछ-दाढ़ी का निकलना, इत्यादि। इसी के आधार पर वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि शुक्र-ग्रंथि भी एक आंतरिक उद्रेचन बनाती है; और वही पुरुषत्व के गौण गुणों को उत्पन्न

करती है। यह एक रासायनिक वस्तु मानी जाती है, जो नाड़ियों के द्वारा शरीर पर अपना प्रभाव डालती है।

इस संबंध में ब्राउन सीक्वर्ड के प्रयोग बहुत प्रसिद्ध हैं। उसके विचारों के अनुसार वृद्धावस्था का कारण केवल शुक्र-ग्रंथियों की क्षीणता है, जिससे यह आंतरिक उद्रेचन बनना बंद हो जाता है। इसीसे शरीर की वृद्धि बन्द हो जाती है। उसका कहना है कि यदि किसी प्रकार से ये ग्रंथियाँ उत्तम अवस्था में बनी रहें अथवा किसी प्रकार शरीर को इन ग्रंथियों का उद्रेचन मिलता रहे तो मनुष्य वृद्ध नहीं हो सकता। उसने स्वयं कुछ पशुओं के अंडकोषों से एक वस्तु तैयार की और उसको अपने शरीर में प्रविष्ट किया। उसका कथन है कि उसकी दशा में बहुत उन्नति हुई। जिस समय उसने यह प्रयोग आरंभ किया वह ७० वर्ष के लगभग हो चुका था। किंतु वह कहता है कि इसके प्रयोग से वह कम से कम बीस वर्ष आयु में तरुण हो गया। अर्थात् वह पचास वर्ष के ऐसा मालूम होने लगा।

ऐसे ही और भी बहुत से पशुओं पर प्रयोग किए गए हैं। प्रोफ़ेसर स्टिनाच (Steinach) ने चूहों पर यह प्रयोग किया है। उन्होंने शुक्र को बाहर लानेवाली नली को काट दिया जिससे वे भाग, जो शुक्राणु बनाते थे, नष्ट हो गए। किंतु ग्रंथि का दूसरा भाग, जिससे आंतरिक उद्रेचन बनता था, बहुत अधिक बढ़ गया। जिन चूहों पर यह प्रयोग किया गया था उनका प्रोफ़ेसर स्टिनाच इस प्रकार वर्णन करते हैं—

इस प्रयोग के लिये केवल वृद्ध चूहों को, जिनकी आयु लगभग २८ व ३० मास की थी, लिया गया। चूहों की यह आयु मनुष्य के ८० व ९० वर्ष की आयु के समान होती है। इन चूहों पर ऊपर कहा हुआ प्रयोग किया गया। अर्थात् उनके शुक्र-ग्रंथि की प्रणाली

को एक विशेष स्थान पर काट दिया गया। कुछ चूहों को इस ग्रंथि को, अथवा इससे बनाए हुए कुछ पदार्थों को, प्रयोग कराया गया। कुछ सप्ताह के पश्चात् उन चूहों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया।

ये चूहे प्रयोग के पूर्व बहुत ही शिथिल, अकर्मण्य, चिंतित और उदासीन भाव से रहते थे। वे अपने जीवन में किसी प्रकार का आनन्द अनुभव करते नहीं मालूम होते थे। यदि उनको भोजन की कोई वस्तु दी जाती तो बहुत धीरे-धीरे उसके पास जाते। आपस में लड़ते भी नहीं थे। यदि एक चूहा दूसरे पर आक्रमण करे तो वह अपनी रक्षा के लिये भी कोई विशेष उद्योग न करता था। यदि चुहियों को उनके साथ में रख दिया जाता तो वे उनकी ओर भी आकर्षित नहीं होते थे।

किंतु इन प्रयोगों के पश्चात् उनकी दशा में बिलकुल परिवर्तन हो गया। वे एकदम जवान के ऐसे हो गए। आपस में लड़ाइयाँ होने लगीं। भोजन में भी उनको आनन्द आने लगा। स्त्री-जाति के प्रति भी उनको राग उत्पन्न होने लगा। यहाँ तक कि वे मैथुन करने में समर्थ हो गए। उनके शरीर के गिरे हुए बाल फिर उग आए और चर्म की झुर्रियाँ बहुत कम हो गईं। उनके शरीर में स्फूर्ति आ गई और वे तेज़ी से इधर-उधर दौड़ने लगे।

ब्राउन सीक्वर्ड का कहना है कि इन प्रयोगों द्वारा मनुष्य की वृद्धावस्था भी बहुत कुछ कम की जा सकती है। इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि इन ग्रंथियों का आंतरिक उद्रेचन शरीर के लिये कितने अधिक महत्त्व की वस्तु है।

डिंभ-ग्रंथि—जिस प्रकार पुरुष में पुरुषत्व उत्पन्न करने के लिये शुक्र-ग्रंथियाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार स्त्रियों का स्त्रीपन डिंभ-ग्रंथि पर निर्भर करता है। ये दो ग्रंथि उदर में दाएँ और

बाएँ ओर स्थित होती हैं। इनके निकाल देने से मासिक धर्म बन्द हो जाता है। गर्भाशय कुम्हलाकर कर्महीन और नष्ट हो जाता है। यदि तरुणावस्था पहुँचने से पूर्व यह प्रयोग किया जाता है तो मासिक धर्म आरंभ ही नहीं होता। यदि मासिक धर्म के होने के पश्चात् प्रयोग किया जाता है तो वह बन्द हो जाता है।

इन ग्रंथियों को निकाल देने से शरीर पर और कोई हानि-कारक प्रभाव नहीं पड़ता जैसा कि पुरुषों पर शुक्र-ग्रंथि के निकाल देने से पड़ता है। स्त्रियों के बाह्य आकार इत्यादि में कोई परिवर्तन नहीं होता; किंतु कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे इन ग्रंथियों का उद्वेचन होना मानना पड़ता है।

वृद्धावस्था में इन निःस्रोत ग्रंथियों में नाश आरंभ हो जाता है। उनमें कुछ ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जिनसे उनकी क्रिया बन्द हो जाती है। इन सब ग्रंथियों का एक शृंखला है जिसके कारण यदि एक ग्रंथि नष्ट होती है तो उसका दूसरी ग्रंथि पर भी प्रभाव पड़ता है। अतएव कुछ लोगों का विचार है कि इन ग्रंथियों का उचित प्रकार से प्रयोग करने से वृद्धावस्था का रोग बहुत कुछ कम हो सकता है।

हमारी दैनिक क्रियाओं के करने के लिये ये ग्रंथियाँ आवश्यक हैं। हम देख चुके हैं कि हमारे शरीर के आकार, व्यवहार और भिन्न-भिन्न क्रियाओं पर इन ग्रंथियों द्वारा बनाई हुई वस्तुओं का कितना प्रभाव पड़ता है। यदि हृदय, फुस्फुस और मस्तिष्क जीवन के लिये आवश्यक हैं तो ये ग्रंथियाँ भी कुछ कम महत्त्व की नहीं हैं। पुरुष में यदि पुरुषत्व न हो तो उसका जीवन व्यर्थ है; स्त्री में यदि स्त्रीपन न हो तो वह अपना सांसारिक उद्देश पूरा नहीं कर सकती। यह गुण प्रदान करना इन ग्रंथियों का मुख्य काम है।

ज्ञानेंद्रियाँ

शरीर में पाँच बड़ी ज्ञानेंद्रियाँ हैं जिनसे वह भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है। रसना व जिह्वा के द्वारा वह रस का आस्वादन करता है। नेत्रों के द्वारा जगत् के सौंदर्य और प्रकृति की महिमा का अनुभव करता है। कर्णों द्वारा वायु में उत्पन्न हुई लहरें कर्ण की झिल्ली में होकर मस्तिष्क को शब्द का बोध कराती हैं। नासिका द्वारा उसे मालूम हो जाता है कि कोई वस्तु उसके प्रयोग करने योग्य है या नहीं। और अंत में त्वचा की स्पर्श-शक्ति से उसको ज्ञान हो जाता है कि उस पर किसी प्रकार का आघात तो नहीं किया जा रहा है।

ये सब ज्ञानेंद्रियाँ हमारे अस्तित्व के लिये कैसी आवश्यक हैं? जो लोग दुर्भाग्य-वश किसी प्रकार किसी इंद्रिय से वंचित हो गए हैं वे उनका मूल्य पूर्णतया जानते हैं। जिन लोगों के नेत्र जाते रहते हैं वे अपना जीवन बिलकुल भार समझते हैं। पद-पद पर उनको ठोकर खानी पड़ती है। संसार के लिये उनका जीवन निरर्थक हो जाता है। जो लोग कर्णों से बधिर हो जाते

हैं उनके लिये संसार से शब्द का सौंदर्य और मधुरता मानों उठ जाती है। स्वाद की शक्ति का नाश होने से मनुष्य किसी प्रकार के रस का आनंद नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार दूसरी इंद्रियों को भी समझना चाहिए। शरीर में कोई भी रचना ऐसी नहीं है जिसको शरीर सहज में त्याग सके, यद्यपि समय पड़ने पर सब कुछ करना पड़ता है।

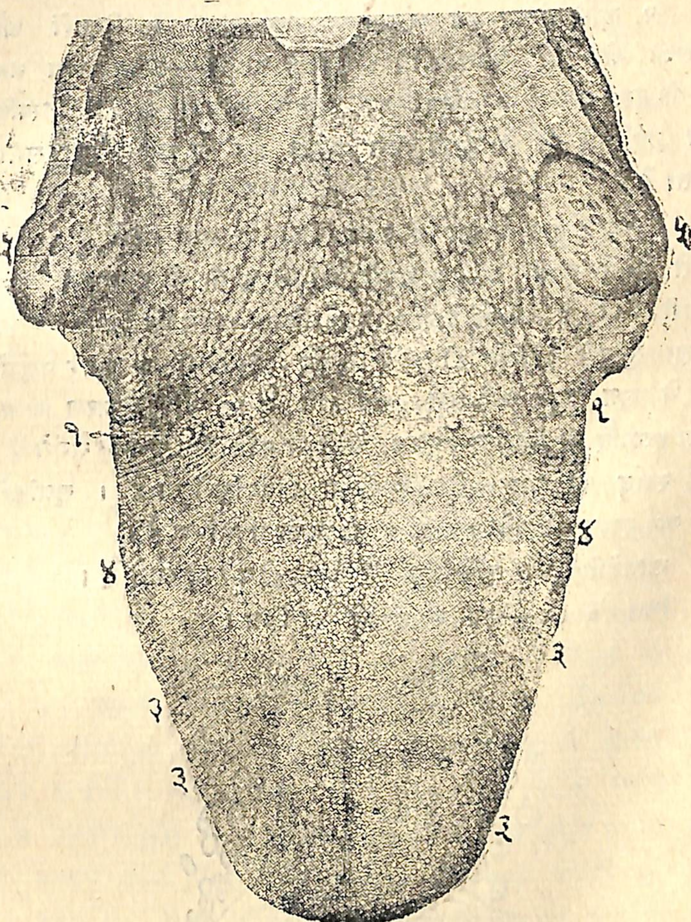
जिह्वा—रस आस्वादन इस अंग का प्रधान कर्म है। भाषण करने में जो काम इसको करना पड़ता है वह स्पष्ट है। किंतु इसका ज्ञान कर्म एक विचित्र कर्म है। किस प्रकार जिह्वा तीखा, मीठा, नमकीन इत्यादि स्वादों को पृथक्-पृथक् पहचान लेती है?

जिह्वा मांस-पेशियों द्वारा निर्मित है। इन पेशियों के संकोच और विस्तार से उसके आकार में परिवर्तन होते हैं। इन मांस-पेशियों के ऊपर एक श्लैष्मिक कला चढ़ी रहती है। किंतु इस स्थान की श्लैष्मिक कला में यह विशेषता होती है कि उसमें बहुत से अंकुर ऊपर की ओर निकले रहते हैं। जिह्वा के पीछे के भाग को ध्यान से देखने से मालूम होगा कि वहाँ बहुत से दाने हैं। ये ही दाने अंकुर हैं।

ये अंकुर जिह्वा के आगे के तीन चौथाई भाग पर मिलते हैं। इसके पीछे नहीं होते। तीन प्रकार के अंकुर देखे जाते हैं।

१. खातवेष्टितांकुर—ये आठ व दस होते हैं और जिह्वा के पीछे के भाग पर स्थित होते हैं। सबसे बीच में एक हलका सा गढ़ा होता है। उसके चारों ओर एक हल्की सी गहराई होती है। उसके पश्चात् श्लैष्मिक कला एक दीवार की भाँति ऊँची होकर खात को वेष्टित कर देती है। इस दीवार में वे अंग रहते हैं जिनका कर्म रसास्वादन है। इनको स्वादकोष कहते हैं।

चित्र नं० ९३—जिह्वा का ऊपरी पृष्ठ, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के अंकुर स्थित हैं। चित्र में कंठ का पिछला भाग भी दिखाया गया है।



१—खातवेष्टितांकुर। २, ३—छत्रिकांकुर। ४—सूत्रांकुर। ५—गल-ग्रंथि (Tonsils)। (Sappey)

खात के भीतर बहुत छोटी-छोटी ग्रंथियाँ रहती हैं जो एक प्रकार का तरल बनाती हैं।

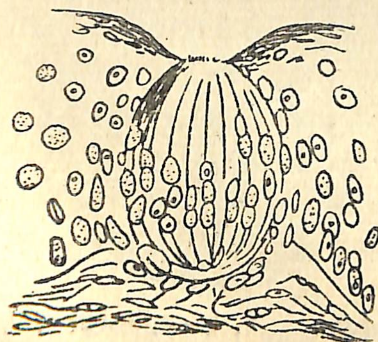
२. छत्रिकांकुर—ये अंकुर विशेषकर जिह्वा के किनारों और उसकी नोक पर स्थित होते हैं। यह नाम इस कारण रखा गया है कि इस प्रकार के अंकुरों का आकार छत्रिका नामक वनस्पति, जो वर्षाकाल में यतस्ततः उग आती है, के बहुत कुछ समान होता है।

३. सूत्रांकुर—जिह्वा के ऊपर बीच के भाग में ये अंकुर फैले रहते हैं। इनकी संख्या सबसे अधिक होती है। बहुधा इनके ऊपरी सिरे से बहुत बारीक सूत्र निकले रहते हैं जिनके कारण जिह्वा खुरदरी मालूम होती है। कुछ मांसाहारी व दूसरे पशुओं में ये सूत्र बहुत बड़े और कड़े होते हैं। इन्हीं के कारण गाय, भैंस इत्यादि की जिह्वा पर हाथ फेरने से काँटे से चुभने लगते हैं।

स्वाद का काम खातवेष्टित और छत्रिकांकुरों का है। सूत्रांकुरों का कर्म स्वाद की अपेक्षा स्पर्श का ज्ञान करना अधिक है।

खातवेष्टित और छत्रिकांकुरों में स्वादकोष पाये जाते हैं।

चित्र नं० ६४—एक स्वादकोष का चित्र।



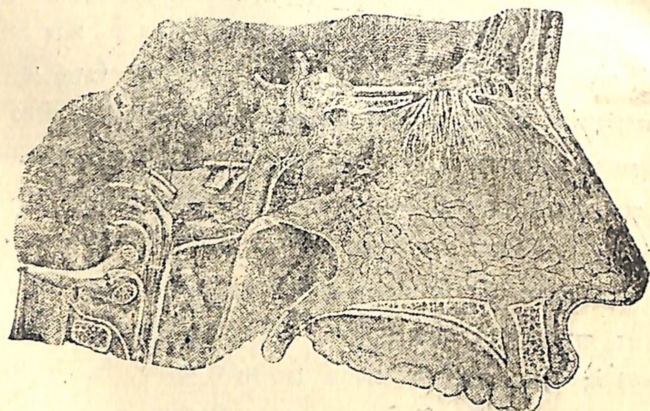
आस्वादन वास्तव में इन स्वादकोषों का कर्म है। इनकी रचना भी विचित्र होती है। लंबे-लंबे सेल आपस में ग्रंथित होकर एक ग्रंथि के आकार में आ जाते हैं और उनके ऊपर के सिरे से बहुत सूक्ष्म बाल के समान सूत्र निकले रहते हैं। इन बीच के स्वादसेलों के ऊपर एक दूसरी भाँति के सेलों का आवरण चढ़ा रहता है। इन स्वादकोषों के भीतर स्वादसेलों के चारों ओर नाड़ी के सूत्रों का एक जाल सा बना रहता है।

जिह्वा के पीछे का भाग, उसके दोनों किनारे और उसका अग्र भाग रसास्वादन की शक्ति रखते हैं। जिह्वा के ऊपरी तल में रसास्वादन की बहुत कम शक्ति है। मीठा स्वाद अनुभव करने की सबसे अधिक शक्ति जिह्वा के आगे की नोक में है। कड़ुवा स्वाद जिह्वा के पीछे के भाग को अनुभव होता है और तीखा दोनों ओर के किनारों को। लवण का स्वाद भी जिह्वा के अग्र भाग की नोक को अन्य भागों की अपेक्षा अधिक मालूम होता है। यह प्रयोग बहुत सहज में किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को जल में घोलकर एक उत्तम बालों के ब्रुश (Camel-hair brush) से जिह्वा पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर लगाना चाहिए। किंतु यह ध्यान रहे कि जिस ब्रुश से इन वस्तुओं को जिह्वा पर लगाया जाय उसकी नोक अत्यंत बारीक होनी चाहिए और भिन्न वस्तुओं के घोल को इस प्रकार लगाना चाहिए कि वे आपस में मिलने न पावें। नहीं तो कई स्वाद मिलकर बहुत से स्थान पर फैल जायँगे और स्थान का निर्णय करना कठिन होगा। ऐसा करने से मालूम होगा कि कोई-कोई अंकुर तो चारों स्वादों को अनुभव करता है, किंतु दूसरे केवल एक ही स्वाद का अनुभव करते हैं। यह माना जाता है कि मुख्य चार स्वाद हैं जिनका ऊपर

उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त दूसरे सब स्वाद भिन्न-भिन्न स्वादों के मिलने से उत्पन्न होते हैं।

जिह्वा में तीन नाड़ियाँ आती हैं। प्रश्न यह है कि कौन सी नाड़ी स्वाद से संबंध रखती है ? इस पर बहुत मतभेद रहा है। किंतु आजकल यह माना जाता है कि स्वाद कर्म मुख्यतया जिह्वा कंठिका (Glosso pharyngeal) नामक नाड़ी का है जो मस्तिष्क से निकलनेवाली नवीं नाड़ी है। दूसरी नाड़ियाँ विशेषकर जिह्वा के पेशियों की संचालक हैं। उनमें स्वाद को अनुभव करने की बहुत कम शक्ति है।

चित्र नं० १९—घ्राण-नाड़ी का नासिका-फलक पर वितरण।



घ्राणेंद्रिय—नासिका घ्राणेंद्रिय है। इसका कर्म गंध का अनुभव करना है। यह शक्ति नासिका के आंतरिक रचना के ऊपर चढ़ी हुई श्लैष्मिक कला में स्थित है। वह भी सारी कला इस शक्ति से संयुक्त नहीं है। उसका थोड़ा-सा भाग गंध का अनुभव

करता है। कुछ पशुओं में इस कला का बहुत अधिक भाग इस शक्ति से संयुक्त होता है।

इस कला पर नाड़ियों के सूत्रों का एक जाल-सा फैला हुआ है, जैसा चित्र के देखने से स्पष्ट हो जायगा। ये सब घ्राण-नाड़ियों की शाखाएँ हैं जो मस्तिष्क से निकलनेवाली प्रथम नाड़ी है। गंध का अनुभव करना इसी का कार्य है। गंध के द्वारा उत्तेजित होकर ये नाड़ियाँ मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करती हैं।

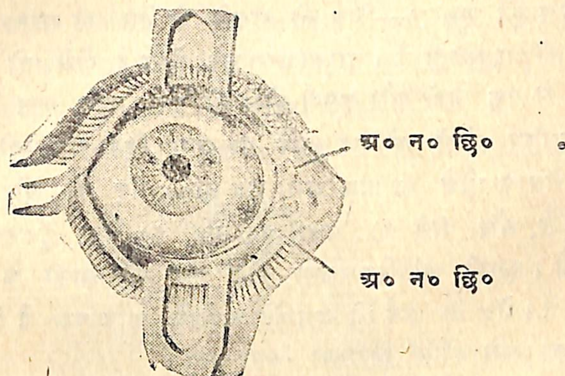
यद्यपि मनुष्य में यह शक्ति बहुत कम विकसित हुई है, तो भी प्रयोगों द्वारा मालूम हुआ है कि वह $\frac{६}{१००,०००,०००}$ रत्ती मुश्क तक को सूँघ सकता है। इस शक्ति की परीक्षा करने के लिये कपूर को जल में घोलकर काम में लाया जाता है। दो नलियों में साधारण जल और दूसरी दो नलियों में कपूर का जल लिया जाता है। यह जल भिन्न-भिन्न शक्तियों का बनाया जाता है। प्रथम सबसे अधिक कपूर की मात्रावाले जल को सुँघाते हैं। पश्चात् धीरे-धीरे कपूर की शक्ति को घटाते जाते हैं और उन घोलों को क्रम से सुँघाते हैं। यहाँ तक कि जल और कपूर घोल में भिन्नता मालूम होनी बंद हो जाती है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का भी घ्राणेंद्रिय पर प्रभाव मालूम किया गया है।

नेत्र

नेत्रों का काम देखने का है। नेत्रों में जब कुछ विकार आ जाता है अथवा उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है तब हम कुछ भी नहीं देख सकते। किंतु तनिक सा विचार करने से मालूम होगा कि जिसको हम देखना कहते हैं, वह कर्म वास्तव में मस्तिष्क में होता है। नेत्र केवल बाह्य वस्तुओं के चित्र खींचनेवाले हैं; उन चित्रों को देखने और समझनेवाला मस्तिष्क है। जिस प्रकार केमरे के प्लेट पर बाह्य वस्तु का चित्र खिंच जाता है; किंतु उसको देखना और समझना व तैयार करना एक दूसरे ही मनुष्य का कर्म है, उसी प्रकार हमारे नेत्रों के अन्तिम पटल पर संसार का, जिसे हम अपने चारों ओर देखते हैं, एक चित्र खिंच जाता है; किंतु उसको समझना मस्तिष्क का कर्म है। मस्तिष्क में यह अद्भुत शक्ति है कि वह न केवल किसी वस्तु के चित्र को समझता ही है; किंतु उसे संग्रह कर लेता है और फिर काम पड़ने पर उसे स्पष्ट कर देता है। एक बार हम जिस वस्तु को देख लेते हैं, उसका हमारे मस्तिष्क में एक प्रकार का चित्र-सा बन जाता है, जो आवश्यकता न होने

पर हमारे ध्यान में भी नहीं आता। किंतु ज्यों ही हम उसको देखना चाहते हैं अथवा यदि उस वस्तु का हमें तनिक सा स्मरण भी हो आता है, तो वह मानसिक चित्र हमारे सामने आ जाता है।

चित्र नं० ९६—दाहना नेत्र जैसा सामने की ओर से दीखता है।



अ० न० छि०—अश्रुनलिका का छिद्र।

हमारे दोनों नेत्र कपाल की दो नेत्र-गुहाओं में स्थित हैं। इन दोनों नेत्रों के गोलों को ऊपर से ढकनेवाले दो पलक होते हैं, जो उनकी रक्षा किया करते हैं। इन पलकों के किनारों पर कुछ बाल होते हैं, जिनको अक्षिलोम कहते हैं। इनका कर्म भी नेत्र की रक्षा करना है। वायु में सम्मिलित छोटे-छोटे कण इन बालों में फँस जाते हैं और उनसे नेत्र की रक्षा होती है।

नेत्र-गुहा में ऊपर और बाहर के कोने में एक ग्रंथि रहती है, जिसका कर्म अश्रु बनाना है। अतएव यह अश्रुग्रंथि (Lacrimal gland) कहलाती है। उससे एक बड़ी नलिका निकलती है, जो ऊपर के पलक के नीचे रहती है। उससे कई छोटी-छोटी शाखाएँ निकलती हैं, जिनके द्वारा अश्रु प्रत्येक समय नेत्रों के गोलकों

पर बहा करते हैं। इससे नेत्र के गोले कभी शुष्क नहीं होने पाते। एक नलिका नासिका के भीतर तक चली जाती है। यही कारण है कि अश्रु-प्रवाह के समय नाक से भी जल गिरने लगता है। वह वास्तव में अश्रु ही होते हैं।

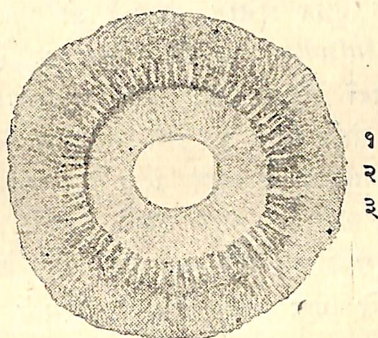
नेत्र की रचना—चित्र को देखने से नेत्र की रचना सहज ही में समझी जा सकती है। इसका आकार ऐसा है, जैसे दो गेंदों के, जिनमें से एक बड़ी और दूसरी छोटी हो, कुछ भाग काट दिए गए हों और फिर दोनों को एक दूसरे पर लगा दिया गया हो। इस प्रकार नेत्र के गोले का अग्र भाग एक छोटी गेंद का छोटा टुकड़ा दीखता है, और पीछे का भाग बड़ी गेंद का बड़ा टुकड़ा मालूम होता है। इसकी आंतरिक रचना ठीक एक फोटोग्राफ़ी के केमरे के समान है। नेत्र के कर्म को समझने के लिये आवश्यक है कि इसकी रचना का भली भाँति निरीक्षण किया जाय।

नेत्र-गोलक का सबसे बाहरी भाग बहि:पटल (Sclera) का बना हुआ है। यह पटल सौत्रिक तंतुओं से निर्मित है। इसके भीतर की ओर एक दूसरा पटल रहता है, जिसको मध्य पटल (Choroid) कहते हैं। मध्य पटल के भीतर की ओर एक तीसरा पटल है, जो अन्तःपटल (Retine) कहा जाता है, और जो देखने के कर्म से विशेष संबंध रखता है। इस प्रकार यह गोला इन तीनों पटलों से बना हुआ है। इन पटलों के भीतर एक प्रकार की गाढ़ी तरल स्वच्छ अत्यंत पारदर्शक वस्तु रहती है। यह वस्तु नेत्र के अग्र भाग और पिछले भाग दोनों में भरी रहती है। इसके अतिरिक्त अग्र और पश्चात् भागों के बीच में एक ताल (Lens) स्थित है। इस ताल पर आगे की ओर मध्य पटल से निकला हुआ एक प्रवर्द्धन लगा रहता है, जो आयरिस

(Lris) कहलाता है । दोनों ओर के आयरिसों के बीच के छिद्र को तारा (Pupil) कहते हैं।

सबसे बाहर का बहिःपटल जब नेत्र के अग्र भाग पर आता है, जहाँ पीछे की ओर आयरिस और तारा स्थित हैं, तो उसकी रचना कुछ बदल जाती है । वह बिलकुल स्वच्छ हो जाता है, जिससे उसके द्वारा प्रकाश की किरणें भीतर प्रवेश कर सकें । यह भाग कनीनिका (Cornea) कहलाता है।

चित्र नं० ६७—सिलियरी प्रवर्द्धन जैसे कि पीछे से दीखते हैं।



१—आयरिस का पिछला पृष्ठ । नेत्र-संकोचक-पेशी इसमें सम्मिलित है ।

२—मध्य पटल (Choroid) का अग्र भाग ।

३—सिलियरी प्रवर्द्धन (Ciliary processes) ।

पीछे का मध्य पटल वास्तव में नेत्र का रक्तमय पटल है, जो रक्त की अत्यंत सूक्ष्म नलिकाओं के मिलने से बना है । साथ में उनको आश्रय देने के लिये कुछ सौत्रिक धातु भी रहती है । यह पटल नेत्र-गोलक के चारों ओर होता हुआ आगे जहाँ ताल स्थित है वहाँ तक पहुँच जाता है । इसका अंतिम भाग कई प्रवर्द्धनों के

रूप में ताल के किनारों पर लग जाता है । ये सिलियरी प्रवर्द्धन (Cilsry Processes) कहलाते हैं। इन प्रवर्द्धनों के बाहर की ओर एक पेशी होती है, जिसका नाम सिलियरी पेशी (Ciliary mnscle) है।

इस पेशी के अतिरिक्त तारे के चारों ओर अनैच्छिक मांस-पेशियों का एक हलका सा घेरा रहता है। यह पेशी कनीनिका का संकोचक होता है।

आयरिस के पीछे स्थित ताल एक कोष से ढका हुआ रहता है। इस ताल को एक बंधन सँभाले रहता है, जो एक ओर ताल से और दूसरी ओर सिलियरी प्रवर्द्धननों से लगा रहता है।

वह स्थान, जहाँ बहिःपटल और कनीनिका का मेल होता है, नेत्रों के कई रोगों से संबंध रखता है। इसी स्थान पर सिलियरो प्रवर्द्धन, आयरिस और कनोनिका से संगम होता है। कनीनिका का सबसे पिछला परत और बीच का भाग दोनों आयरिस के साथ मिल जाते हैं। आयरिस के कुछ सूत्र और कनीनिका के सबसे पिछले परत के मिलने से एक बंधन बनता है, जिसको कनीनिका का सच्छिद्र बंधन (Ligmentum Pectenatum Iridis) कहते हैं। यह संगम का स्थल आयरिस का कोण (Iridic angle) कहलाता है। कोण के तल में आयरिस के सूत्र कुछ विच्छिन्न होते हैं और इनमें लसीका प्रवाह करता रहता है। इस स्थान में एक ओर तो लसीका बनता है, और दूसरी ओर उसका शोषण हो जाता है, जिससे लसीका संवहन का एक चक्र जारी रहता है।

सबके भीतर अन्तःपटल स्थित है। देखने का कर्म इसी पटल का है। अतएव इसकी संपूर्णतः व्याख्या करना आवश्यक है। यह

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १६

चाक्षुष बिंब और पीत बिंदु



(From Swanzy's "Diseases of the Eye")

(हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ४४८

पटल नेत्र-गोलक के अगले $\frac{1}{6}$ भाग में नहीं रहता। सिलियरी प्रवर्द्धनों के पास ही उसका अंत हो जाता है। यह पटल वास्तव में नाड़ी के सूत्रों से बना हुआ है।

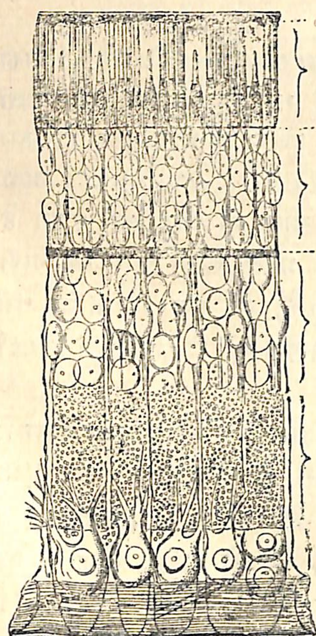
पीछे की ओर पटल पर एक छोटा सा उभार होता है, जिसकी परिधि $\frac{1}{24}$ इंच होती है। इसका रङ्ग कुछ हलका सा पीला होता है। इस उभार के बीच में एक हलका सा गढ़ा होता है। इस पीत रङ्ग के उभार को पीत बिंदु (Yellow spot) कहा जाता है। पीत बिंदु के लगभग $\frac{1}{10}$ इंच भीतर की ओर वह स्थान है जहाँ नेत्र की दृष्टि-नाड़ी नेत्र के भीतर प्रवेश करती है। यह नाड़ी वास्तव में मस्तिष्क ही का एक भाग है, जो इस रूप में नेत्र तक चला आता है। जिस स्थान पर यह नाड़ी नेत्र से निकलती है वहाँ बहुत से छिद्र रहते हैं।

अंतःपटल को सूक्ष्मदर्शक यंत्र के द्वारा देखने से मालूम होता है कि वह दस प्रकार के भिन्न-भिन्न स्तरों के मिलने से बना हुआ है। इन भागों में नाड़ी-सेलों की ही अधिकता दीखती है। इस पटल का विशेष भाग वह है, जिसको 'दंड और शंकु' (Rods and cones) का नाम दिया गया है। ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के सेल होते हैं। दोनों के आकार में भिन्नता होने के कारण उनको भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं।

चित्र को देखने से मालूम होगा कि दंड और शंकु दोनों के शरीर दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं। एक भाग तो डंडे के समान है और दूसरा भाग जो पीछे की ओर रहता है, ये दोनों में भिन्न है। दंड का बाहरी भाग आकार में पहले भाग के ही समान है, किंतु वह स्वच्छ है। कोन का दूसरा भाग एक छोटे से नोकीले डंडे के समान है, जो नीचे से चौड़ा है, किन्तु ऊपर जाकर पतला हो

जाता है। पक्षियों के अन्तःपटल में कोन अधिक होते हैं; मनुष्य

चित्र नं० ९८—मनुष्य के अन्तःपटल के परिच्छेद का कल्पित चित्र।



के नेत्र में दंड की अधिक संख्या मिलती है; किंतु पीत बिंदु के गढ़े में केवल कोन ही उपस्थित है और उनकी संख्या ३०,००,००० के लगभग अनुमान की जाती है।

अंतःपटल का सबसे अंतिम भाग रंजक कणों का बना हुआ है। ये बड़े-बड़े अष्ट-कोणी सेल हैं और उनसे कुछ सूत्र निकल कर दंड के मूल को चारों ओर से घेर लेते हैं।

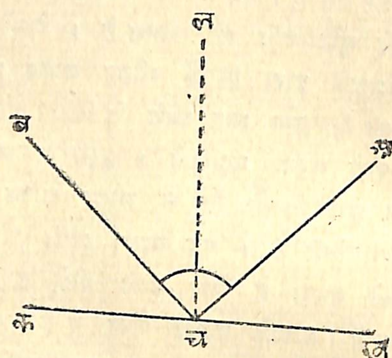
इस रचना के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नेत्र की बना-

यह बिलकुल केमरे के समान है। सबके आगे प्रकाश के भीतर जाने के लिये केमरे में एक छिद्र होता है और उसके पीछे लेंस रहता है, वैसे ही हमारे नेत्रों में कुनीनिका के पीछे तारा है। केमरों में जिस छिद्र के द्वारा प्रकाश की किरणें भीतर प्रवेश करती हैं, उसके घटाने-बढ़ाने का प्रबंध रहता है। प्रकाश के अधिक होने पर छिद्र को छोटा कर देते हैं, जिससे अधिक प्रकाश भीतर पहुँचकर चित्र को न बिगाड़ सके। प्रकाश के कम होने पर छिद्र को चौड़ा कर देते हैं। नेत्र में भी ऐसा ही प्रबंध है। आयरिस नेत्र के तारे को छोटा-बड़ा कर सकता है। केमरे में काँच का लेंस रहता है, जिसके द्वारा किरणें भीतर जाकर छायाचित्र बना देती हैं। चित्र को बिलकुल स्पष्ट करने के लिये लेंस को आवश्यकतानुसार आगे-पीछे करना पड़ता है। इसी प्रकार नेत्र में ताल रहता है, जिसके द्वारा किरणें नेत्र के भीतर जाकर अंतःपटल के प्लेट पर चित्र बना देती हैं। यह ताल, जैसी आवश्यकता होती है, कभी आगे को बढ़ता है और कभी पीछे हटता है, जिससे चित्र स्पष्ट बनता है। हमको बहुधा पास व दूर की वस्तुओं को ध्यान से देखना पड़ता है। उस समय यह ताल आगे बढ़ता व पीछे हटता है और उसी के अनुसार अंतःपटल पर चित्र बन जाता है।

नेत्र की रचना का कुछ ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अब हमको यह देखना है कि यह चित्र अंतःपटल पर किस प्रकार बनता है। प्रकाश अपनी यात्रा में सब स्थान और काल में भौतिक नियमों का पालन करता है। प्रकाश की किरणें सीधी रेखा में यात्रा करती हैं। उनके मार्ग में कोई घुमाव या मोड़ नहीं होता। जब वे किसी वस्तु पर टकराती हैं तो उससे टकराकर एक दूसरे

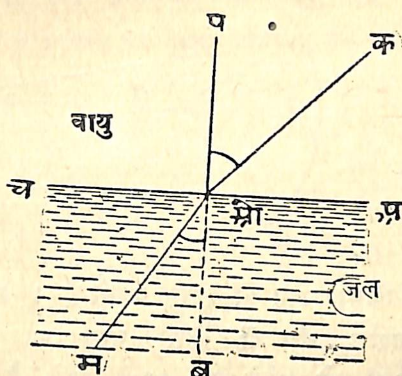
मार्ग से वे फिर लौटती हैं। यह एक साधारण बात है कि यदि एक गेंद को दीवार पर मारें, तो दीवार से टक्कर खाकर गेंद फिर लौट आता है। जितने वेग से गेंद को मारा जायगा, उतने ही वेग से गेंद लौटेगा। यही बात प्रकाश की किरणों के बारे में सत्य है। यदि वह वस्तु, जिस पर प्रकाश की किरणें टकराती हैं, पूर्णतया समतल है तो प्रकाश की रश्मि उस वस्तु के तल तक पहुँचने में जो कोण बनाएगी, उसके लौटने में भी उतनी ही

चित्र नं० ६६



डिगरी का कोण बनेगा। चित्र के देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। क ख तल पर अ च प्रकाशरेखा गिरती है। च स्थान पर टकराकर च ब मार्ग से फिर लौट जाती है। किंतु लौटने में तल के साथ वह उतना ही कोण बनाती है जितना कि तल पर आने के समय उसने बनाया था। अ च ख कोण ब च क कोण के बराबर है। किंतु यदि क च ख तल मुड़ा हुआ होगा तो रेखा का मार्ग बिलकुल बदल जायगा। जितने मुड़े हुए तल हैं वे एक ताल की भाँति व्यवहार करते हैं।

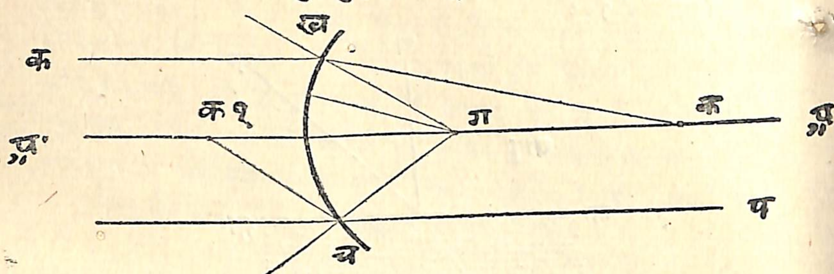
चित्र नं० १००



जब प्रकाश की रेखा को एक वस्तु से दूसरी वस्तु में होकर जाना पड़ता है तो उसका मार्ग बदल जाता है। दोनों वस्तुओं के संगम-स्थान पर प्रकाश-रेखा मुड़ जाती है। यदि रेखा वायु-मंडल से जल में जा रही है तो जहाँ वायु और जल मिलते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि जल के तल पर ही उसका मार्ग कुछ बदल जायगा। इस घटना को वर्त्तन कहते हैं।

मुड़े हुए लेंस या ताल के तल पर प्रकाश-रेखा का व्यवहार भिन्न होता है। प्रत्येक लेंस का एक अक्ष होता है। यह उस रेखा का नाम है जो लेंस के गोलाई के केंद्र में होती हुई निकलती है। जो किरणें लेंस के अक्ष के समानांतर जाकर उस पर टकराती हैं, वे लेंस में होती हुई वर्त्तित होकर पीछे की ओर को एक स्थान पर मुख्य अक्ष को काटती हुई निकल जायँगी। जिस स्थान पर पीछे की ओर वे अक्ष की रेखा से मिलती हैं, वह पीछे का किरण केंद्र कहलाता है। इसी प्रकार एक आगे का किरण-केंद्र होता है।

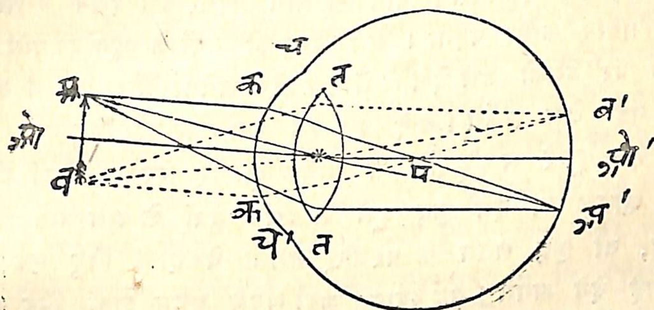
चित्र नं० १०१—मुड़े हुए पृष्ठ के द्वारा प्रकाश-किरणें।



इन केंद्रों पर ही किसी वस्तु की छाया बनती है। हम फ़ोटो लेते समय व सूक्ष्मदर्शक यंत्र में किसी वस्तु का निरीक्षण करते समय उसके लेंसों को आगे-पीछे हटाते रहते हैं। यहाँ तक कि वस्तु का, जिसे हम देख रहे हैं, चित्र बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। यह घटाना-बढ़ाना इसी लिये होता है कि वस्तु की किरणें किरण-केंद्र पर जाकर छायाचित्र बनावें। जब तक यह नहीं होता, चित्र धुँधला रहता है।

हमारे नेत्र में कई मुड़े हुए तल हैं, जिन पर प्रकाश-किरणों को मुड़ना पड़ता है। सबसे पूर्व कनीनिका का ऊपरी तल एक मुड़ा हुआ ताल है। उसके पश्चात् अग्रकोष्ठ में एक तरल वस्तु भरी हुई है, जहाँ प्रकाश का वर्तन होता है। उसके पश्चात् फिर ताल आता है। इसके आगे-पीछे दोनों ओर के तल उन्नतोदर हैं। अतएव जब प्रकाश-रेखा इसके भीतर प्रवेश करती है तब उसका मार्ग बदलता है; जब उससे निकलती है तब फिर मार्ग का परिवर्तन होता है। ताल के पश्चात् फिर पश्चात् कोष्ठ में रेखा को विकृत होना पड़ता है। इस प्रकार अंतःपटल तक पहुँचते हुए प्रकाश-रेखा को कई स्थानों पर मुड़ना पड़ता है।

चित्र नं० १०२—नेत्र में प्रकाश की किरणों का मार्ग, जिससे अंतःपटल पर स्पष्ट प्रतिबिंब बनता है। चित्र से विदित होता है कि पटल पर बाह्य वस्तु का उलटा प्रतिबिंब बनता है।



भौतिक नियमों के अनुसार हमारे नेत्र के भीतर जो चित्र बनता है, वह उलटा होता है। यदि हम किसी मनुष्य को देखते हैं तो उसका जो चित्र हमारे नेत्र के भीतर बनेगा, उसमें मनुष्य के पाँव तो ऊपर होंगे और उसका सिर नीचे होगा। अंतःपटल एक मुड़ा हुआ तल है; किंतु चित्र इतने छोटे स्थान पर बनता है कि वह समतल ही समझा जा सकता है। किंतु यह एक गूढ़ प्रश्न है कि जब हमारे नेत्र के भीतर जो चित्र बनता है, वह उलटा होता है तो उस वस्तु व व्यक्ति को हम सीधा किस प्रकार से देखते हैं। यह मस्तिष्क का काम है। देखना और समझना, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नेत्र के कर्म नहीं, किंतु उनका संबंध मस्तिष्क से है। किसी वस्तु के आकार व स्थान का निश्चय नेत्र पर नहीं निर्भर करता; किंतु वह कार्य मस्तिष्क के द्वारा होता है। हम अनुभव द्वारा वस्तुओं के आकार का ज्ञान करना सीख गए हैं और उन्हीं के द्वारा हम किसी वस्तु की दूरी का अनुमान करते हैं।

समीप-स्थान और अनुकूलन—नेत्रों के दूर और पास देखने की शक्ति परिमित है। यदि हम किसी वस्तु को पास करते जायँ तो कुछ दूरी तक तो उस वस्तु को हम सहज ही में देखते जायँगे; किंतु एक विशेष स्थान से आगे बढ़कर उसे देखने के लिये हमें प्रयत्न करना पड़ेगा। उस वस्तु को नेत्रों के बहुत ही पास ले जाने पर हमको उसे देखने में कष्ट होने लगेगा और अंत में हम उसे नहीं देख सकेंगे। यदि हम एक काग़ज़ पर दो बिंदु बना दें, जो एक दूसरे से $\frac{1}{12}$ इंच से अधिक दूरी पर स्थित न हों और उस काग़ज़ को हम कुछ दूरी से बराबर नेत्रों के पास लाते चले जायँ, तो कुछ समय के पश्चात् हमको वे दोनों बिंदु एक ही दिखाई देने लगेंगे। वह स्थान, जहाँ सबसे प्रथम दोनों बिंदु एक दिखाई देते हैं, 'समीप-स्थान' कहलाता है। वह नेत्र से कोई छः इंच की दूरी पर है। नेत्र को समीप देखने में प्रयत्न करना पड़ता है। यदि नेत्र उसी अवस्था में रहें जिसमें कि वह दूरवर्ती वस्तुओं को देखते हैं तो पास की वस्तुओं का अंतःपटल पर स्पष्ट चित्र नहीं बन सकता। ऐसा करने के लिये नेत्र के भीतर स्थित ताल को अपने आकार में कुछ परिवर्तन करना पड़ता है। इसका आगे का तल अधिक उन्नतोदर हो जाता है और इस प्रकार वह कनीनिका के अधिक पास पहुँच जाता है। कनीनिका का आकार पूर्ववत् ही रहता है। लेंस के पिछले पृष्ठ में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस क्रिया को पश्चिमीय विद्वान् Accomodation कहते हैं; अर्थात् ताल अपने को आवश्यकतानुसार अनुकूल बना लेता है। यह कर्म सिलियरी पेशी का है, जिसके संकोच करने से ताल आगे को बढ़ जाता है। जब पेशी का संकोच समाप्त हो जाता है तो ताल फिर अपनी पूर्व दशा में आ जाता है।

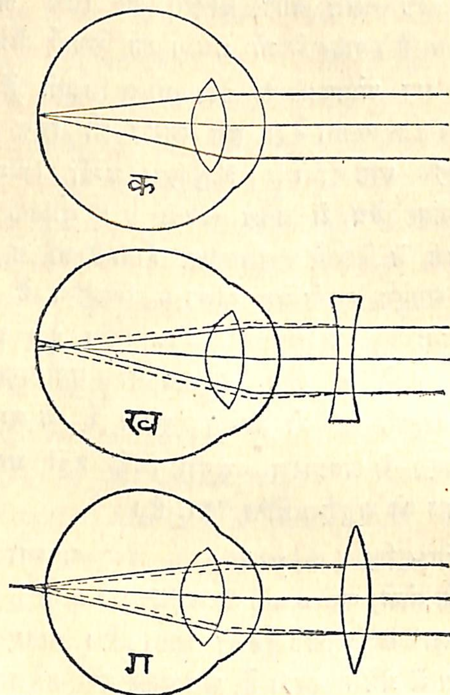
नेत्र दूरवर्ती वस्तुएँ देखने के लिए अनुकूल है। इनको देखने में ताल के आकार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

नेत्र के विकार—स्वस्थ उत्तम नेत्र की रचना इस प्रकार की होती है कि उसमें बाह्य वस्तुओं का चित्र अंतःपटल पर स्पष्ट बन जाता है। बाहर से जो प्रकाश की रेखाएँ नेत्र में प्रवेश करती हैं वे सब अंतःपटल के ऊपर जाकर मिलती हैं और वहीं उनका किरण-केंद्र बनता है। इस कारण जो चित्र वहाँ बनता है वह बिलकुल स्पष्ट होता है। किंतु ऐसा उन्हीं किरणों से होता है जो समानांतर नेत्र में प्रवेश करती हैं। भौतिक विज्ञान के अनुसार केवल वे रेखाएँ समानांतर होती हैं जो बहुत दूरी से आती हैं। अतएव इससे यह परिणाम निकलता है कि दूरवर्ती वस्तुओं का अंतःपटल पर सदा स्पष्ट चित्र बनता है। इसलिये नेत्र को अनुकूल करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु समीपवर्ती वस्तुओं से जो किरणें आती हैं वे समानांतर नहीं होतीं। अतएव वे अंतःपटल पर स्पष्ट चित्र नहीं बना सकतीं। इस कारण ताल को अनुकूल होना पड़ता है।

१. समीप-दृष्टि (Myopia)—इस अवस्था का विशेष कारण नेत्र के गोले का लंबाई में अधिक हो जाना है। इस कारण अंतःपटल ताल से अधिक दूर हो जाता है। अतएव समानांतर किरणें, जो नेत्र में प्रवेश करती हैं, अंतःपटल तक पहुँचने से पूर्व ही अपना किरण-केंद्र बना देती हैं और फिर पटल पर पहुँचती हैं। वहाँ उनसे जो चित्र बनता है, वह स्पष्ट नहीं होता है, क्योंकि उनका किरण-केंद्र पटल पर नहीं बनता। जो किरणें पास की वस्तुओं से आती हैं वे ताल के द्वारा समानांतर होकर पटल पर पहुँचकर चित्र बनाती हैं, किंतु दूर की वस्तुओं का चित्र पटल से पूर्व ही बन

जाता है। इस प्रकार समीप-दृष्टिवाला मनुष्य पास की वस्तु तो देख सकता है, किन्तु दूर की वस्तु उसे नहीं दिखाई देती। इस

चित्र नं० १०३—दोषयुक्त दृष्टि की दशा में नेत्रगोलक की अवस्था।



(Howell)

विकार को दूर करने के लिये ऐसा प्रबंध होना चाहिए कि दूर से आनेवाली समानांतर किरणें अंतःपटल पर पहुँचकर किरण-केंद्र बनावें। इसके लिये नेत्रों के आगे नतोदर (Concave) काँच के लेंसों का प्रयोग करना चाहिए। ये लेंस किरणों को फैला देते

हैं जिससे उनका किरण-केंद्र पीछे को हट जाता है। उचित लेंसों के द्वारा किरणों के मार्ग को इस प्रकार बदला जा सकता है कि वे अंतःपटल पर जाकर मिलें, जिससे चित्र स्पष्ट बने। दूरवर्ती वस्तुएँ इन लेंसों द्वारा स्पष्ट दिखलाई देने लगती हैं।

यह विकार कभी-कभी जन्म ही से होता है; किंतु अधिकतर जन्म के पश्चात् नेत्रों में उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण नेत्रों के बाहरी पटलों की दुर्बलता है। नेत्रों के आकार को बनाए रखने-वाले यह पटल और भीतर की वस्तु हैं जो पूर्व और पश्चात् कोष्ठ (Acqueous and Vitreous Humour) में भरी रहती हैं। इस वस्तु के कारण नेत्र के भीतर सदा कुछ भार (Intra Ocular Pressure) बना रहता है जिससे ये पटल ऊपर की ओर उभरे रहते हैं। किंतु साथ में उनको भी इतना कड़ा अवश्य होना पड़ता है, जिससे वे उस भार को सहन कर सकें। जब कभी इनमें दुर्बलता आ जाती है, चाहे वह शरीर की दुर्बलता से या किसी रोग से या किसी अन्य कारण से हो, तो ये आंतरिक भार को सहन न कर सकने के कारण ढीले होने लगते हैं। तिस पर यदि नेत्रों पर अधिक जोर डाला जाता है, जैसे कि छोटे-छोटे अक्षरों के पढ़ने में या बहुत पास से पढ़ने या कम प्रकाश में पढ़ने में, तो नेत्र के गोलक लंबे हो जाते हैं। इनकी कनीनिका से लेकर अंतःपटल तक की दूरी अधिक हो जाती है। अतएव पटल भी दूर हो जाता है और उससे समीप-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। इस विषय के पंडितों का विचार है कि आजकल जो यह विकार इतना अधिक देखने में आता है, उसका मुख्य कारण बुरी भाँति से पढ़ना है। बहुत छोटे अक्षर, प्रकाश का अपर्याप्त होना, पुस्तक को उचित प्रकार से नेत्रों के सामने न रखना, इत्यादि ऐसी बातें हैं,

जिनसे नेत्रों पर बहुत ज़ोर पड़ता है और अंत में वे विकृत हो जाते हैं।

२. दूर-दृष्टि (Hyper metropia)—यह दशा अदूर-दृष्टि से बिलकुल विपरीत है। वहाँ नेत्र के गोले लंबे होते हैं और यहाँ उनका आकार छोटा हो जाता है। कनीनिका और अंतःपटल की दूरी जितनी होनी चाहिए उससे कम होती है। यह अवस्था जन्म ही से उपस्थित होती है। दूसरे विकार की भाँति यह विकार किन्हीं कारणों से उत्पन्न नहीं होता, यह जन्म ही से होता है।

नेत्र के गोले के छोटे होने के कारण समानांतर किरणें उसके भीतर प्रवेश करके अन्तःपटल के पीछे की ओर किरण-केंद्र बनाती हैं। अतएव पटल पर चित्र न बनकर उसके पीछे बनता है। पटल पर प्रकाश-रेखाओं से धुँधले गोल चक्र से बन जाते हैं। अतएव इस दशा का यही इलाज हो सकता है कि किसी प्रकार अन्तःपटल की कनीनिका से दूरी बढ़ाई जाय या किरणों को इस भाँति मोड़ा जाय कि वे अन्तःपटल ही पर आकर मिलें। उन्नतोदर (Convex) लेंस यही काम करता है। वह समानांतर किरणों को भी एक दूसरे के पास खींच देता है जिससे वे पटल के पीछे न मिलकर पटल ही पर मिल जाती हैं। विकार की अधिकता व न्यूनता के अनुसार लेंस को भी कम या अधिक शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। यदि विकार अधिक है, तो लेंस भी अधिक शक्तिशाली चाहिए। कम विकार होने पर थोड़ी ही शक्ति के लेंस से काम चल जायगा।

३. वृद्धावस्था-दृष्टि (Presbyopia)—वृद्धावस्था में नेत्र के ताल में कठिनता आ जाती है। जैसे सहज में वह युवावस्था में

आगे और पीछे को हट सकता था और उसके आकार में परिवर्तन हो सकता था, वैसे वृद्धावस्था में नहीं होता। अतएव ताल की अनुकूलन-क्रिया की शक्ति के कम हो जाने से यह दशा उत्पन्न होती है। रोगी किसी वस्तु को पास से स्पष्ट नहीं देख सकता। पढ़ने के लिये उसे पुस्तक नेत्रों से बहुत दूर रखनी पड़ती है, यहाँ तक कि अक्षर दिखाई देने बन्द हो जाते हैं। अतएव स्पष्ट है कि उन्नतोदर (Convex) लेंस की वृद्धावस्था में आवश्यकता होती है। इस प्रकार के लेंस से उस विकृत दशा में बहुत सहायता मिल सकती है।

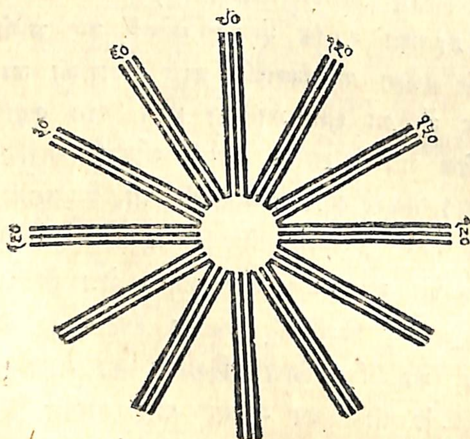
जो लोग पूर्व ही से समीप-दृष्टि से ग्रस्त होते हैं, उनको यह विकार इतनी जल्दी नहीं होता, जितना कि साधारण स्वस्थ नेत्र-वालों को हो जाता है। उन लोगों के ताल की अनुकूलन-शक्ति के कम हो जाने से वे साधारण अवस्था में आ जायँगे।

४. असम-दृष्टि (Astigmatism)—नेत्र की रचना बताते समय यह कहा गया था कि दो गेंदों के कटे हुए भागों को जोड़ देने से नेत्र के समान आकारवाली वस्तु तैयार की जा सकती है। कनीनिका एक गेंद का छोटा सा कटा हुआ भाग कहा जा सकता है। अतएव गोल गेंद के समान उसकी गोलाई चारों ओर समान होती है। जितनी गोलाई ऊपर से नीचे की ओर है उतनी ही गोलाई नेत्र के दाहिने कोने से बाएँ कोने की दिशा में है। ऐसा होने से प्रकाश की किरणों का वर्तन और उनका नेत्र के भीतर प्रवेश करके एक स्थान पर किरण-केंद्र बनाना ठीक प्रकार से होता है। यदि कनीनिका की भिन्न-भिन्न दिशाओं की गोलाई में अंतर पड़ जाय, ऊपर से नीचे की गोलाई और दाहिने से बाएँ कोने तक की गोलाई दोनों आपस में भिन्न हों, तो भौतिक विज्ञान के

नियमों के अनुसार दोनों दिशाओं पर पड़नेवाली किरणों के मार्ग भिन्न हो जायँगे और वे नेत्र के भीतर एक केंद्र पर नहीं मिलेंगी।

असम-दृष्टि इसी को कहते हैं। कनीनिका की भिन्न-भिन्न दिशाओं की गोलाइयों में अन्तर पड़ जाता है। इस कारण किरणें नेत्र के भीतर एक केंद्र पर नहीं मिल सकतीं। वे भिन्न-भिन्न स्थानों पर बहुत सी और अस्पष्ट छाया बना देती हैं। ऐसे मनुष्य को, जो ऐसे विकार से ग्रस्त है, भिन्न-भिन्न दशाओं में स्थित वस्तुएँ समान होने पर भी समान नहीं मालूम होतीं। साथ में जो चित्र दिखाया गया है उसको नेत्रों की परीक्षा करने में इस दशा के मालूम करने के लिये प्रयोग किया जाता है। जो लोग इस विकार से ग्रस्त होते हैं, उनको भिन्न-भिन्न रेखाओं का वर्ण भिन्न-भिन्न दीखता है। कोई रेखा अधिक गहरे काले रङ्ग की दीखती है, किसी का रङ्ग हलका मालूम होता है। कभी-कभी

चित्र नं० १०४



(Howell)

किसी को सब रेखाएँ एक समय में दिखाई ही नहीं देतीं । इसका कारण यही है कि कनीनिका के तल पर पड़नेवाली किरणें नेत्र के भीतर एक स्थान पर नहीं मिलतीं ।

यह विकार कुछ न कुछ सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति के नेत्रों में रहता है । आकाश में तारे जो समान दिखाई देते हैं, उसका कारण यही है कि हमारी आँखों में यह विकार उपस्थित होता है । साधारणतया यह विकार कनीनिका में रहता है । किंतु कभी-कभी ताल में भी पाया जाता है । इसको दूर करने के लिये एक विशेष प्रकार के लेंस प्रयोग किए जाते हैं जिनको Cylindrical कहते हैं ।

ऊपर कहे हुए विकारों के अतिरिक्त नेत्रों में कुछ और भी दोष पाए जाते हैं । साधारणतया जब किसी ताल के द्वारा प्रकाश-किरणें निकलती हैं तो ताल के सब भागों से प्रकाश-किरणों का समान वर्तन नहीं होता । उसके किनारे जितना अधिक वर्तन कर सकते हैं उतना ताल का मध्य भाग नहीं कर सकता । इस कारण चित्र के स्पष्ट होने में संदेह है । 'इसको गोला पेरण' (Spherical aberration) कहते हैं । साधारण यंत्रों में—जैसे फ़ोटोग्राफ़ी का केमरा, दूरबीन इत्यादि—इस दोष को दूर करने के लिये एक ऐसा प्रबंध रहता है जिससे प्रकाश-किरणें लेंस के किनारों पर नहीं पड़ने पातीं । इसको Diaphragm कहते हैं । इसके बीच में एक छिद्र होता है जिसमें होकर प्रकाश की किरणें लेंस तक पहुँचती हैं । वह छिद्र छोटा या बड़ा किया जा सकता है । नेत्रों में भी आयरिस यही काम करता है । वह जितनी आवश्यकता होती है उतना ही प्रकाश नेत्र के भीतर जाने देता है । जिस समय नेत्रों का तारा संकुचित होता है, सूर्य का प्रकाश तेज होता है और देखे जानेवाली वस्तु उचित दूरी पर

होती है, उस समय नेत्र में उस वस्तु का बहुत स्पष्ट चित्र बनता है। नेत्र में किरणें काफी पहुँचती हैं, किंतु थोड़े से स्थान में होकर पहुँचती हैं।

साधारण तालों में एक और विकार होता है। जिस समय किसी काँच के टुकड़े या ताल के द्वारा प्रकाश जाता है तो वह ताल प्रकाश को उसके अवयव वर्णों में, जिनका उल्लेख पूर्व ही किया जा चुका है, विभक्त करने का उद्योग करता है। उसके लिये दूरबीन इत्यादि यंत्रों में कई प्रकार के प्रबंध रहते हैं। यहाँ कई लेंसों को, जो भिन्न-भिन्न भाँति के होते हैं, मिलाकर ऐसा प्रबंध कर दिया जाता है कि एक लेंस से उत्पन्न हुए विकार को दूसरा दूर कर दे। इस प्रकार उस 'वर्णापेरण' (Chromatic aberration) की घटना को रोक दिया जाता है। संभव है कि नेत्र में भी, जो भिन्न-भिन्न भागों में से निकलकर प्रकाश को अंतःपटल तक पहुँचना पड़ता है, उस सबका यही अभिप्राय हो। यदि एक वस्तु कुछ इस प्रकार का विकार उत्पन्न करे तो दूसरी उसको दूर कर दे। जो कुछ भी हो, किंतु सबका परिणाम यह होता है कि नेत्र में वर्णापेरण की घटना बिलकुल ही नहीं होती। किंतु जब चित्र उचित स्थान पर नहीं बनता, किरण-रेखाओं का किरण-केंद्र अंतःपटल पर नहीं बनता तो यह घटना कुछ-कुछ होने लगती है।

अंतःपटल का कर्म—जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उससे यह भली भाँति विदित हो चुका होगा कि देखने का काम अंतःपटल ही का है। उस पर बाह्य वस्तुओं का चित्र बनता है जिससे उसके सेल उत्तेजित होकर मस्तिष्क को उत्तेजना भेजते हैं और मस्तिष्क उनको ग्रहण करता है। इस पटल में जो दंड और

शंकु हैं, उन सबों का नाड़ी के सूत्रों से संबंध है। वास्तव में सारा अंतःपटल नाड़ी-सेल और सूत्रों का बना हुआ है।

बाहर की सब उत्तेजनाएँ ग्रहण करनेवाला अंतःपटल ही है। जिस स्थान पर दृष्टि-नाड़ी नेत्र से निकलती है उस स्थान पर उस पटल में दंड और शंकु नहीं हैं। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि यह स्थान दृष्टि-शक्ति से हीन है। इस कारण वह अंध-स्थान (Blind spot) कहलाता है। यदि किसी वस्तु की छाया इस स्थान पर पड़ती है तो वह वस्तु नहीं दीखती। किंतु ज्यों ही वह वस्तु तनिक इधर-उधर को हटती है तो फिर दिखाई देने लगती है। कभी-कभी यह होता है कि नेत्र को एक ओर से दूसरी ओर घुमाने में क्षण भर के लिये एक काला सा बिंदु वायु में दीख जाता है। यह सब इस अंध-स्थान के कारण होता है।

इन दंड और शंकुओं के भी कर्म भिन्न हैं। इन दोनों की रचना में भिन्नता है। आकार दोनों का पृथक् है। दंड में एक प्रकार का रंग होता है जो शंकु में नहीं होता। इसके अतिरिक्त रात्रि में निकलनेवाले पक्षियों के जैसे उल्लू इत्यादि के नेत्रों में दंड की बहुत अधिकता मालूम होती है। जिन मनुष्यों में रंगों में भेद करने की शक्ति नहीं होती, अंतःपटल के उस भाग में, जो रंग भेद करने में अशक्त होता है, शंकु अनुपस्थित होते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का सिद्धांत है कि रंग का भेद करना केवल शंकुओं का काम है। प्रकाश और अँधेरे में भिन्नता करने की शक्ति दंड में है। वह रंग में भेद नहीं कर सकते। अँधेरे में देखना भी दंड ही का काम है। किंतु दिन के प्रकाश में शंकु देखने का काम करते हैं। अतएव जिन लोगों में रंग में भेद करने की शक्ति नहीं होती

उनमें यह प्रतीत होता है कि कोण पूर्णतया विकसित नहीं होते अथवा उनमें कुछ विकार आ जाता है। जिन लोगों को रतौंधी आती है, जो दिन के प्रकाश में ठीक प्रकार से देख सकते हैं; किंतु रात्रि में जिनको नहीं या कम दिखाई देता है उनके दंड विकृत होते हैं।

हमको रंग क्यों दिखाई देते हैं?—इसके संबंध में कई सिद्धांत हैं; किंतु इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर कोई भी नहीं देता। अधिकतर सिद्धांत कोई न कोई रासायनिक वस्तु को इसका कारण मानते हैं। यद्यपि इनकी संख्या बहुत है, किंतु उनमें मुख्य निम्न-लिखित हैं:—

१. यंग-हेलमहोज़ (Young-Helmholtz) का सिद्धांत—ये दोनों लोग यह मानते हैं कि वास्तव में तीन मुख्य रंग होते हैं; कासनी, हरा और लाल। इन तीनों के साथ तीन रासायनिक वस्तुएँ होती हैं जो अंतःपटल में उपस्थित रहती हैं। जब हम किसी रंग को देखते हैं तो इन तीनों वस्तुओं में से कोई एक या अधिक वस्तुएँ उत्तेजित हो जाती हैं। और कुछ विशेष नाड़ी-सूत्रों को उत्तेजित करती हैं जो मस्तिष्क के कुछ केंद्रों को, जो इन रंगों से संबंध रखते हैं, उत्तेजनाएँ पहुँचाती हैं। उसी के अनुसार हमको वर्ण का अनुभव होता है। इन लोगों का कहना है कि इन तीन रंगों के अतिरिक्त और सब रंग इन्हीं मुख्य रंगों के मिश्रण से बनते हैं। किसी रंग में इनमें से किसी एक रंग की अधिकता होती है, दूसरे में दूसरे की। इसी भाँति इन रंगों की मात्रा की भिन्नता से रंगों में भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। जब तीनों रंगों की समान उत्तेजना होती है और तीनों रासायनिक वस्तुएँ समान कार्य करती हैं तो उससे श्वेत रंग उत्पन्न होता है। जब उनमें से

किसी की भी उत्तेजना नहीं होती तो काला रंग मालूम होने लगता है। अर्थात् अंतःपटल का विश्राम करना ही मानो काला रंग दीखना है। इस सिद्धांत के अनुसार विशेष रंगों के लिए अंतःपटल में विशेष सेलों की उपस्थिति और उनके साथ कुछ विशेष सूत्रों का संबंध मानना पड़ता है। न केवल यही, किंतु मस्तिष्क में भी इन रंगों के लिए विशेष केंद्रों का अनुमान करना पड़ता है।

सिद्धांतनिर्माताओं का कथन है कि हम किसी एक विशेष रंग को उत्तेजित नहीं कर सकते। प्रत्येक किरण एक से अधिक व सब रंगों को उत्तेजित कर देती है। जब हमको कोई एक शुद्ध रंग, जिनका ऊपर नाम लिया जा चुका है, दीखता है तो उसके साथ और दूसरे रंग भी रहते हैं।

इस सिद्धांत पर बहुत से दोष उठाए गए हैं और बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनका वह उत्तर नहीं दे सकता।

२. हेरिंग (Herring) का सिद्धांत—ऊपर के सिद्धांत के समान ही हेरिंग महाशय तीन रासायनिक वस्तुएँ मानते हैं। किंतु वह उनका प्रबंध भिन्न प्रकार से मानते हैं। उनके मत के अनुसार इन तीन वस्तुओं से छः प्रकार के रंगों का ज्ञान होता है। प्रथम वस्तु को श्वेत-काला नाम दिया गया है। उनका कहना है कि जब यह वस्तु अपने अवयवों में टूट जाती है, अर्थात् उसका विश्लेषण हो जाता है तो उससे श्वेत रंग का ज्ञान होता है। किंतु फिर जब उन अवयवों का संश्लेषण हो जाता है तो उससे काले रंग का ज्ञान होने लगता है। इनका विश्लेषण रंग की किरणों पर निर्भर करता है। इसी प्रकार अंतःपटल में लाल-हरी और पीली-नीली वस्तु मानी गई हैं। प्रकाश की लंबी लहरों की जब लाल-हरी

वस्तु पर क्रिया होती है तब उसका विश्लेषण हो जाता है जिससे लाल रंग का ज्ञान होने लगता है। किंतु जब छोटी लहरें क्रिया करती हैं तो उनसे संश्लेषण होकर हरा रंग प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार पीली-नीली वस्तु की भी व्याख्या की गई है।

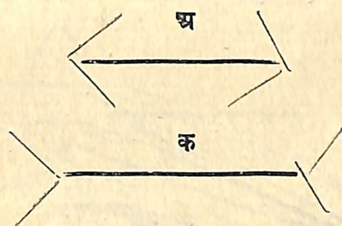
यह सिद्धांत किसी सीमा तक ऊपर के सिद्धांत की अपेक्षा उत्तम कहा जा सकता है। यह कई बातों की, जिनको प्रथम सिद्धांत नहीं बता सकता है, अच्छी प्रकार से व्याख्या करता है।

३. ऐड्रिज-ग्रीन (Edridge Green) का सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार जिस समय हमारे नेत्र में किसी विशेष रंग की लहरें प्रवेश करती हैं तो अंतःपटल के दंड एक प्रकार के रंग के कणों को बनाते हैं। इसको Visual Purple कहा जाता है। यह वस्तु शंकुओं को उत्तेजित करती है और वे नाड़ी के सूत्रों द्वारा तुरंत ही मस्तिष्क के केंद्रों को सूचना भेजते हैं। यह उत्तेजना प्रथम एक ऐसे केंद्र में जाती है जिसका कर्म केवल प्रकाश अनुभव करने का है। उसके पश्चात् दूसरे केंद्र में जाती है जो रंग का ज्ञान कर सकता है। इस केंद्र में तीन प्रकार के प्रबंध हैं जो मुख्य तीन रंगों—लाल, हरे और नीले—से पृथक्-पृथक् उत्तेजित होते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरी लहरें भी उनको उत्तेजित कर सकती हैं। किंतु उत्तेजक लहरें जितनी इन रंगों की लहरों के अधिक समान होंगी उतनी ही उनसे उत्तेजना भी अधिक होगी। यदि मान लिया जाय कि नेत्र पर पीले रंग की किरणें पड़ रही हैं तो वह पहले दंडों से रंग के कण बनवावेंगी जो शंकुओं को उत्तेजित करके मस्तिष्क के केंद्रों को उत्तेजना भिजवाएँगे। शंकु दृष्टि-नाड़ी के सूत्रों द्वारा केंद्रों को उस प्रकार की उत्तेजना भेजेंगे जैसी कि पीले प्रकाश की लहरों से उत्पन्न होती हैं। किंतु साथ में दूसरे

प्रकार की उत्तेजनाएँ भी होंगी जो लाल या हरे के बहुत कुछ समान हैं। इससे लाल और हरे रंग का केंद्र भी कुछ अनुभव करेगा। पीले रंग की लहरों से भी यही केंद्र उत्तेजित होंगे, किंतु जितनी उत्तेजना उत्पन्न करने की इन लहरों में शक्ति है उसी के अनुसार उनमें उत्तेजना उत्पन्न होगी।

जो मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकार के रंगों में भिन्नता मालूम करने में असमर्थ होते हैं उनमें ऊपर कही हुई वस्तुओं में से कोई एक वस्तु उपस्थित नहीं होती। ऊपर कहे हुए सिद्धांत इस घटना की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं।

चित्र नं० १०५

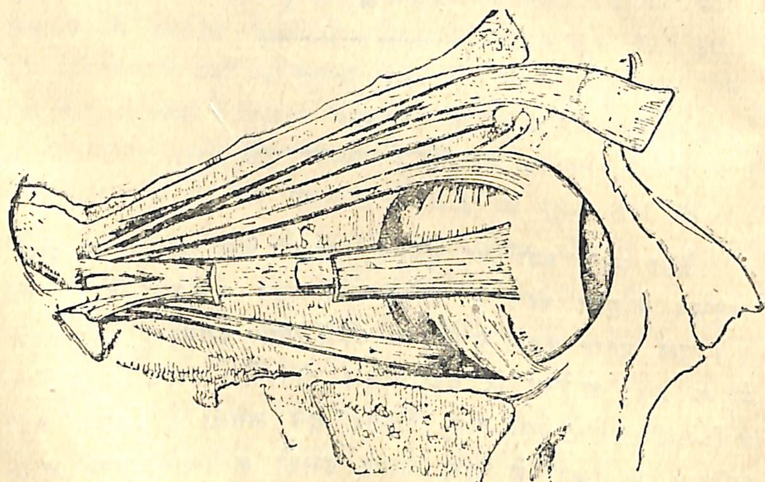


जैसा पहले कहा जा चुका है, हम दूरी और आकार का ज्ञान अनुभव के द्वारा करते हैं। किंतु उसमें बहुत बार भूल हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि अ और क दोनों रेखाएँ बराबर हैं, किंतु देखने में क रेखा अ रेखा से बड़ी मालूम होती है। न केवल यही, किंतु कभी-कभी हमको ऐसी वस्तु दिखाई देने लगती है जिसका वहाँ अस्तित्व भी नहीं है। इस कारण हमको कभी-कभी अपनी ज्ञानेंद्रियों के द्वारा प्राप्त किए हुए ज्ञान में संदेह भी करना पड़ता है।

पश्चात्-प्रतिबिंब—यदि हम किसी वस्तु को कुछ समय तक

ध्यान-पूर्वक देखने के पश्चात् अपने नेत्र बंद कर लें तो हमको उस वस्तु की छाया फिर भी दिखाई देती रहेगी। यह पश्चात्-प्रतिबिंब कहलाते हैं। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी छाया भी उसी रंग की दीखती है, जिस रंग की वह वस्तु होती है। किंतु दूसरे प्रकार की, विशेषकर रंगीन वस्तुओं की जो छाया बनती है उसका रंग उस वस्तु के रंग से भिन्न होता है। यदि बिजली की बत्ती या किसी दूसरे तीव्र श्वेत प्रकाश को कुछ समय तक देखकर अपने नेत्र बंद कर लें तो हमें वह वस्तु वैसी ही कुछ समय तक दिखाई देती रहेगी। किंतु किसी रंगीन वस्तु को, जैसे कि लाल रंग की वस्तु को ध्यान से देखने के पश्चात् यदि हम

चित्र नं० १०६—दाहने नेत्र की संचालन मांस-पेशी।



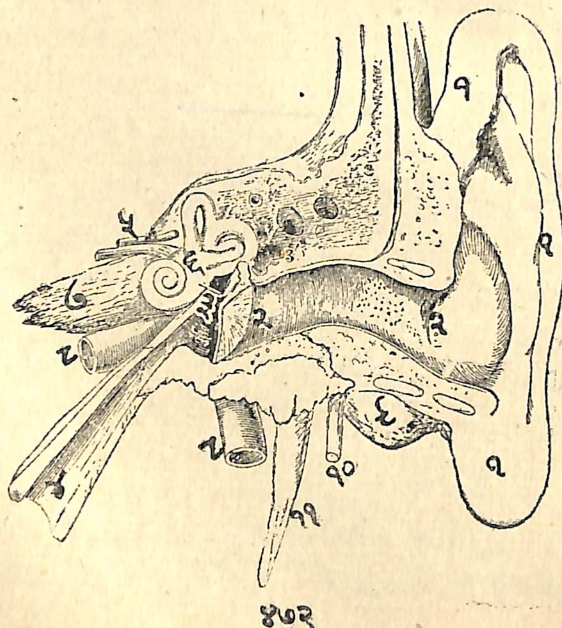
अपने नेत्र बंद करें तो पश्चात्-प्रतिबिंब लाल रंग का न दिखाई देगा; किंतु वह कुछ नीलापन लिए हुए हरे रंग का दिखाई देगा।

यदि रंगीन वस्तु को ध्यान से देखकर आँखों को एकदम किसी श्वेत वस्तु पर घुमा दिया जाय या किसी श्वेत कागज पर आँखें जमा दी जायँ तो पश्चात्-प्रतिबिंब अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। यदि डूबते हुए सूरज को कुछ समय तक ध्यान से देखने के पश्चात् उस पर से आँखें हटाकर दूसरी ओर को देखने लगेंगे तो कई प्रकार के रंगों के प्रतिबिंब दिखाई देते हैं, जो एक दूसरे के पश्चात् शीघ्रता से आँखों के सामने आ जाते हैं।

कर्णेंद्रिय

श्रवण कर्णेंद्रिय का कर्म है । शब्द का ज्ञान करानेवाला

चित्र नं० १०७—कर्ण के भिन्न-भिन्न भागों का चित्र ।



चित्र नं० १०७ का परिचय ।

बाईं ओर की शंखास्थि को कोमल अंगों के साथ कपाल से भिन्न करके उसका एक भाग काट दिया गया है । जिससे बाह्य कर्ण-गुहा, कर्ण-पटह, मध्य कर्ण और कर्ण-कंठ नाली का एक भाग कट गया है । अंतःकर्ण दिखाई दे रहा है ।

१—कर्णपाली

२,२—बाह्य कर्णगुहा

२',२'—कर्ण-पटह

३—कर्ण-अस्थियों की शृङ्खला

४—कर्ण-कंठ नाली

५—आंतरिक कर्ण-गुहा

६—कर्ण-कुटी, जिसके एक ओर अर्द्धचंद्र नलिकाएँ हैं और दूसरी ओर कोक्लिया है ।

७—शंखास्थि का भाग

८—अंतर्मातृका धमनी

९—शंखास्थि का एक भाग

१०—मौखिकी नाड़ी

११—शंखास्थि का शिफा प्रवर्द्धन

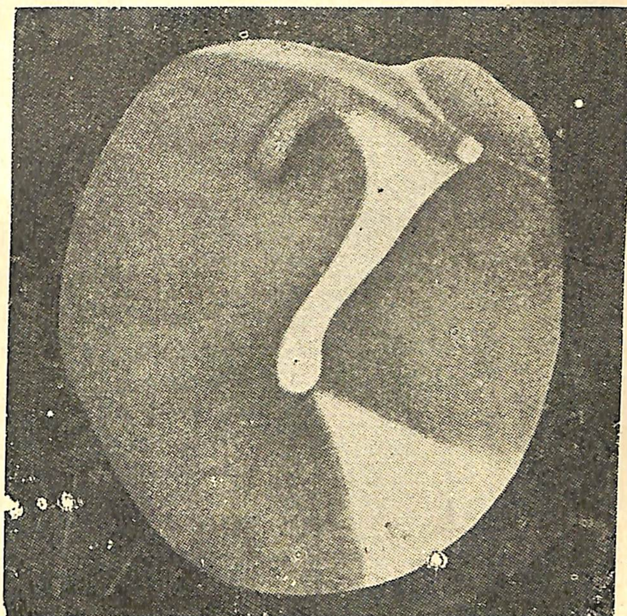
यंत्र कर्ण है। इसकी रचना भी नेत्र से कम अद्भुत नहीं है। शरीरांग-विद्या के विद्वानों ने मनुष्य के कर्ण को तीन भागों में विभाजित किया है। बाह्य कर्ण, मध्य कर्ण और अंतस्थ कर्ण।

कर्ण का जितना भाग बाहर दिखाई देता है और उसके बीच से भीतर को जाती हुई नली जो आगे जाकर एक झिल्ली पर समाप्त होती है जिसको कान का परदा कहते हैं, यह सब बाह्य कर्ण के भाग हैं। बाह्य कर्ण कान की झिल्ली पर जाकर समाप्त हो जाता है। इस झिल्ली के दूसरी ओर से मध्य कर्ण आरंभ होता है और भीतर की ओर $\frac{1}{2}$ इंच तक चला जाता है। मध्य कर्ण का अधिक भाग शंखास्थि के भीतर रहता है।

कान की झिल्ली को वैज्ञानिक भाषा में कर्ण-पटह (Tympanic membrane) कहा जाता है। यह झिल्ली बाह्य कर्ण के अंत पर रहती है। साधारणतया कान को देखने से इस झिल्ली को नहीं देखा जा सकता। इसको देखने के लिये कर्णदर्शक यंत्र (Auro-cope) की आवश्यकता होती है। इस यंत्र के द्वारा देखने से मालूम होता है कि यह पटह बिलकुल सीधा नहीं रहता, किन्तु टेढ़ा रहता है। इसके बीच का भाग भीतर की ओर दबा रहता है, ऊपर और नीचे की ओर पटह के किनारे आगे की ओर उभरे रहते हैं; किंतु नीचे की अपेक्षा पटह ऊपर की ओर अधिक आगे बढ़ जाता है। जिस स्थान पर पटह भीतर की ओर दबा रहता है, वह स्थान नाभि कहलाता है। झिल्ली को ध्यान से देखने से उसमें एक श्वेत चमकती हुई रेखा ऊपर से नाभि तक आती हुई दिखाई देती है। यह रेखा वास्तव में मध्य कर्ण की एक अस्थि के एक भाग की छाया है। इस अस्थि को मुद्गर कहते हैं।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १७

कर्णपटह



(After Politzer from Hunter Tod's Diseases of Ear)

(हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ४७४

इसके अतिरिक्त कभी-कभी एक दूसरी अस्थि का भी कुछ भाग दिखाई देने लग जाता है।

यह पटह एक चमकती हुई श्वेत गोलाकार झिल्ली के समान दिखाई देता है। स्वस्थ दशा में यह अत्यंत स्वच्छ दिखाई देती है। किंतु जब इससे शोथ आ जाता है अथवा इस पर घाव पड़ जाता है तो इसका दृश्य विकृत हो जाता है। भीतर की अस्थियाँ नहीं दिखाई पड़तीं और न इसमें किसी प्रकार की चमक ही दिखाई देती है। कभी-कभी इसमें छिद्र हो जाते हैं जिससे कान बहने लगता है।

मध्य कर्ण एक छोटी सी कोठरी है जिसकी लंबाई, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आध इंच के लगभग है। इसमें तीन अस्थियाँ रहती हैं जिनको चित्र द्वारा पहले दिखाया जा चुका है। सबसे बड़ी अस्थि जिसको मुद्गर (Malleas) कहते हैं उसका बड़ा प्रवर्द्धन पटह की नाभि पर लगा रहता है। दूसरे भाग से यह अस्थि दूसरी अस्थि, जिसको निहाई (Incus) कुछ लोगों ने कहा है, से मिली रहती है। यह नेहाई अस्थि भी एक ओर तो मुद्गर से जुड़ी रहती है; किंतु दूसरी ओर तीसरी अस्थि से, जिसका आकार रकाब के समान होने से उसको रकाब कहा गया है, मिली रहती है। इस अस्थि का चौड़ा भाग एक छिद्र द्वारा अंतस्थ कर्ण से मिला रहता है। इस प्रकार बाह्य कर्ण से अंतस्थ कर्ण तक अस्थियों की एक शृंखला बन जाती है। यदि बाह्य कर्ण के पटह में किसी प्रकार की झनझनाहट और कंपनाएँ उत्पन्न होती हैं तो वह इन अस्थियों की शृंखला द्वारा अंतस्थ कर्ण तक पहुँच जाती है। इस मध्य कर्ण से एक नाली गले में जाकर खुलती है। इस कारण गले के भीतर जब कुछ शोथ उत्पन्न हो जाता है तो

इससे इस नली का मुख बंद हो जाने या नलिका के शोथयुक्त हो जाने से मध्य कर्ण में वायु नहीं पहुँच सकती। इससे कर्ण-पटह के दोनों ओर वायु दबाव के भिन्न हो जाने से बधिरता उत्पन्न हो जाती है। गले का शोथ नलिका द्वारा मध्य कर्ण तक पहुँच सकता है। इससे भी सुनने में कठिनता उत्पन्न हो सकती है। मध्य कर्ण का सारा आंतरिक भाग एक श्लैष्मिक कला से ढका रहता है।

जहाँ मध्य कर्ण का अंत होता है वहाँ अंतस्थ कर्ण का प्रारंभ होता है। यही श्रवण यंत्र का मुख्य भाग है। इसकी रचना भी बड़ी ही विचित्र और गूढ़ है। यहाँ पर श्रवण नाड़ी के अत्यंत सूक्ष्म सूत्र शंखास्थि के भीतर कुछ खोखले स्थानों में स्थित एक विचित्र प्रकार के कोष्ठ और नलिकाओं में फैले रहते हैं।

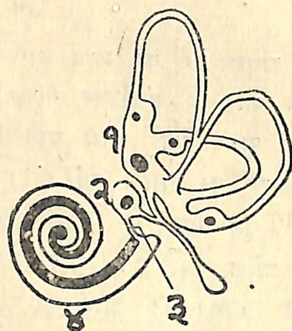
मध्य कर्ण की रकाब नामक अस्थि का चौड़ा भाग जिस स्थान पर अंतस्थ कर्ण में लगा रहता है वह उसका बीच का भाग है। उसके पीछे की ओर तीन अर्द्धचंद्राकार नलियाँ रहती हैं जैसा चित्र से प्रकट है। आगे की ओर जो भाग है वह ढाक शंख के ऊपरी भाग के समान दिखाई देता है। इसको कोक्लिया (Cochlea) कहते हैं। इस प्रकार अंतस्थ कर्ण तीन भागों का बना होता है—१ कर्णकुटी, २ कोक्लिया और ३ अर्द्ध-चंद्राकार नलिका। इन रचनाओं की दीवारें शंखास्थि से बनी हुई हैं और जो अस्थि का भाग इनके बनाने में भाग लेता है वह दूसरे भाग की अपेक्षा अधिक कठिन और दृढ़ है। अस्थि के भीतर झिल्ली से बने हुए भिन्न-भिन्न भाग रहते हैं। इस प्रकार अस्थि-निर्मित अंतस्थ कर्ण के भीतर झिल्ली-कृत अंतस्थ कर्ण रहता है। झिल्ली से बनी हुई नलिकाएँ, कोक्लिया और कर्ण-कुटी शंखास्थि के समान

आकार के गुहाओं में स्थित होती हैं। इस भाग का कर्म समझने के लिये इनमें से प्रत्येक भाग का कुछ वर्णन करना आवश्यक है।

कर्ण-कुटी—यह अंतस्थ कर्ण का मध्य भाग है। इसके एक ओर कोक्लिया और दूसरी ओर अर्द्धचंद्राकार नलियाँ स्थित हैं। सारे यंत्र में सबसे अधिक फूला हुआ भाग यही दिखाई देता है। इसका आकार सब स्थानों पर समान नहीं है। उसके दीवारों में भीतर की ओर कई सूक्ष्म छिद्र हैं जिनमें होकर श्रावणी नाड़ी के सूत्र कर्ण के भीतर प्रवेश करते हैं। बाहर की ओर एक बड़ा छिद्र होता है जिसमें भीतर की ओर एक झिल्ली बनी रहती है। रकाब नामक अस्थि का चौड़ा भाग इसी छिद्र में रहता है। इस छिद्र का आकार कुछ-कुछ अंडे के समान है। इसके आगे की ओर एक दूसरा छिद्र होता है जिसके द्वारा कोक्लिया और कुटी का संबंध होता है। इस कुटी के पिछले भाग में पाँच छिद्र होते हैं जिनके द्वारा अर्द्धचंद्राकार नलियाँ कुटी में आकर खुलती हैं।

अस्थि-कृत अंतस्थ कर्ण के भीतर झिल्ली-कृत अंतस्थ कर्ण रहता है जिसका आकार ठीक अस्थि से बने हुए कर्ण के समान होता है। इस प्रकार तीनों नलिकाओं के भीतर झिल्ली की बनी हुई तीन नलिकाएँ होती हैं। कुटी के भीतर भी झिल्ली के बने हुए कोष्ठ रहते हैं किन्तु कुटी के भीतर झिल्ली अस्थि-कृत कुटी के समान नहीं होती; उसके स्थान पर दो कोष्ठ होते हैं। उनमें से पूर्व कोष्ठ (Utricle) और दूसरा पश्चात् कोष्ठ (Saccule) कहलाता है। पूर्व कोष्ठ का तीनों नलिकाओं से संबंध रहता है। पश्चात् कोष्ठ एक ओर पूर्व कोष्ठ से और दूसरी ओर कोक्लिया से मिला रहता है।

चित्र नं० १०८—झिल्लीकृत अंतस्थ कर्ण।



(Schafer)

१—फूला हुआ पूर्व-कोष्ठ जिसमें तीनों नलिकाएँ मिलती हैं।

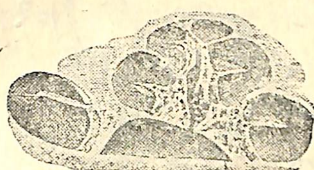
२—पश्चात्-कोष्ठ जिसका कोक्लिया से संबंध है।

३—नलिका के द्वार।

४—कोक्लिया; जिन स्थानों में काला रंग दिया गया है, वहाँ श्रवण-नाड़ी आकर फैलती है और समाप्त हो जाती है।

कोक्लिया—इसका आकार शंख के ऊपर के पतले भाग के समान होता है। कोक्लिया का ऊपर का सिरा, जो पतला और नोकीला होता है, शिखर कहलाता है और नीचे का चौड़ा भाग तल कहलाता है। इसके बीच में एक स्तंभ होता है जिसके चारों ओर कोक्लिया की पतली नली चक्कर खाती हुई नीचे से ऊपर को चली जाती है। यह नली पूरे ढाई बार चक्कर खाती है, अर्थात् कर्ण के केंद्र व स्तंभ के चारों ओर इस नली के ढाई चक्र गिने जा सकते हैं। यदि इस भाग को ऊपर से नीचे की ओर दो समान भागों में काट दिया जाय तो प्रत्येक भाग में चक्कर-

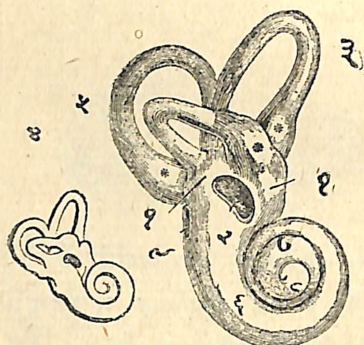
चित्र नं० १०९—अस्थि-कृत कोक्लिया का बीच से भाग कर दिया गया है।



दार ज़ीने के समान आधे-आधे भाग दिखाई देंगे। इस कोक्लिया को इस प्रकार काटने से एक और बात मालूम होगी। यह दिखाई देगा कि अस्थि और झिल्ली दोनों ने मिलकर इस नली को दो भागों में बाँट दिया है जिससे दो भिन्न-भिन्न ज़ीनों के समान रचनाएँ तैयार हो जाती हैं। इस प्रकार एक नली से दो नलियाँ तैयार हो जाती हैं जो बीच के स्तंभ के चारों ओर चक्कर खाने में एक दूसरे के ऊपर रहती हैं। यह बीच का परदा, जो अस्थि और झिल्ली से मिलकर बनता है और इस नली को दो भागों में विभाजित करता है, फलक कहलाता है। एक नली इसके ऊपर रहती है और दूसरी नीचे। इन दोनों नलियों के संबंध भी भिन्न होते हैं, ऊपर की नली का कर्ण-कुटी से और नीचे की नली का मध्य कर्ण से संबंध रहता है। ऊपर की नली मध्य कर्ण के उस भाग से प्रारंभ होती है जहाँ रकाब अस्थि एक छिद्र द्वारा उससे मिली हुई है।

इस फलक का आकार नलियों ही के जैसा होता है। उन्हीं के समान यह चक्कर खाता है। जहाँ नली चौड़ी होती है वहाँ यह भी चौड़ा हो जाता है। ऊपर जाकर जहाँ स्तंभ का अंत होता है वहाँ यह फलक भी समाप्त हो जाता है। इसके ऊपर

चित्र नं० ११०—दाहनी ओर का अस्थि-कृत अंतस्थ कर्ण।



(Sommering)

१—कर्णकुटी

२—अंडाकार छिद्र

३—ऊर्ध्व अर्द्धचंद्राकार नली

४—पार्श्व-नली

५—पश्चात्‌नली;....नलिकाओं के फूले हुए भाग

६—कोक्लिया का प्रथम चक्र

७—कोक्लिया का दूसरा चक्र

८—शिखर

९—कोक्लिया-द्वार

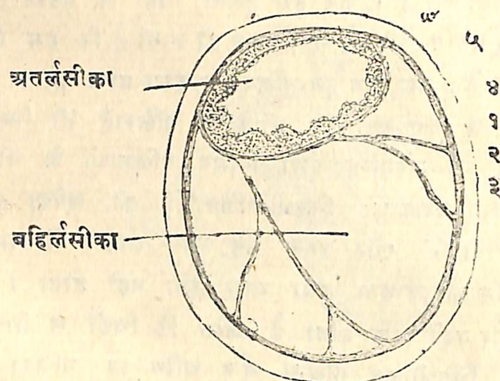
छोटे चित्र में यंत्र का स्वाभाविक आकार दिखाया गया है। दोनों नलियाँ आपस में मिल जाती हैं। इस प्रकार ऊपर की ओर ये नलिकाएँ आपस में मिली रहती हैं, किंतु नीचे की ओर पृथक् रहती हैं। इन दोनों नलियों में एक प्रकार का द्रव्य भरा रहता है।

अर्द्ध चंद्राकार नलियाँ—ये तीन नलियाँ होती हैं। दिशा का ज्ञान कराना इनका कर्म है। जब हम किसी गाड़ी में बैठकर जाते हैं तो आँखें मूँदने पर भी हमको अनुभव हो जाता है कि हम किस ओर को जा रहे हैं। यह ज्ञान इन नलियों के द्वारा प्राप्त होता है।

कोक्लिया व कर्ण-कुटी की भाँति ये नलिकाएँ भी झिल्ली की बनी हुई हैं, जो शंखास्थि द्वारा निर्मित नलिकाओं के भीतर रहती हैं। अस्थि-नलिकाएँ झिल्ली-नलिकाओं की अपेक्षा कहीं अधिक मोटी होती हैं और उनके सब भाग आकार में समान होते हैं। किंतु झिल्ली से बना हुआ भाग ऐसा नहीं होता। वह कहीं मोटा और कहीं पतला होता है, जैसा कि चित्रों से मालूम हो जायगा। झिल्ली-कृत नलिका और अस्थि-कृत नलिका में कुछ स्थानांतर रहता है जिसमें एक द्रव्य भरा रहता है जो बहिर्लसीका (Pre-lymph) कहलाता है। नलिका के भीतर का लिंफ अंतर्लसीका (Endo-lymph) कहलाता है। ये सब नलिकाएँ कुटी के पूर्व कोष्ठ में खुलती हैं। जिस स्थान पर नलिकाएँ कोष्ठ में खुलती हैं वहाँ पर उनका कुछ भाग फूल जाता है, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है।

जिस प्रकार झिल्ली-कृत नली अस्थि में रहती है वह चित्र से ठीक प्रकार मालूम किया जा सकता है। भीतर की वह नलिका, जिसमें अंतर्लसीका भरा हुआ है, झिल्ली-कृत है; उसके बाहर अस्थि-नलिका है जिसमें बहिर्लसीका भरा हुआ है। अंतर्नलिका के बाह्यावरण से सौत्रिक धातु के कुछ सूत्र बाहर के अस्थिवेष्ट पर आकर लगते हैं। कुछ दूरी तक झिल्ली-कृत नलिका का अस्थि-नलिका से घनिष्ठ संबंध रहता है। झिल्ली कृत नलिका के भीतर चारों ओर एक कला रहती है।

चित्र नं० १११—एक अर्द्धचंद्राकार नलिका का परिच्छेद ।



१—अस्थि

२—अस्थि-आवरण

३—सौत्रिक तंतु के सूत्र जो कि झिल्ली-कृत नलिका और अस्थि-आवरण को संयुक्त करते हैं

४—झिल्ली-कृत नलिका का बाह्यावरण

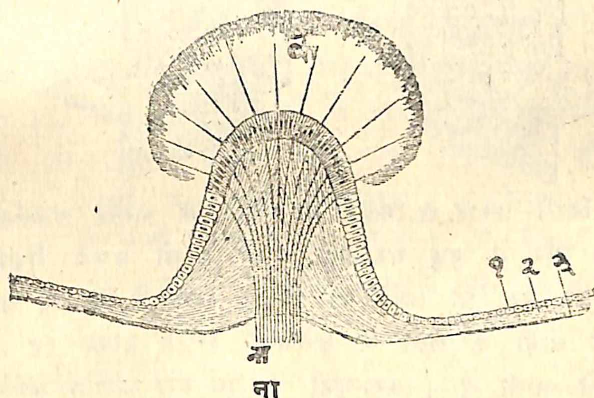
५—मुख्यावरण

६—आंतरिक कला

यदि नलिका को, उस स्थान पर जहाँ वह फूलकर कुटी के अग्रकोष्ठ से मिल जाती है, काटकर ध्यान से देखा जाय तो उसकी रचना विचित्र मालूम होगी । झिल्ली-कृत नलिका के बाह्यावरण और भीतरी कला के बीच में जो वस्तु रहती है वह यहाँ एक अंकुर का रूप धारण कर लेती है । यहाँ की श्लैष्मिक कला के सेलों का आकार लंबा हो जाता है और उनके ऊपरी सिरे से, जो अंतर्लसीका की ओर रहते हैं, कड़े बालों के समान

सूक्ष्म सूत्र निकले रहते हैं। इन सूत्रों के बीच में और उनके चारों ओर एक गाढ़ा पदार्थ रहता है जिसमें केलशियम कार्बोनेट (Calciuin Carbonate) के कुछ कण पाए जाते हैं। इस सारी रचना को कुपोला (Cupola) का नाम दिया गया है।

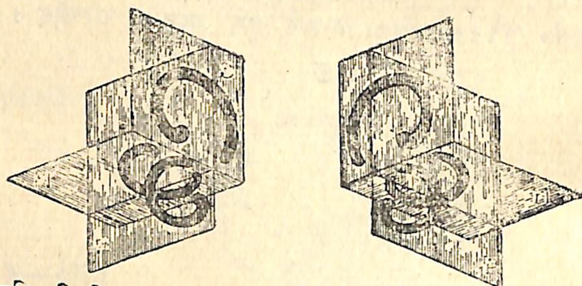
चित्र नं० ११२—नलिका के फूले हुए भाग का परिच्छेद।



१—आंतरिक कला; २—मुख्यावरण; ३—नलिका का सौत्रिक आवरण; ना—नाड़ी के सूत्र; कु—कुपोला, जिसमें लोम-सेलों से लोम निकले रहते हैं।

अंकुर के दूसरी ओर से श्रवण-नाड़ी के सूत्र उस स्थान पर प्रवेश करते हैं और उनकी शाखाएँ उन सेलों में, जिनके ऊपर से सूत्र निकलते हैं, फैल जाती हैं। इस प्रकार इन अर्द्धचंद्राकार नलिकाओं के विशेष सेलों का नाड़ी द्वारा मस्तिष्क से संबंध स्थापित हो जाता है।

चित्र नं० ११३—दोनों ओर को तीनों नलिकाओं को उनके स्वाभाविक स्थिति में दिखाने का प्रयत्न किया गया है। तीनों नलिकाओं के तल एक दूसरे के समकोण (Right angle) पर स्थित हैं।



यदि किसी प्रकार से झिल्ली की नलिका के भीतर अंतर्लसीका के आंतरिक भार में कुछ घटा-बढ़ी होती है तो उससे सेलों के कड़े-कड़े सूत्रों पर, जो ऊपर को निकले रहते हैं, प्रभाव पड़ता है। उससे नाड़ी के सूत्रों में उत्तेजना उत्पन्न होकर वह तुरंत मस्तिष्क को जाती है। कर्ण-कुटी के पूर्व और पश्चात् कोष्ठ की रचना भी ऐसी ही है। वहाँ पर इसी प्रकार के अंकुर मिलते हैं जिनमें सूत्रमय सेल उपस्थित हैं।

ये तीनों नलियाँ तीन दिशाओं में स्थित हैं, जैसा चित्र से प्रकट है, और एक दूसरे के साथ समकोण (Right angle) बनाती हैं। इसी कारण हमको तीन दिशाओं में अपनी गति का ज्ञान अंकुर की नाड़ी के द्वारा होता है। जब हम अपना सिर किसी ओर को घुमाते हैं तो नलिकाओं के भीतर अंतर्लसीका की गति भी उसी ओर को होती है, किंतु दूसरी ओर की समान

नलिका में गति बिलकुल दूसरी ओर को होती है। इस प्रकार एक ओर को किसी नलिका में, जिस ओर नलिका का भार बढ़ता है, दूसरी ओर की समान नलिका में उस ओर भार कम हो जाता है। इस कारण संभव है कि मस्तिष्क में दो प्रकार की सूचनाएँ पहुँचती हों; एक, एक ओर भार बढ़ने की और दूसरी, दूसरी ओर भार कम हो जाने की। "एक नली एक ही ओर की ओर एक ही गति की सूचना देगी, सारी दिशाओं का भिन्न-भिन्न समतलों में ज्ञान करने के लिए छः नलियों की आवश्यकता है जो तीन जोड़ों में स्थित हों और प्रत्येक जोड़ा (दोनों ओर की दो समान नलिकाओं से अभिप्राय है) समानांतर (Plane) समतल में स्थित हों; किंतु दोनों नलियों के फूले हुए भाग एक दूसरे से विमुख हों। इससे प्रत्येक जोड़ा उस गति की, जो उसी की दिशा में होगी व उससे समकोण (at Right-angles) की दिशा में होगी, अनुभव कर लेगा। एक दिशा की गति से एक नाली पर प्रभाव पड़ेगा और दूसरी ओर की गति होने से दूसरी नाली उत्तेजित होगी" (Crum Brown, Frnm Halliducton)।

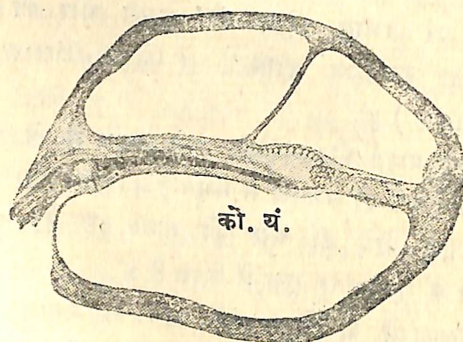
तीन ऊर्ध्व पार्श्व और पश्चात् नलिकाओं में से दोनों ओर की पार्श्व नलिकाएँ एक ही समतल में स्थित हैं। एक ओर की पाश्चात्य नलिका, जो कुछ पीछे की ओर को झुकी हुई है, दूसरी ओर की ऊर्ध्व नलिका से समानांतर तल में स्थित है।

इन नलिकाओं के विकृत हो जाने से मनुष्य को दिशा का तनिक भी ज्ञान नहीं हो सकता। इनमें विकार उत्पन्न होने से जो मिचलाना, वमन, सिर का घूमना, किसी एक दिशा में ठीक प्रकार से चलने में असमर्थ होना इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते

हैं। एक ऐसे कबूतर का, जिसके दोनों ओर के कर्ण में से ये नलिकाएँ निकाल दी गई हैं, मस्तिष्क के संबंध में वर्णन किया जा चुका है।

कोर्टी का यंत्र—कोक्लिया में पहले दो नलियाँ बताई गई थीं; किंतु वास्तव में उसमें तीन नलियाँ होती हैं। उन दोनों नलियों के अतिरिक्त, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है, एक पतली सी तीसरी नली भी होती है जिसको मध्य नलिका कहते हैं। चित्र को देखने से विदित होगा कि यह नलिका त्रिकोणाकार है। इसकी बाहरी दीवार कोक्लिया की दीवार से बनी हुई है। ऊपर की छत और नीचे का फ़र्श दोनों झिल्लियों से बने हैं। ये दोनों झिल्लियाँ कोक्लिया के फलक के सिरे पर जुड़ी रहती हैं। यह नली इस फलक के साथ ऊपर जाकर अंत हो जाती है, और नीचे की ओर पाश्चात्य कोष्ठ से मिली रहती है।

चित्र नं० ११४—कोक्लिया के एक चक्र का परिच्छेद।



को० यं०—कोर्टी का यंत्र

इस नली के फ़र्श को बनानेवाली झिल्ली पर कई प्रकार के सेल रहते हैं। इस फ़र्श के लगभग बीच में कोर्टी का यंत्र

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १८

कोर्टी के यंत्र का एक काल्पनिक चित्र, जिसमें संज्ञा-सेल और झिल्लीकृत कोक्लिया के दूसरे भाग दिखाए गए हैं।

क. कोर्टी की आंतरिक शलाकाएँ। ख. कोर्टी की बाहिरी शलाकाएँ। ग. कोर्टी की सुरंग। घ. धारक कला। ङ. आंतरिक लोमेश सेलों की पंक्ति। ६, ६, ६'. बहिः लोमेश सेलों की पंक्ति। ७, ७' डायटर के धारक सेल। आंतरिक लोमेश सेलों के अंतिम भाग ऊपर निकले हुए दीखते हैं। श्रावणी नाड़ी के सूत्रों को उत्तेजित करना इन्हीं का काम है।

(After Testut From Howell)

पृष्ठ-संख्या ४८६

रहता है। यदि इस यंत्र को एक ओर से देखा जायगा तो मालूम होगा कि झिल्ली के ऊपर जो वस्तु व अंग हैं वे दो प्रकार के स्तंभों से बने हैं। नीचे की ओर ये चौड़े होते हैं, बीच में पतले हो जाते हैं और ऊपर जाकर फिर चौड़े हो जाते हैं। ये दोनों प्रकार के स्तंभ एक दूसरे की ओर झुकते हैं और अंत में ऊपर की ओर एक दूसरे को ढक लेता है। यह ऊपर के चौड़े हुए भाग सिर कहलाते हैं। एक स्तंभ का सिर दूसरे स्तंभ के सिरे को ढके रहता है। इस प्रकार दोनों ओर के स्तंभों के बीच में एक स्थान रह जाता है, जो एक सुरंग का स्वरूप धारण कर लेता है। इन स्तंभों के साथ उनकी ओर को झुकते हुए कुछ लोमेश सेल रहते हैं जिनके ऊपर के सिरे से बाल के समान सूक्ष्म सूत्र निकलते हैं। श्रवण-नाड़ी के एक भाग से अनेक सूत्र आकर इन सेलों में फैल जाते हैं। इनके अतिरिक्त कोर्टी के यंत्र में और भी कई प्रकार के सेल रहते हैं।

जिन भिन्न-भिन्न रचनाओं का ऊपर वर्णन किया है, उन सबों का नाड़ियों से संबंध रहता है। नाड़ियों के भीतर आने और बाहर निकलने के लिये विशेष मार्ग होते हैं। कोक्लिया के बीच में जो स्तंभ होता है उसके तले से अनेक छिद्र द्वारा सूक्ष्म नलिकाएँ आरंभ होकर स्तंभ में होती हुई फलक तक चली जाती हैं। इन छिद्रों और नलिकाओं द्वारा नाड़ी के सूत्र भीतर आते हैं व बाहर जाते हैं। फलक के पास बहुत से नाड़ी-गंड रहते हैं जहाँ से सूक्ष्म सूत्र और स्तंभ कोक्लिया की दोनों बड़ी नलिकाओं में पहुँचते हैं। कुछ सूत्र कोर्टी लोमेश सेलों में जाते हैं।

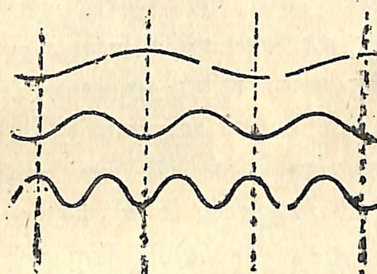
शब्द—वायु की कंपनाओं से शब्द की उत्पत्ति होती है। जब वायु में तरंगें उत्पन्न होकर हमारे कर्ण-पटह के द्वारा हमारे

भीतरी कर्ण में पहुँचती हैं और वहाँ से श्रवण-नाड़ी उन तरंगों से उत्पन्न हुई उत्तेजनाओं को मस्तिष्क तक ले जाती है तो हम शब्द का अनुभव करते हैं। ये तरंगें वायु के कणों में किसी कारण हलचल या विप्लव आ जाने से उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार जल में हमारे एक ढेला फेंक देने से जल में तरंगें उत्पन्न होकर वहाँ से चारों ओर को फैलती हैं, उसी प्रकार वायु में भी तरंगें उत्पन्न होकर बहुत दूर तक फैल जाती हैं।

जब वायु के कणों को किसी प्रकार धक्का लगता है तो उनको अपने स्थान से पीछे हटना पड़ता है। पीछे हटने में उनसे दूसरे कणों को धक्का लगता है जो फिर अपने पासवाले कणों को धक्का देते हैं। इस प्रकार यह धक्का बहुत दूर तक चला जाता है। यह धक्का ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों कम होता जाता है। अतएव वायु में तरंगें उत्पन्न करने के लिये वायु को धक्का देना आवश्यक है। जब हम किसी बाजे को बजाते हैं तो उसके स्वरों से वायु को धक्का लगता है। हम जब बोलते हैं तो हमारे स्वरयंत्र की पेशियों की कंपना से वायु को धक्का लगता है। यदि हम किसी वस्तु को किसी दूसरी वस्तु पर पटकते हैं तो उससे भी धक्का लगता है। इस प्रकार वायु के कणों में विप्लव उत्पन्न हो जाता है और उससे तरंगें उत्पन्न होकर चारों ओर को फैलती हैं। तरंगों के फैलने का अर्थ केवल कणों का कुछ समय के लिये अपने स्थान से हट जाना है। वह दूसरे कणों को धक्का देकर फिर अपने स्थान पर आ जाते हैं। जिस प्रकार मेलों में धक्के इत्यादि से भीड़ में हलचल मच जाती है वैसे ही वायु के कणों में हलचल मचने से तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं।

इन तरंगों का स्वरूप जल की लहरों के समान होता है। तरंग ऊपर उठती है, फिर नीचे गिरती है; फिर ऊपर उठती है और पुनः नीचे गिरती है। तरंग की ऊँचाई और निचाई के अनुसार ही शब्द का स्वरूप होता है। कोई तरंग अधिक ऊपर उठती है और नीचे भी अधिक गिरती है। अर्थात् उसकी लहरें बड़ी होती हैं। किसी कंपना से छोटी-छोटी तरंगें बनती हैं। इन लहरों की ऊँचाई और निचाई के अनुसार शब्द भी भिन्न होते हैं। ये अपनी गति में भौतिक नियमों का पूर्ण पालन करती हैं।

चित्र नं० ११६



ये लहरें वायु, ठोस पदार्थ और द्रव्य सब वस्तुओं के द्वारा यात्रा कर सकती है। वैज्ञानिकों के अनुमान के अनुसार वायु में उनकी गति ११२० फुट प्रति सेकिंड होती है। ताप के घटने-बढ़ने से इसकी गति भी घटती-बढ़ती है; ताप के बढ़ जाने से उसमें वृद्धि हो जाती है। जल में वायु की अपेक्षा शब्द की गति चौगुनी हो जाती है। आठ डिग्री सेंटीग्रेड पर उसकी गति ४७०८ फुट प्रति सेकिंड होती है। लकड़ी में उसकी गति १००००-१५००० फुट प्रति सेकिंड, चाँदी में ८८००, सोने में ६७०० और लोहे में १६००० फुट होती है।

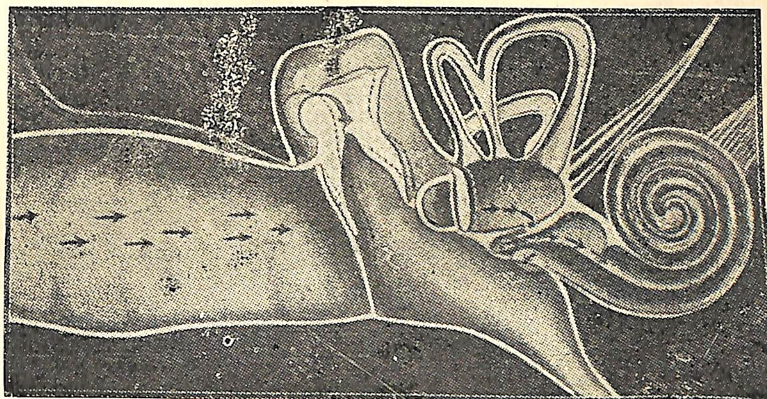
हम शब्द को किस प्रकार सुनते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है कि श्रवण से विशेष संबंध रखनेवाला भाग कोक्लिया है। यदि किसी पशु के कर्ण से कोक्लिया निकाल दिया जाता है तो उसकी श्रवण-शक्ति जाती रहती है। नीचे की श्रेणी के जंतुओं में, जिनको श्रवण-शक्ति की अधिक आवश्यकता नहीं होती, जैसे कि मछली, उनमें यह अंग नष्टप्राय पाया जाता है।

वायु में उत्पन्न हुई कंपनाएँ जब बाह्य कर्ण पर पहुँचती हैं तो कर्ण का बाह्य भाग उन कंपनाओं को एकत्रित करके कर्ण-पटह पर पहुँचा देता है। इन कंपनाओं के कारण कर्ण-पटह में भी कंपनाएँ होने लगती हैं। यदि कर्ण-पटह एक बिलकुल सपाट झिल्ली होती तो वह केवल एक ही प्रकार के स्वर से कंपित हो सकती थी। किंतु उसकी विचित्र बनावट उसको सब प्रकार के स्वरों को ग्रहण करने के योग्य बना देती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वरों से उसकी कंपनाओं की गति और उनकी तीव्रता में भी अंतर आ जाता है। कुछ स्वरों से कंपनाएँ कम उत्पन्न होती है और वे अधिक तीव्र भी नहीं होतीं; किंतु दूसरे उच्च स्वरों से अधिक और तीव्र कंपनाएँ उत्पन्न होती हैं।

इस पटह से मुद्‌गर के प्रवर्द्धन का संबंध रहता है और मुद्‌गर के दूसरे भाग से नेहाई व शूर्मिका लगी रहती है। इस शूर्मिका का संबंध रकाब-अस्थि के चौड़े भाग से रहता है जो कर्ण-कुटी के बड़े छिद्र में रहता है। इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। जब वायु की कंपनाओं से पटह में कंपना होने लगती है तो उनका मुद्‌गर पर प्रभाव पड़ता है। यदि पटह बाहर की ओर खिंचता है तो मुद्‌गर भी बाहर को खिंचता है। पटह के भीतर की ओर गति करने से मुद्‌गर भी पीछे को हटता है। इसी प्रकार

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १६

इसमें तीरों के द्वारा ध्वनि का मार्ग दिखाया गया है



From Harmsworth's Popular Science

(हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ४१०

नेहाई की भी गति होती है। नेहाई का गात्र तो मुद्गर से लगा रहता है; किंतु उसका प्रवर्द्धन रकाब से लगा रहता है। इनका आपस में इस प्रकार संबंध रहता है कि जब पटह मुद्गर को बाहर की ओर खींच लेता है तो नेहाई का गात्र भी बाहर की ओर खिच जाता है; किंतु उसका प्रवर्द्धन भीतर की ओर गति करता है। इससे रकाब की भी भीतर को गति होती है। वह अंत में कर्णकुटी के भीतर के तरल में कंपनाएँ या लहर उत्पन्न कर देता है। ये कंपनाएँ कोक्लिया को सारी कला को उत्तेजित कर देती हैं जहाँ से मस्तिष्क को सूचना पहुँचती है। तरल की कंपनाएँ कोर्टी के यंत्र पर विशेष रूप से प्रभाव डालती हैं। उसके लोमेश सेल, जिनके चारों ओर नाड़ी के सूत्र रहते हैं, इन कंपनाओं के अनुसार मस्तिष्क को शब्द का ज्ञान करा देते हैं। अर्द्धचंद्राकार नलियाँ श्रवण में कुछ भी भाग नहीं लेतीं।

इससे यह स्पष्ट है कि कंपनाएँ कोक्लिया तक अवश्य पहुँचनी चाहिए, नहीं तो शब्द का ज्ञान न होगा। यदि कोक्लिया में कुछ विकार आ जायगा तो भी शब्द का ज्ञान न होगा। यदि मध्य कर्ण इन कंपनाओं को अंतःकर्ण तक न पहुँचाएगा तो भी बधिरता उत्पन्न हो जायगी। कभी-कभी बाहर के कान में मैल जमा होने से भी सुनने में कठिनता होती है।

शब्द के संबंध में कई सिद्धांत हैं। एक सिद्धांत यह है कि कोक्लिया के तीसरी छोटी नलिका के फ़र्श बनानेवाली सारी झिल्ली वायु की कंपनाओं से काँपने लगती है जैसे कि टेलीफ़ोन की प्लेट काँपती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वर उस झिल्ली में भिन्न-भिन्न प्रकार की कंपनाएँ उत्पन्न करते हैं जिनसे लोमेश सेल उत्तेजित होकर मस्तिष्क को उसी के अनुसार सूचना देते

हैं। इस प्रकार इस सिद्धांत के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरों का ज्ञान व संयुक्त राग को उसके अवयव स्वरों में तोड़ना मस्तिष्क का कार्य है। दूसरे सिद्धांत के अनुसार, जिसके निर्माणकर्त्ता हेलमहोज़ (Helm-Holtz) हैं, यह काम कोक्लिया का है। साधारण बाजे में प्रत्येक स्वर उत्पन्न करने के लिये भिन्न-भिन्न परदे होते हैं। एक परदे से एक स्वर निकलता है और दूसरे से दूसरा। किसी एक परदे से एक से अधिक स्वर नहीं निकलते। हेलमहोज़ इसी प्रकार अंतस्थ कर्ण की मध्य कोक्लिया की झिल्ली में भिन्न-भिन्न सूत्र मानता है जो भिन्न-भिन्न स्वरों का ज्ञान कराते हैं। एक सूत्र केवल एक विशेष स्वर का ज्ञान कराता है। बस, जो स्वर अंतःस्थ कर्ण में पहुँचता है उससे मिला हुआ सूत्र कंपना करने लगता है जिससे ऊपर का लोमेश सेल मस्तिष्क को उस विशेष स्वर का ज्ञान करा देता है। यदि दो स्वर एक साथ बजते हैं तो उनसे मिलनेवाले दो सूत्र कंपना करने लगते हैं और मस्तिष्क को दोनों का ज्ञान हो जाता है।

उत्पादन

उत्पत्ति सृष्टि का नियम है। प्रत्येक जीव में, चाहे वनस्पति हो या पशु, उत्पत्ति अवश्य होती है। प्रकृति अपनी बनाई हुई जातियों को सदा बनाए रखने का पूर्ण प्रयत्न करती है। उनका नाश उसको अभीष्ट नहीं हैं। इसी कारण उसने छोटे से छोटे जीव को भी उत्पादन की शक्ति और कामना दी है। कहा जाता है कि Hunger and Sex rule the World. किंतु वास्तव में Sex शब्द पहले होना चाहिए था। कुत्ते की स्वामिभक्ति विख्यात है। उसको चाहे कितना भी स्वादिष्ठ भोजन क्यों न दिया जाय, किंतु वह प्राण रहते तो किसी दूसरे कुत्ते या चोरों को अपने स्वामी के मकान में नहीं आने देगा। किंतु स्त्रीजाति के सामने आते ही वह अपनी स्वामिभक्ति भूल जाता है। पूँछ हिलाता हुआ स्वामी के गृह के भोजन इत्यादि के नाश करने में वह कुतिया को सहयोग देता है। कुत्ता अपना भोजन कभी किसी दूसरे कुत्ते को नहीं देगा, पर अपनी प्रेयसी को तुरंत दे देगा।

सृष्टि के सब जीवों में यही देखा जाता है। मैथुन की इच्छा तो

प्रकृति ने प्रत्येक जीव में उत्पन्न की है ; वह क्षुधा से कहीं अधिक बलवान् होती है। मैथुन के साथ प्रकृति ने जो आनंद का अनुभव उत्पन्न किया है वह उत्पत्ति करने के लिये जीवों को बाध्य करने का एक साधन है। यदि मैथुन से लोगों को आनंद न मिलता तो कोई काहे को इतने कष्ट उठाता और इस प्रकार सृष्टि का अंत हो जाता। प्रकृति ने इस बात का पहले ही से ठीक-ठीक बंदोबस्त कर रक्खा है। मैथुन के साथ एक ऐसा आनंद रख दिया है कि सृष्टि के जीव उसके कारण मैथुन करते हैं और उसके द्वारा प्रकृति जाति की रक्षा करवाती है। कुछ जंतुओं (पतंग समुदाय Insects) में देखा जाता है कि वह स्त्री के साथ केवल एक बार मैथुन करते हैं। मैथुन कर चुकने के पश्चात् स्त्री पुरुष के शरीर का भक्षण आरंभ करती है; किंतु पुरुष चुपचाप स्त्री के सारे घातक आघातों को सह लेता है। वह अपनी रक्षा के कुछ भी उपाय नहीं करता। स्त्री उसके सिर को खाती है। इसके पश्चात् उसके वक्ष पर, जहाँ पुरुष के शरीर के सब मर्म अंग रहते हैं, आक्रमण आरंभ करती है ; उसको भी शीघ्र ही समाप्त कर देती है। इस प्रकार पुरुष के सारे शरीर को खा जाती है। ये पुरुष स्त्री की अपेक्षा कई गुणा अधिक बड़े होते हैं। उनमें बल भी बहुत अधिक होता है; किंतु मैथुन के समय स्त्री द्वारा अपने प्राण गँवा देते हैं और अपनी रक्षा का तनिक भी उद्योग नहीं करते।

इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि मैथुन का तात्पर्य केवल संयोग से आनंद प्राप्त करना है। प्रकृति ने केवल आनंद अनुभव करने के लिये मैथुन की सृष्टि नहीं की है। यह आनंद उसने केवल फँसाने का साधन रखा है। जो लोग प्रकृति के नियमों की अवहेलना करते हैं अथवा उसको अपने अभिप्राय से वंचित रखने

का उद्योग करते हैं उनको वह कठिन दंड देती है। जो लोग केवल आनंद के लिये अधिक संभोग करते हैं उनको नाना प्रकार के रोग, शरीर की जीर्णता, बल का नाश, तेज की क्षीणता, मस्तिष्क की दुर्बलता, सारे शरीर का बेकाम होना, हाथ-पाँवों का काँपना इत्यादि से पीड़ित होना पड़ता है। मैथुन की प्रकृति ने उत्पत्ति ही के लिये सृष्टि की है और वह प्रत्येक प्राणी से अपना अभिप्राय पूरा करवाती है। जो उसे धोखा देने का उद्योग करते हैं वे यथोचित दण्ड पाते हैं।

संसार के सब प्राणियों में उत्पत्ति होती होती है। अत्यंत सूक्ष्म प्राणियों से लेकर, जिनको देखने के लिये सूक्ष्मदर्शक यंत्र की आवश्यता होती है, बड़े से बड़े दीर्घ शरीरधारी प्राणी तक इस नियम का पालन करते हैं। जैसा पहले बताया जा चुका है जो नीची श्रेणी के प्राणी हैं उनमें उत्पत्ति दूसरे प्रकार से होती है। वे केवल दो भागों में विभाजित हो जाते हैं जिनमें से प्रत्येक भाग कुछ समय के पश्चात् पूर्ण हो जाता है और वह स्वतंत्र जीव की भाँति अपना जीवन आरंभ करता है। जितने रोगों के जीवाणु हैं उनमें उत्पत्ति इसी प्रकार होती है। अमीबा नामक जीव व अन्य एकसेलीय जीवों में उत्पत्ति की यही विधि देखी जाती है। यह अमैथुनी सृष्टि है। स्पायरोगायरा (Spirogyra) अथवा ऐल्गी (Algae) नामक वनस्पतियों में भी इसी प्रकार उत्पत्ति होती है।

कुछ जाति के जीवों में यहाँ भी यह देखा जाता है कि अमैथुनी उत्पत्ति केवल एक परिमित सीमा तक होती है। कुछ समय तक ये जीव विभाजित होकर नए जीव उत्पन्न करते रहते हैं, किंतु पश्चात् जीवों की यह शक्ति जाती रहती है। फिर

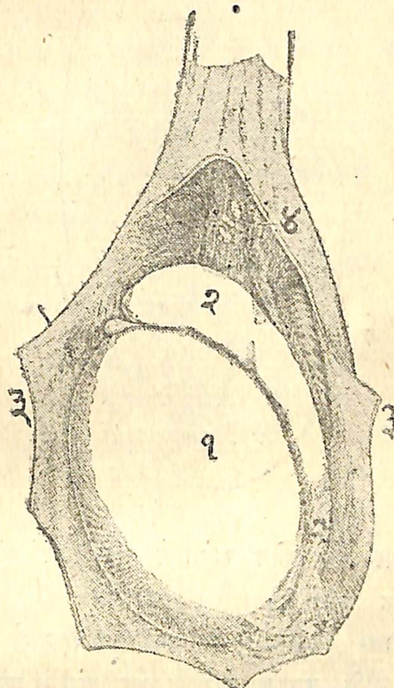
इनको मैथुन-विधि का आश्रय लेना होता है। स्त्री और पुरुष दोनों का संयोग होना है, जिससे नई जाति की उत्पत्ति होती है। यह जाति फिर अमैथुनी-विधि का साधन करती है। इस प्रकार इनमें अमैथुनी और मैथुनी-विधि दोनों का चक्र चलता है।

जो नीचे की श्रेणी के जीव हैं उनमें जाति की कोई भिन्नता नहीं पाई जाती। स्त्री और पुरुष दोनों भिन्न नहीं होते। अमीबा के शरीर में कोई पुरुष और स्त्री अंग नहीं पाए जाते। ज्यों-ज्यों जीवों की श्रेणियाँ ऊँची होती जाती हैं त्यों-त्यों ये विशेषताएँ भी उत्पन्न होती जाती हैं। अमीबा से कुछ ऊपर चलकर हम ऐसे जंतुओं को पाते हैं जिनमें स्त्री और पुरुष दोनों के अंग उपस्थित होते हैं। इनको उभयोत्पादक (Hermaphrodite) कहा जाता है। इससे भी अधिक आगे चलकर हमें पृष्ठ-वंशधारीय जीवों में जाति की पूर्ण भिन्नता मिलती है।

इन जीवों में पूर्ण मैथुनी सृष्टि होती है। पुरुष के शुक्राणुओं का जब स्त्री के रज के डिंभ से संयोग होता है तो नए जीव की नींव पड़ती है। उस समय स्त्री को गर्भ रहता है। इस गर्भ में स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुए नए जीव की वृद्धि होती है जिससे कुछ समय के पश्चात् नव शिशु का जन्म होता है।

नर-जननेंद्रियाँ—पुरुष में शुक्र बनानेवाली ग्रंथियों को शुक्र-ग्रंथि या अंड कहते हैं। यह दो होती हैं और अंडकोष में रहती हैं। एक थैली होती है जो लिंग के नीचे की ओर लटकती है। इसके ऊपर का चर्म बहुत पतला होता है। इसके नीचे एक अनैच्छिक मांस-पेशी का परत रहता है जिसमें कभी संकोच हो जाता है और कभी विस्तार। इसी के अनुसार कभी तो यह थैली सिकुड़ी हुई छोटी सी मालूम होती है और

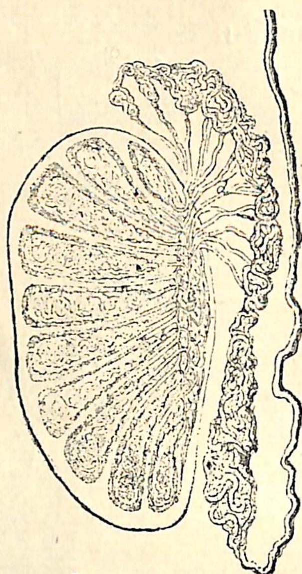
चित्र नं० ११६—अंडवेष्ट को एक ओर से काटकर अंड और उपांड दोनों दिखाए गए हैं।



१—अंड; २—उपांड; ३, ३′—अंडवेष्ट का कटा हुआ भाग; ४—शुक-प्रणाली।

कभी लंबी हो जाती है। इस थली के भीतर दो शुक्र-ग्रंथियाँ व अंड रहते हैं। उन दोनों के बीच में एक परदा रहता है। जहाँ पर बाहर दोनों ओर की खाल के बिलकुल बीच में एक सीवन रहती है उसी स्थान पर भीतर दोनों अंडों के बीच का परदा रहता है।

चित्र नं० ११७—अंड और उपांड में शुक्र-नलिकाओं का मार्ग।

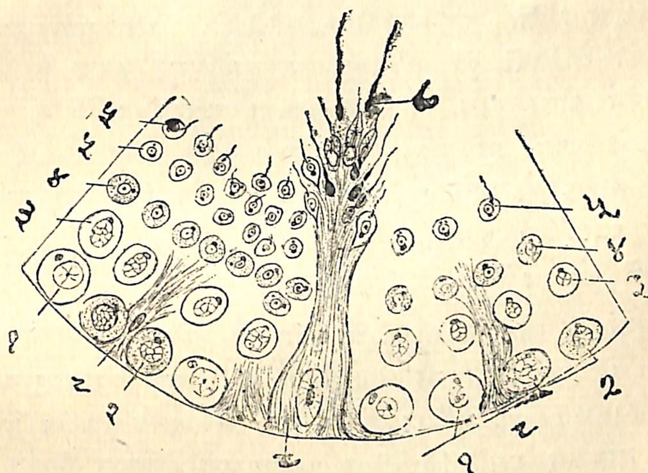


इन अंडों पर एक कोष रहता है जो उदर की औदर्य्या या महाकला का एक भाग होता है। भ्रूणावस्था की एक अवस्था में अंड उदर के भीतर रहते हैं। ज्यों-ज्यों भ्रूण में वृद्धि होती है त्यों-त्यों ये अंड भी नीचे उतरते जाते हैं और अंत में अंडों की थैली में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार यह अंडकोष व अंडवेष्ट उदर की महाकला से बनता है। इस अंडकोष के ऊपर एक और आवरण रहता है जिसको श्वेत होने के कारण श्वेतावरण कहा जाता है। यह पूर्णतया सौत्रिक धातु का बना होता है और बहुत कठिन होता है। किसी-किसी पशुओं में अंड उदर के भीतर पाए जाते हैं।

अंडों और शुक्र-ग्रंथियों का आकार अंडे के समान होता है।

बहुत से परदों के द्वारा अंड भीतर से कई कोष्ठों में विभाजित रहता है। ये कोष्ठ पूर्णतया एक दूसरे से अलग नहीं होते, किंतु कुछ-कुछ आपस में मिले रहते हैं। अंड के प्रत्येक कोष्ठ में बहुत सी मुड़ी हुई चक्करदार नलियाँ रहती हैं। ये नलियाँ बहुत बारीक होती हैं। सारी ग्रंथि में इस प्रकार की कोई ८०० से ६०० तक नलियाँ होती हैं। मुड़ी हुई होने के कारण नली थोड़े ही स्थान में आ जाती है, किंतु यदि उसको खोल दिया जाय तो प्रत्येक नली २ व ३ फीट लंबी हो जाती है।

चित्र नं० ११८—अंड के भीतर की शुक्र-नलिका का परिच्छेद; शुक्राणुओं की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ दिखाई गई हैं।



१—में इनकी प्रथम अवस्था दिखाई गई है; २, ३, ४, ५ अवस्थाओं में होते हुए ७ में पहुँचकर पूर्ण हो जाता है।

८—पोषक सेल।

ये नलियाँ ग्रंथि के अगले किनारे की ओर से आरंभ होकर

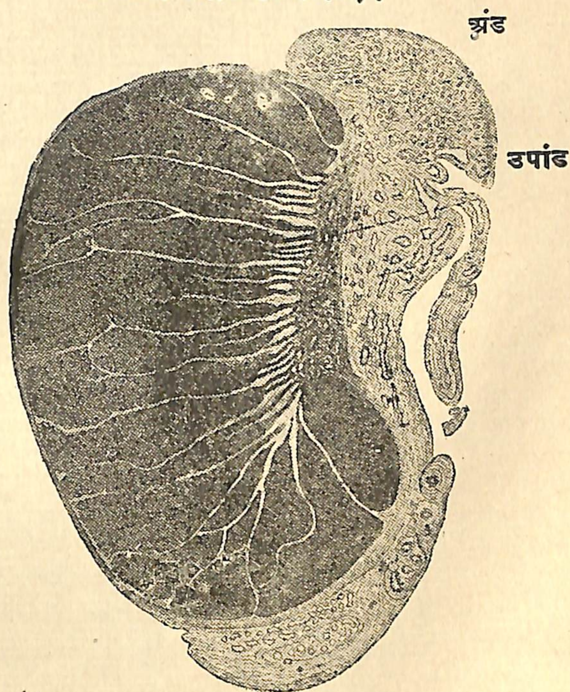
पीछे की ओर को जाती हैं, जहाँ वे एक दूसरे की ओर झुककर आपस में मिलती हैं। इससे पीछे की ओर एक जाल सा बन जाता है। यहाँ से कोई पंद्रह नलियाँ निकलती हैं जो बहुत ही मुड़ी हुई होती हैं। ग्रंथि के पिछले भाग पर ये एक ओर छोटी सी ग्रंथि बना देती हैं जिसको उपांड कहते हैं। हाथ से टटो-लने से यह उपांड अंड के पीछे की ओर प्रतीत किया जा सकता है। इसका ऊपर का सिरा चौड़ा और बड़ा होता है। ऊपर से नीचे की ओर इसका आकार घटता चला जाता है। अन्त में नीचे का भाग पतली पुच्छ की भाँति रह जाता है।

ये सब नलियाँ उपांड के सिर में पहुँचकर एक दूसरी बड़ी नली बनाती हैं जो शुक्र-प्रणाली कहलाती है। यह शुक्र-प्रणाली साँप की गेंडलियों की भाँति चक्कर खाती हुई उपांड के सिर से आरंभ होकर नीचे की ओर उतरना आरम्भ करती है और उपांड के पुच्छ पर पहुँच जाती है। इस स्थान पर उसकी मोटाई अधिक हो जाती है। यहाँ से प्रणाली फिर ऊपर चढ़ना आरंभ करती है। अंत में इसी नलिका के द्वारा शुक्र शिश्न की नली में पहुँचता है।

अंडों के कोष्ठों के भीतर जो मुड़ी हुई नलिकाएँ होती हैं वे वास्तव में एक प्रकार की ग्रंथि होती हैं। शुक्र के शुक्राणु वहीं बनते हैं। यदि एक नलिका को काटकर सूक्ष्मदर्शक यंत्र के द्वारा देखा जाय तो उसमें भिन्न-भिन्न अवस्थावाले शुक्राणु मिलेंगे। कोई पूर्णतया परिपक्व होंगे। कोई शुक्राणु बनना आरंभ ही करते होंगे। कोई बीच की अवस्था में होंगे। इन नलिकाओं की दीवारों के भीतर ये शुक्राणु बनकर नलिका के बीच की नली में आ जाते हैं और वहाँ से आगे को चलते हैं।

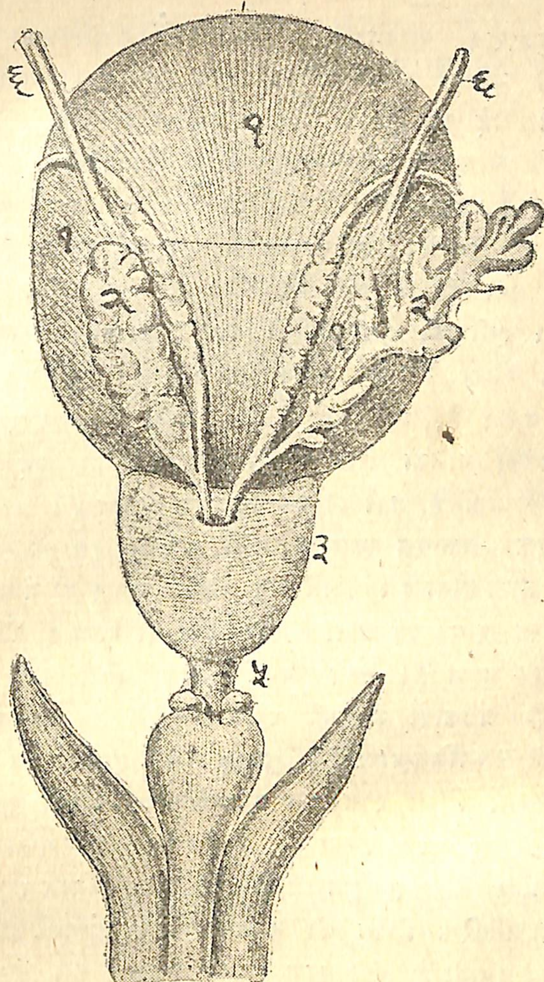
मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २०

अंड और उपांड का परिच्छेद



पृष्ठ-संख्या ५००

चित्र नं० ११६—मूत्राशय, शुक्राशय इत्यादि।



१—मूत्राशय। २, २'—शुक्राशय। ३—पौरुष ग्रन्थि।
४—प्रणाली जिसके द्वारा शुक्र बाहर आता है।
५—मूत्र-प्रणाली का श्लैष्मिक भाग। ६—गवीनो।

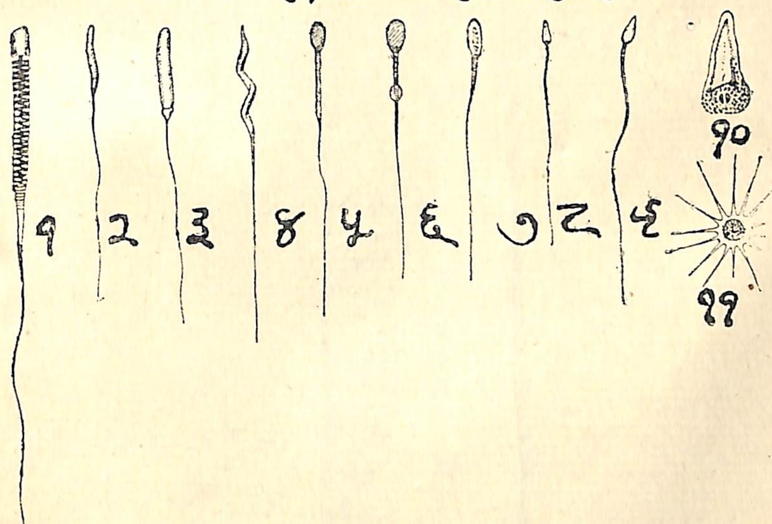
शुक्राशय—वस्तिप्रदेश में मूत्राशय के पिछले भाग से लगी हुई दो थैलियाँ होती हैं जिनमें शुक्र एकत्रित हो जाता है। ये थैलियाँ कोई दो इंच के लगभग लंबी होती हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में इनकी लंबाई-चौड़ाई भिन्न होती है। ये शुक्राशय कहलाती हैं। शुक्राशय में पीछे की ओर से आकर शुक्र-प्रणाली खुलती है। शुक्राशय भी वास्तव में एक प्रणाली ही है जो बहुत अधिक मुड़ी हुई है और कई भाग फूलकर कोष्ठ के समान हो गए हैं। इसी की छोटी-छोटी शाखाएँ इधर-उधर निकली रहती हैं जो कोष्ठों का रूप धारण कर लेती हैं। इसमें एक प्रकार का द्रव्य बनता है, जो शुक्र में मिल जाता है। इन शुक्राशयों से एक पतली नलिका पौरुष नामक ग्रंथि में होती हुई मूत्र-मार्ग तक चली जाती है, जहाँ वह एक छिद्र द्वारा खुलती है।

शुक्र—शुक्र एक प्रकार का गाढ़ा लसदार दूध के समान श्वेत रंग का द्रव्य होता है। इसमें एक विशेष प्रकार की गंध आती है। जिस वस्त्र पर वह पड़ जाता है वह कड़ा हो जाता है और वहाँ एक धब्बा पड़ जाता है। धब्बे का रंग हलका पीला होता है। यह सारा द्रव्य अंडकोषों में नहीं बनता। इसमें कई ग्रंथियों में बने हुए द्रव्य सम्मिलित रहते हैं। शुक्राशय की दीवारों का बना हुआ द्रव्य उसमें मिला रहता है। शुक्र-ग्रंथियों में भी शुक्राणुओं के अतिरिक्त कुछ द्रव्य बनता है, किंतु वह बहुत गाढ़ा होता है। पौरुष ग्रंथि में बना हुआ द्रव्य भी शुक्र में मिला रहता है। इन सबों के अतिरिक्त शिश्न की दीवारों में जो ग्रंथियाँ होती हैं वे भी कुछ द्रव्य बनाती हैं, जो शुक्र में मिल जाता है। इस प्रकार शुक्र कई भाँति के द्रव्यों का मिश्रण है। यह द्रव्य शुक्राणुओं के जीवन के लिये आवश्यक होता है। किंतु शुक्र की मुख्य वस्तु शुक्राणु होते

हैं जो शुक्र-ग्रंथियों की नलिकाओं में बनते हैं। यदि शुक्र शुक्राणुओं से रहित हो तो वह जल की भाँति स्वच्छ और पारदर्शी होगा। इसमें श्वेत रंग शुक्राणुओं के ही कारण होता है। इसको प्रतिक्रिया हलकी क्षारीय होती है।

यदि ताजे शुक्र को एक काँच के स्लाइड पर लेकर सूक्ष्मदर्शक यंत्र के द्वारा देखा जाय तो उसमें अत्यंत छोटे-छोटे जीव बड़ी

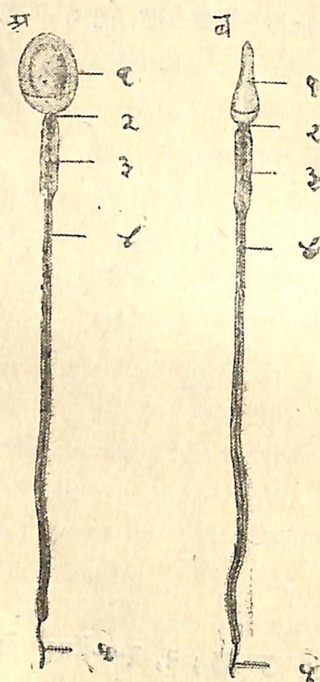
चित्र नं० १२०—कुछ भिन्न-भिन्न जंतुओं के शुक्राणु।



१—चमगादड़ के शुक्राणु ; २, ३—मेंढक के शुक्राणु ; ४—एक प्रकार की मछली के शुक्राणु ; ५—मेढ़ा के ; ६, ७—सूअर के ; ८—जेलो फ़िश नामक जंतु के ; ९—बंदर के ; १०—दीर्घ कृमि (Round Worm) जो अंत्रियों में होते हैं) के ; ११—करकट (Crate) के।

तेजी से इधर से उधर को दौड़ते हुए दिखाई देंगे। ये शुक्राणु हैं जो उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। चित्र में देखने से इनकी रचना ठीक प्रकार समझ में आ जायगी। सबसे ऊपर गोल सिर है जिस पर एक आवरण चढ़ा हुआ है। इसके नीचे से शुक्राणु का गात्र आरंभ होता है। जिस स्थान पर गात्र और सिर मिलते हैं वह

चित्र नं० १२१—मनुष्य के शुक्राणु।

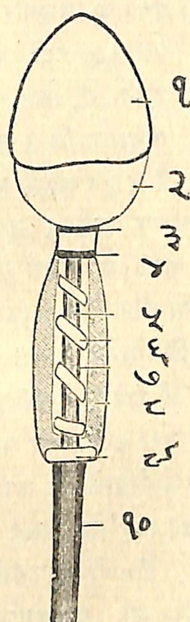


अ—आगे की ओर से; ब—पार्श्व की ओर से; १—सिर-त्राण जो सिर के ऊपर चढ़ा रहता है; २—ग्रीवा; ३—गात्र; ४—पुच्छ; ५— अंतिम भाग।

स्थान कुछ भीतर को दबा हुआ है और गात्र से पतला है। वह ग्रीवा है। गात्र के नीचे से शुक्राणु की पूँछ आरंभ होती है, जो बहुत लंबी है। इसके बिलकुल बीच में एक गाढ़ा काले रंग का सूत्र चित्र में दिखाया गया है। यह शुक्राणु का अक्षीय सूत्र है। पुच्छ के दूसरे सिरे से एक पतला सूत्र निकला रहता है।

शुक्राणु अपनी पुच्छ की सहायता से द्रव्य में तेजी से गति

चित्र नं० १२२—मनुष्य का शुक्राणु बहुत बढ़ाकर दिखाया गया है।



१—सिरत्राण। २—सिर। ३—पूर्व आकर्षक। ४—पश्चात् आकर्षक। ५—अक्ष। ६—चक्राकार वेष्ट। ७—अक्ष का वेष्ट। ८—बाह्यावरण। ९—मंडलाकार भाग। १०—पुच्छीय भाग में अक्ष का वेष्ट।

करते हैं। गति के समय इनकी पुच्छ उसी प्रकार हिलती है, जैसे सर्प के चलने के समय उसका शरीर गति करता है। शुक्राणु की लंबाई $\frac{१}{१०००}$ से $\frac{१}{५००}$ इंच तक कही जाती है। चित्र में देखने से विदित होगा कि सिर का अगला भाग नोकीला होता है; पीछे का भाग चौड़ा होता है। इसकी सहायता से वह डिंभ के आवरण को छेद कर सहज में उसके शरीर के भीतर प्रवेश करता है।

ये शुक्राणु लगभग २५ वर्ष की आयु में उत्तम प्रकार से बनने आरंभ होते हैं। इससे पूर्व ये कमजोर होते हैं। इसी कारण थोड़ी अवस्था की संतान बलवान् नहीं होती। निर्बल शुक्राणु शुक्र में बहुत धीरे-धीरे गति करते हैं, किंतु बलवान् शुक्राणु बहुत तेजी से गति करते हैं। यह अनुमान किया जाता है कि एक बार मैथुन के पश्चात् स्वस्थ मनुष्य में एक तोले के लगभग शुक्र निकलता है। इसमें बीस करोड़ के लगभग शुक्राणु उपस्थित रहते हैं। गर्भ में केवल एक ही शुक्राणु काम में आता है। शेष सबों का नाश हो जाता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि एक बार मैथुन द्वारा निकलनेवाले शुक्राणु कितने गर्भ उत्पन्न कर सकते हैं।

कुछ पुरुषों के शुक्र में शुक्राणु नहीं होते। वे यद्यपि मैथुन कर सकते हैं, किंतु संतान नहीं उत्पन्न कर सकते।

अंडधारक रज्जु—शुक्र-ग्रंथियों के ऊपर यदि खाल को दबा कर देखा जावे तो भीतर रज्जु के समान कुछ वस्तुएँ प्रतीत होंगी। ये वे भिन्न-भिन्न नलिकाएँ हैं जो शुक्र-ग्रंथि को जा रही हैं या वहाँ से आ रही हैं। वे सब नलिकाएँ आपस में सौत्रिक तंतु द्वारा बँधी रहती हैं और अंडधारक रज्जु के नाम से पुकारी जाती हैं, क्योंकि शुक्र-ग्रंथि इसी रज्जु से लटकी हुई है। इस रज्जु को बनानेवाले निम्न अवयव हैं—

१. शुक्र-प्रनाली ।

२. शुक्र-प्रनाली की धमनी ।

३. शुक्र-ग्रंथि की धमनी ।

४. नाड़ियाँ ।

५. लसीकावाहिनी नलियाँ ।

६. शिराओं का जाल । अंड के चारों ओर शिराओं का एक जाल सा बना रहता है ।

इन सब वस्तुओं में शुक्र-प्रनाली सबसे कठिन और कड़ी होती है । अतएव जब हम हाथ से टटोलते हैं तो हमें वह वस्तु विशेष-कर मालूम होती है । ये सब वस्तुएँ रज्जु के साथ उदर में चली जाती हैं । कभी-कभी वह छिद्र, जिसके द्वारा ये उदर में प्रवेश करती हैं, बड़ा हो जाता है । ऐसी दशा में उसमें होकर अंत्रियाँ अंडकोष में उतर आती हैं । उसको साधारणतया आँत उतरना कहा जाता है । शिराओं का जाल नरम-पतली रस्सियों का समूह ऐसा प्रतीत होता है ।

शिश्न—मैथुन का यंत्र शिश्न है । इसी के द्वारा मनुष्य का शुक्र स्त्री की योनि में पहुँचता है । अतएव इसकी रचना भी जानना आवश्यक है ।

शिश्न वास्तव में तीन लंबे-लंबे दंडों से बना हुआ है जो शिश्न की जड़ से भगास्थियों के मिलने के स्थान से आरम्भ होकर शिश्न के अग्र भाग तक, जो शिश्न-मुंड कहलाता है, चले आते हैं । इनमें से दो दंड तो ऊपर रहते हैं और एक नीचे रहता है । नीचेवाला दंड बीच में से खोखला होता है जिसके द्वारा मूत्र इत्यादि बाहर निकलता है । ऊपर के दोनों दंड ठोस होते हैं । इनके बीच में शिश्न की दो धमनियाँ, नाड़ियाँ और एक

शिरा रहती है। इन दंडों की बनावट विचित्र होती है। इनके भीतर कई छोटे-छोटे कोष्ठ होते हैं जिनमें रक्त भर जाने से शिश्न का प्रहर्ष हो जाता है। इसी से मैथुन संभव होता है। मैथुन के पश्चात् इन स्थानों में से रक्त लौट जाता है और अंग ढीला पड़ जाता है। इन कोष्ठों के ऊपर, जो सौत्रिक तंतु और मांस के बने होते हैं, सौत्रिक तंतु और अनैच्छिक मांस चढ़ा रहता है। इन सबों पर चर्म आच्छादित होता है जिससे लिंग या शिश्न का साधारण रूप बन जाता है।

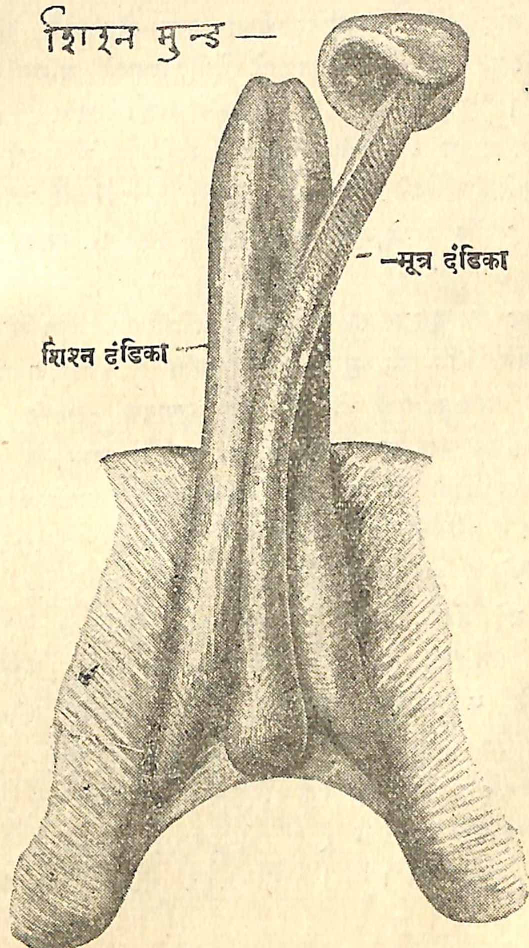
शिश्न का आगे का भाग जो मुंड कहलाता है वह ऊपर के दंडों से नहीं बनता। इन दंडों का मुंड के पीछे ही अंत हो जाता है। केवल नीचेवाला दंड ऊपर के दोनों दंडों से आगे बढ़ा चला जाता है। उसका अंतिम भाग इस प्रकार चौड़ा हो जाता है, जैसे कि 'साँप की छत्री' की डंडी के ऊपर छत्र होता है। इसमें जो बाहर की ओर छिद्र होता है उसी के द्वारा मूत्र बाहर निकलता है।

नारी-जननेंद्रियाँ—जिस प्रकार मनुष्य में दो शुक्र-ग्रंथियाँ होती हैं, उसी प्रकार स्त्रियों में भी दो डिंभ-ग्रंथियाँ होती हैं। एक बाईं ओर और दूसरी दाहनी ओर रहती है। इनमें डिंभ तैयार होते हैं। जब इनका पुरुष के शुक्राणु से संयोग होता है तभी गर्भ की स्थापना होती है।

इन ग्रंथियों का रंग गहरा भूरा होता है। इनकी लंबाई एक इंच और चौड़ाई $\frac{3}{4}$ इंच या मोटाई $\frac{1}{2}$ इंच के लगभग होती है। इनका भार ६ माशे के करीब होता है। ये उदर के पीछे की दीवार पर गर्भाशय के दोनों ओर लगी रहती हैं। गर्भाशय से एक बंधन डिंभ-ग्रंथि तक फैला रहता है। इसके ऊपर सौत्रिक

तंतु का एक आवरण रहता है। इसके भीतर भी सौत्रिक तंतु

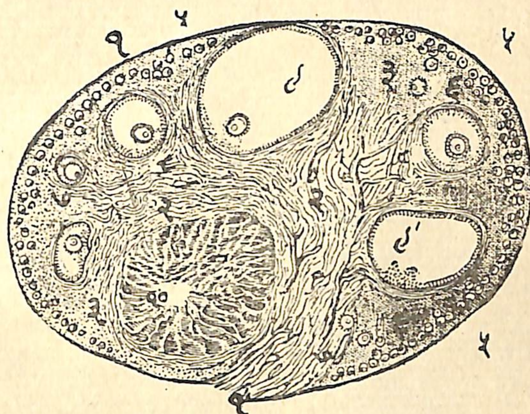
चित्र नं० १२३—शिश्न की पेशी।



रहता है जिसके साथ में कुछ अनैच्छिक पेशी की सेलें भी मिली रहती हैं। ग्रंथि के ऊपर जो कला रहती है उसको उत्पादक कला कहते हैं। यह कला जहाँ-तहाँ ग्रंथि के भीतर भी चली जाती है। यदि ग्रंथि को काटकर देखा जाय तो उसके भीतर सेलों की बनी हुई कुछ थैलियाँ दिखाई देंगी, जिनको आशय भी कह सकते हैं। इन थैलियों को डिंभ-कोष कहा जाता है। जो छोटे डिंभ-कोष हैं वे ग्रंथि की सतह पर रहते हैं और जो बड़े हैं वे नीचे रहते हैं। किंतु ज्यों-ज्यों वे बढ़ते हैं त्यों-त्यों ऊपर की ओर सरकते हैं और अन्त में ग्रंथि के ऊपरी तल पर आकर फट जाते हैं।

डिंभ-कोष के बाहर का आवरण उसी सौत्रिक तन्तु से बना होता है जिससे ग्रंथि का मुख्य भाग बनता है। इसके भीतर सेलों का एक परत रहता है जो ग्रंथि की उत्पादक कला से बनता है। इसके भीतर कुछ द्रव्य भरा रहता है और द्रव्य के भीतर एक बड़ी सेल होती है जो डिंभ कहलाती है। ज्यों-ज्यों डिंभ बढ़ता जाता है त्यों-त्यों प्रत्येक परत के सेलों की संख्या भी बढ़ती है। छोटे कोषों में द्रव्य नहीं होता। वह उनके बढ़ने पर उत्पन्न होता है। बड़े होने पर डिंभ के चारों ओर सेलों के कई परत उत्पन्न हो जाते हैं। यह सब डिंभ-वेष्ट कहलाता है। धीरे-धीरे डिंभ-कोष के भीतर का द्रव्य बढ़ता है, जिससे कोष तन जाता है। वह ग्रंथि की सतह पर पहुँचता है और तरल के तनिक और बढ़ने से फट जाता है। इससे कोष के भीतर का डिंभ स्वतन्त्र होकर डिंभ-प्रणाली (Fallopian Tube) के सिरे के झालर में अटक जाता है। वहाँ से वह धीरे-धीरे गर्भाशय में पहुँचता है।

बिल्ली की डिंभ-ग्रंथि का परिच्छेद।



१—ग्रंथि के स्वतंत्र धारा का बाह्यावरण जिस ओर वह बंधन से नहीं लगी हुई है।

१—दूसरी धारा जिस ओर ग्रंथि दूसरे अंगों से जुड़ी हुई है।

२—ग्रंथि का आंतरिक भाग।

३—कणमय भाग जो सौत्रिक भाग के बाहर की ओर स्थित है।

४—रक्त-नलिकाएँ।

५—डिंभ-कोष की प्रथम अवस्था।

६—डिंभ-कोष की दूसरी अवस्था जहाँ उनका परिपक्वीकरण आरंभ हो चुका है और वे ग्रंथि के भीतर की ओर चले गए हैं।

७—

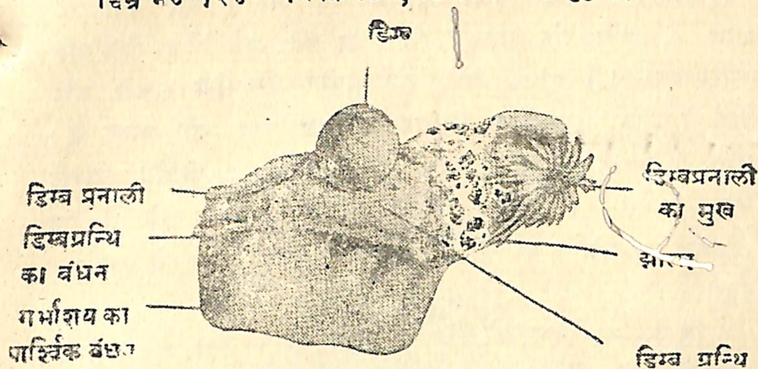
८—डिंभ-कोषअधिक परिपक्कहोकरसौत्रिक भाग में पहुँच गयाहै।

९—सबसे अधिक परिपक्व डिंभ-कोष जिससे डिंभ निकलने-वाले हैं।

[illegible]—कोष जिससे किसी कारण से डिंभ निकल गया है

१०—पीतांग।

चित्र नं० १२४—परिपक्व डिंभ, डिंभ-ग्रन्थि के पृष्ठ पर स्थित।



(हमारे शरीर की रचना से)

यह माना जाता है कि शुक्राणु और डिंभ का संयोग डिंभ-प्रनाली में होता है। गर्भाशय की ओर से शुक्राणु आता है और डिंभ-प्रनाली के दूसरे सिरे की ओर से डिभ जाता है। बीच में दोनों का मिलान हो जाता है। यह अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक डिंभ-ग्रंथि में ७२,००० के लगभग डिंभ-कोष होते हैं। अतएव डिंभों की भी इतनी ही संख्या होती है। प्रत्येक आर्त्तव में ग्रंथि से एक डिंभ निकलता है।

जब डिंभ-ग्रंथि से डिंभ निकल चुकता है तो फटे हुए डिंभ-कोष में पीले रंग के कुछ सेल उत्पन्न हो जाते हैं। यह उन्हीं सेलों से बनते हैं जो डिंभ-कोष के ऊपरी आवरण के भीतर की ओर स्थित थे। उन्हीं सेलों के बढ़ने से ये पीले रंग के सेल उत्पन्न होकर खाली स्थान को भर देते हैं। कभी-कभी यहाँ पर कुछ रक्त भी दिखाई पड़ता है जो कोष के फटने से निकलता है। यह पीतांग कहलाता है। इसमें विचित्रता यह होती है कि

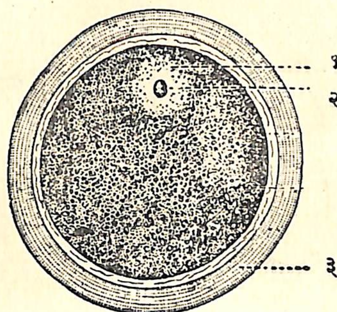
यदि गर्भ स्थापन हो जाता है, तो यह पीतांग और बड़ा हो जाता है, और अंत तक इसके चिह्न बने रहते हैं। किंतु यदि गर्भस्थापना नहीं होती तो वह पीतांग धीरे-धीरे सूखने और सिकुड़ने लगता है; यहाँ तक कि वह बिलकुल नष्ट हो जाता है। गर्भ के न होने पर छठे महीने के पश्चात् यह पीतांग दिखाई भी नहीं देता किंतु गर्भ स्थापन होने पर नवें महीने में यह इतना बड़ा हो जाता है कि इसकी परिधि १/२ इंच के लगभग होती है।

डिंभ—यह डिंभ, जो कोष के फटने से निकलता है, कुछ गोल होता है। बीच में प्रोटोप्लाज्म का समूह होता है और इसके चारों ओर एक स्वच्छ पारदर्शक झिल्ली होती है। इसको बाह्य वेष्ट कहते हैं। प्रोटोप्लाज्म में बसा और अलबूमन के बहुत से कण पाए जाते हैं। वह इन कणों से भरा रहता है। वास्तव में यह डिंभ का पोषण-संग्रह है। उसने आगे के लिये अभी से अपने खाने की सब सामग्री एकत्रित कर ली है। प्रोटोप्लाज्म में एक स्थान पर केंद्र और केंद्राणु रहते हैं। इस स्थान पर किसी प्रकार के कण नहीं होते। प्रोटोप्लाज्म स्वच्छ होता है। इस सेल के भीतर एक आकर्षक मंडल भी होता है। इस सारे प्रोटोप्लाज्म के चारों ओर बाह्यावरण के भीतर एक पतला सा अंतरावरण रहता है।

डिंभ-प्रणाली—यह वह प्रणाली है जिसके द्वारा ग्रंथि से निकलकर डिंभ गर्भाशय में जाता है। ये दो प्रणालियाँ दाहनी और बाईं, गर्भाशय के ऊपरी भाग के सिरों से आरंभ होती हैं। प्रत्येक प्रणाली ४ इंच के लगभग लंबी होती है। गर्भाशय के दोनों ओर से जो बंधन वस्ति-प्रदेश को जाते हैं उनके

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २२

एक मानुषिक डिंभ



१—केंद्र या उत्पादक कोष।

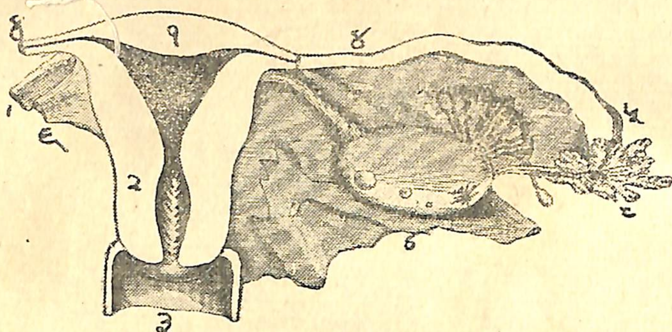
२—केंद्राणु या उत्पादक कण।

३—बाह्यावरण।

पृष्ठ-संख्या ५१२

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २३

गर्भाशय, डिंभ-प्रणाली और डिंभ-नलिका इत्यादि । भग के नीचे और आगे का भाग और गर्भाशय का अंतिम भाग काट दिए गए हैं ।



१—गर्भाशय का ऊपरी भाग ;

२—ग्रीवा (आंतरिक द्वार के पास) ;

३—भग का ऊपरी और पिछला भाग ;

४—डिंभ-प्रणाली ;

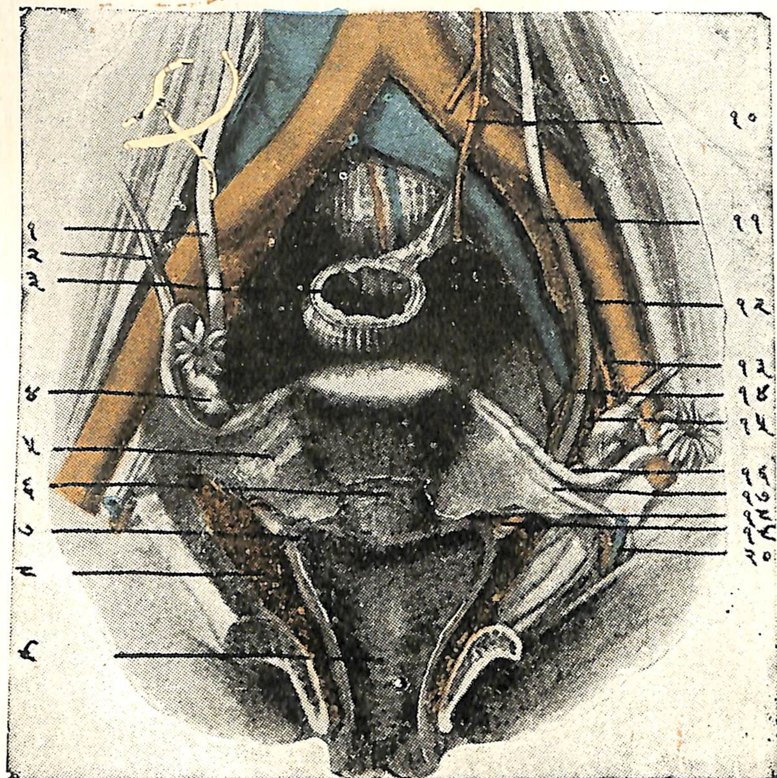
५—डिंभ-प्रणाली का चौड़ा भाग ;

६—डिंभ का बंधन ;

७—डिंभ-ग्रंथि ;

८—डिंभप्रणाली के दूसरे सिरे की झालर ;

नारी-वस्ति गह्वर



(Cunningham's Practical Anatomy)

(हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ४१२

प्लेट नं० २४ की व्याख्या

१=मूत्र-प्रणाली
२=डिंभ रक्तवाहिनियाँ
३=श्रोणिगा बृहत् अंत्र
४=डिंभ ग्रंथि
५=गर्भाशय का पार्श्विक बंधन
६=जरायु ग्रीवा
७=योनि पार्श्विक कोण
८=गुदोत्थापिका पे०
९=योनि की कला जिसमें सलवटें पड़ी रहती हैं
१०=सरलांत्रोर्ध्व धमनी
११=अंतः श्रोणिगा धमनी
१२=मूत्र-प्रणाली
१३=नाभि धमनी (सूखी हुई)
१४=सरलांत्र मध्य धमनी
१५=गर्भाशयिकी धमनी
१६=डिंभ-प्रणाली
१७=गोल बंधन
१८=गर्भाशयिकी धमनी
१९=मूत्र-प्रणाली
२०=उदराधः रक्तवाहिनियाँ



दोनों स्तरों के बीच में यह प्रणाली रहती है। उसका दूसरा सिरा डिंभ-ग्रंथि के पास खुलता है। इस सिरे पर एक झालर सी लगी हुई है। इस प्रणाली का डिंभ-ग्रंथि से वास्तव में कोई संबंध नहीं रहता। केवल यह झालर उसके पास रहती है। इसी के सहारे से डिंभ प्रणाली में आकर गर्भशय की ओर चला जाता है।

प्रणाली की दीवारें सौत्रिक तंतु की बनी हुई होती हैं। ... में कुछ अनैच्छिक मांस-पेशियाँ भी रहती हैं। भीतर की ओर श्लैष्मिक कला रहती है। किंतु इस कला में लंबाई की ओर कुछ सिलवटें पड़ी हुई हैं। यहाँ की कला में वे सेल होते हैं, जिनके ऊपर से बारीक बारीक सूत्र निकले रहते हैं। उनकी क्रिया गर्भाशय की ओर हुआ करती है। अतएव वे डिंभ को आगे बढ़ने में सहायता देते हैं।

गर्भाशय—यह वह अंग है जिसमें गर्भ की स्थापना होती है। यह वस्ति-प्रदेश में रहता है। चित्र की ओर देखने से इसका आकार तुरंत ही समझ में आ जायगा। उसके सामने की ओर मूत्राशय और पीछे की ओर मलाशय रहते हैं।

गर्भाशय के ऊपर का भाग चौड़ा और मोटा होता है, किंतु नीचे का भाग पतला हो जाता है। यहाँ उसका मुख होता है जो योनि में पीछे की ओर खुलता है। इस मुख के दो ओष्ठ होते हैं; एक अगला और दूसरा पिछला। ऊपर का गर्भाशय का चौड़ा व मोटा भाग उसका गात्र कहलाता है। मुख के ऊपर का पतला भाग ग्रीवा कहा जाता है। गर्भ धारण करने से पूर्व गर्भाशय ३ इंच लंबा, २ इंच चौड़ा और १ इंच मोटा होता है, किंतु गर्भ के पश्चात् उसका आकार बढ़ जाता है।

गर्भाशय को अपने स्थान पर रखनेवाले कई बंधन होते हैं। दोनों ओर से उदर की कला उसको वस्ति के पार्श्व भाग से बाँधे हुए है। इस कला के दोनों परतों के बीच एक गोल रज्जु के समान बंधन रहता है। इसके अतिरिक्त और भी कई बंधन होते हैं।

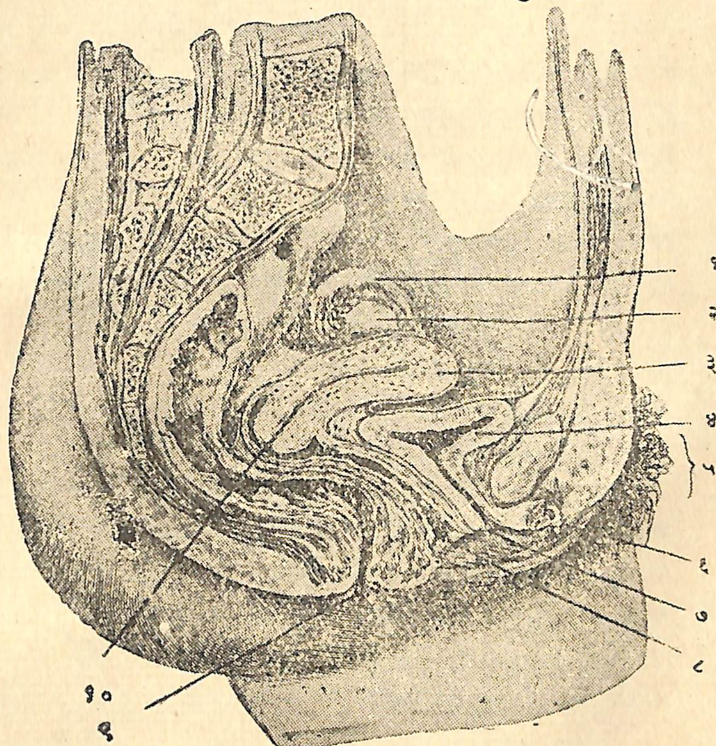
यदि गर्भाशय को काटकर सूक्ष्म-दर्शक यंत्र में देखा जाय तो उसकी दीवारें तीन प्रकार के भागों से बनी हुई दिखाई देंगी। सबके भीतर श्लैष्मिक कला; उसके बाहर पेशी; उससे बाहर सौत्रिक तंतु का स्तर। इन्हीं तीन परतों से डिंभ-प्रणाली भी बनी होती है। किंतु गर्भाशय में पेशी का भाग बहुत अधिक होता है। क्योंकि उसको पेशी की आवश्यकता भी अधिक होती है।

साधारणतया गर्भाशय के भीतर खाली स्थान नहीं रहता। उसकी दीवारें आपस में मिली रहती हैं। जब वहाँ गर्भ की स्थापना होती है तब उसकी दीवारें एक दूसरे से अलग हो जाती हैं और उनके बीच में स्थान हो जाता है। ज्यों-ज्यों गर्भ बढ़ता है त्यों-त्यों स्थान भी अधिक होता जाता है।

योनि—योनि गर्भाशय के मुख तक पहुँचने का मार्ग है; यद्यपि इसका वहीं अंत नहीं हो जाता। वह वास्तव में एक नली है। उसका ऊपर का सिरा गर्भाशय के मुख और ग्रीवा के नीचे रहता है। गर्भाशय का मुख इस नली में आगे की ओर को निकला रहता है। इस कारण यह नली गर्भाशय के मुख के पीछे, किंतु उससे अधिक ऊपर तक चली जाती है। इस नली का नीचे का खुला हुआ सिरा और इसका बाहर का छिद्र भग के ओष्ठों के बीच में मूत्र द्वार से आधा इंच ऊपर रहता है। ऊपर यह

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २५

नारी-वस्तिगह्वर (लंबाई की ओर से कटा हुआ)



(हमारे शरीर की रचना से

१ — डिंभ-प्रणाली । २—डिंभ-ग्रंथि । ३— गर्भाशय । ४—मूत्राशय । ५ कामाद्रि । ६—भगनासा । ७ मूत्रबहिर्द्वार । ८— योनिद्वार । ९— मलद्वार । १० - गर्भाशय का बहिर्मुख ।

पृष्ठ-संख्या ५१४

नली गर्भाशय के पीछे की ओर जितनी गहरी है उतनी आगे की ओर नहीं है। ये उसके पूर्व और पश्चात् कोण कहलाते हैं। मैथुन करने से पूर्व बाहर का द्वार एक प्रकार की झिल्ली से बंद रहता है जो मैथुन से टूट जाता है।

इस नली की लंबाई कोई तीन या चार इंच होती है। उसके भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक कला रहती है। वह एक प्रकार का तरल बनाती रहती है जिससे सारी नली सदा गीली रहती है। प्रदर के रोगों में यह तरल अधिक बनने लगता है। योनि-द्वार पर योनि-संकोचिनी पेशी रहती है। योनि की दीवार में शिराओं की संख्या बहुत अधिक होती है, जो मैथुन के समय रक्त से भर जाती है। मैथुन के पश्चात् वह फिर खाली हो जाती है।

जननेंद्रियों की रचना का सामान्यतः ज्ञान प्राप्त कर चुकने के पश्चात् अब हमको इस बात का ज्ञान करना आवश्यक है कि गर्भ की स्थापना किस प्रकार होती है? कौन-कौन भाग क्या-क्या कार्य करते हैं, डिंभ किस समय ग्रंथि में से निकलता है और उसके और शुक्राणु के संयोग से किस प्रकार गर्भस्थिति होती है। यह गर्भशास्त्र अथवा भ्रूण-शास्त्र स्वयं ही विज्ञान की एक बड़ी शाखा है। इस विषय का पूर्णतया वर्णन करने के लिये एक इस पुस्तक से भी बड़े ग्रंथ की आवश्यकता है। इस कारण यहाँ पर गर्भ-संबंधी केवल बहुत मोटी-मोटी बातों के बताने की चेष्टा की जायगी।

आर्त्तव—डिंभ उस समय ग्रंथि से निकलता है जिस समय स्त्री को मासिक धर्म होता है। यह हमारे देश में १२-१४ वर्ष की आयु में आरंभ होता है और ४५-५० वर्ष की आयु तक जारी रहता है। इसके पश्चात् वह बंद हो जाता है। इसको

रजोनिवृत्ति कहते हैं। आर्त्तव के समय में भिन्न-भिन्न दशाओं में अंतर पाया जाता है। शीत देशों में रजोदर्शन देर से होता है। जो लड़कियाँ आमोद-प्रमोद में पलती हैं, उत्तेजक वस्तुएँ खाती हैं और ऐसे ही उपन्यास पढ़ती हैं उनमें साधारण काम-काज करनेवाली ग्रामीण कन्याओं की अपेक्षा रजोदर्शन शीघ्र आरंभ हो जाता है। रजोदर्शन से यह समझा जाता है कि कन्या युवती हो गई अर्थात् संतानोत्पत्ति के योग्य हो गई है।

प्रत्येक स्त्री को लगभग चार सप्ताह के पश्चात् मासिक धर्म होता है और तीन या चार दिन तक रहता है। इस समय में योनि से रक्त का स्राव होता रहता है। उस समय में अथवा उसके आरंभ होने से कुछ समय पूर्व ही से गर्भाशय की श्लैष्मिक कला लाल हो जाती है। उसमें रक्त का संचालन अधिक होता है। श्लैष्मिक कला के नीचे कहीं-कहीं रक्त जमा होने लगता है। अंत में रक्त के अधिक होने से श्लैष्मिक कला फट जाती है और रक्त बहने लगता है। यह साधारण रक्त नहीं होता, किंतु उससे कुछ भिन्न होता है। उसमें श्लेष्मा अधिक रहता है। इस कारण वह साधारण रक्त की भाँति नहीं जमता। इसमें चूने के लवणों की भी अधिकता होती है और श्लैष्मिक कला का भी बहुत कुछ भाग रहता है। मासिक स्राव से गर्भाशय की कला का बहुत सा भाग नष्ट हो जाता है। कभी-कभी कला के नीचे स्थित सेलों का भी नाश हो जाता है। यह स्राव तीन-चार दिन तक होने के पश्चात् फिर बंद हो जाता है। अनुमान किया जाता है कि एक बार मासिक स्राव में दो या तीन छटाँक रक्त निकलता है। किंतु इसका परिमाण सब स्त्रियों में समान नहीं होता। किन्हीं में अधिक होता; किन्हीं में कम होता है। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

आर्त्तव के समय में दूसरी जननेंद्रियों में भी कुछ परिवर्त्तन होते हैं। डिंभ-ग्रंथि में रक्त का अधिक संचालन होता है। गर्भाशय की दीवारें रक्तमय हो जाती हैं। योनि की श्लैष्मिक कला भी रक्त की अधिकता के कारण कुछ सूज जाती है और उसका रंग लाल हो जाता है। गर्भाशय कुछ कड़ा भी हो जाता है। इनके अतिरिक्त बहुत सी स्त्रियों को आर्त्तव के दिनों में पीड़ा होती है। शारीरिक और मानसिक दोनों ही अवस्थाएँ बिगड़ जाती हैं। शरीर में आलस्य का रहना; कमर या कूल्हों में भारीपन मालूम होना; भोजन या काम करने में अरुचि; स्वभाव का चिड़चिड़ा हो जाना आदि साधारण बातें हैं। जिनके शरीर में पूर्व ही से कुछ विकार है उनको अधिक कष्ट होता है। गर्भाशय के दोनों ओर या पेड़ू में तीव्र दर्द का होना गर्भाशय या डिंभ-प्रणाली के रोग का सूचक है।

डिंभ-ग्रंथि में बहुत बड़ा परिवर्तन होता है। जिन दिनों में मासिक स्राव होता है उस समय डिंभ-ग्रंथि में डिंभ परिपक्व होकर अपने कोष को फाड़कर बाहर निकल आता है। वह स्राव के समय डिंभ-प्रणाली में आता है या आनेवाला होता है। जिन दिनों में स्राव नहीं होता उन दिनों में डिंभ भी परिपक्व नहीं होता और न वह ग्रंथि से बाहर ही निकलता है। मासिक स्राव और ग्रंथि से डिंभ के निकलने में अवश्य ही गहरा संबंध है; इसमें तनिक भी संदेह नहीं। जब तक डिंभ परिपक्व होना आरंभ नहीं होता, उस समय तक रजोदर्शन भी आरंभ नहीं होता और जिस आयु में डिंभ-ग्रंथि से डिंभ निकलना बन्द हो जाता है, जो ४५ या ५० वर्ष की अवस्था में होता है, उस समय मासिक स्राव भी बन्द हो जाता है। अतएव इसमें किसी को भी

संदेह नहीं है कि इन दोनों घटनाओं में अवश्य ही कुछ न कुछ सम्बन्ध है।

किंतु इस सम्बन्ध के स्वभाव और कौन सी घटना पूर्व होती है, ग्रंथि से डिंभ पहले निकलता है व स्राव पहले होता है, इन बातों के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ पशुओं में, जिन पर कुछ प्रयोग किए गए हैं, यह पाया गया है कि डिंभ उस समय परिपक्व होता है जब स्राव बन्द हो जाता है या बन्द होनेवाला होता है। अर्थात् स्राव के पश्चात् डिंभ परिपक्व होता है। कुत्ते, भेड़ और सूअर में यही पाया गया है। अनेक बार भिन्न-भिन्न अन्वेषणकर्त्ताओं के द्वारा बहुत से विचित्र सिद्धांत बने हैं और रद्द हो चुके हैं। किंतु यह बात ठीक मालूम होती है, जैसा कि उनमें से कुछ सिद्धांत बताते हैं कि मासिक स्राव का अभिप्राय गर्भाशय की श्लैष्मिक कला को इस योग्य बना देना है कि वह डिंभ को अपने में धारण कर सके। प्रत्येक मास में गर्भाशय की कला नई हो जाती है। इससे डिंभ को धारण करने की उसमें पूर्ण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। एक महाशय का कथन है कि स्राव से कला खुरदरी हो जाता है जिससे डिंभ को वहाँ चिपकने में सुगमता होती है। जिन लोगों का यह मत है कि डिंभ स्राव से पूर्व ही परिपक्व होकर प्रणाली में आ जाता है उनका कहना है कि गर्भाशय पहले से डिंभ के आतिथ्य-सत्कार के लिये प्रस्तुत रहता है, किंतु जब डिंभ वहाँ नहीं आता तो वह रोता है। सो गर्भाशय के अश्रु ही मानो मासिक स्राव है।

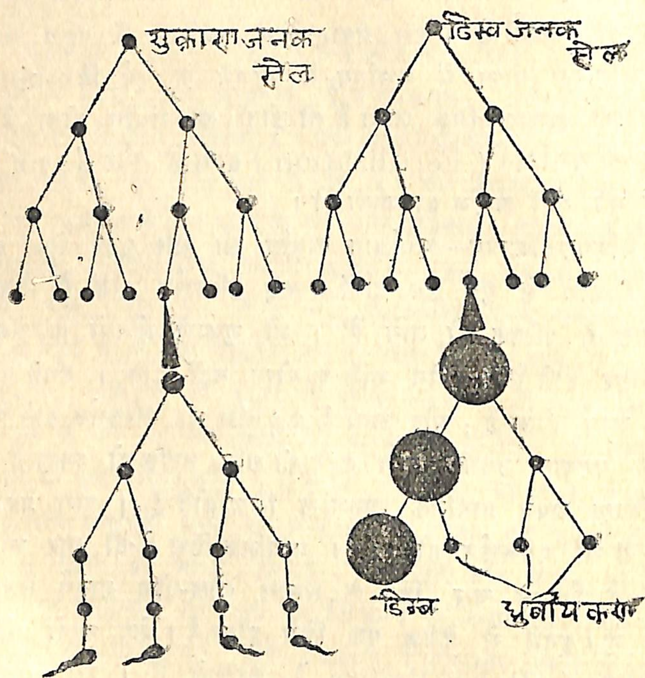
प्रति मास ग्रंथि से एक डिंभ निकलकर डिंभ-प्रणाली में प्रवेश करता है। प्रणाली के सेलों की सिलियाँ उसको गर्भाशय की ओर चलता कर देती है। उनकी क्रिया उसी ओर को होती

है। अतएव डिंभ को उस ओर जाने में झिल्लियों की गतिसे सहायता मिलती है। इस प्रकार डिंभ गर्भाशय में पहुँच जाता है। यदि इस यात्रा में गर्भाशय में पहुँचने के पूर्व डिंभ-प्रणाली में उसको शुक्राणु मिल जाता है तो दोनों का संयोग होता है। डिंभ का गर्भाधान (Fertilization) होता है और संभव है कि वृद्धि भी यहीं आरंभ हो जाती हो।

परिपक्वीकरण—गर्भाधान अर्थात् स्त्री और पुरुष सेलों का संयोग होने से पूर्व उन दोनों में कुछ परिवर्त्तन होते हैं जिनके पश्चात् वे परिपक्व हो जाते हैं। जो शुक्राणु ग्रंथियों के सेलों के भीतर होते हैं वे संयोग करने के योग्य नहीं होते। उनमें एक बार भाग होता है; और साथ में कुछ और भी परिवर्त्तन होते हैं, जिनके पश्चात् उनमें संयोग करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। ये शुक्राणु अपने प्राथमिक स्वरूप से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार डिंभ में भी परिवर्त्तन होते हैं। प्राथमिक डिंभ में दो बार भाग होता है जिससे चार, डिंभ के समान, गोल-गोल वस्तुएँ तैयार होती हैं। इनमें से केवल एक डिंभ होता है। शेष तीनों गोले ध्रुवकण (Polar Bodies) कहलाते हैं। इसी प्रकार प्राथमिक शुक्राणु के भाग से चार शुक्राणु बनते हैं; किंतु वे सब अपना काम करनेवाले होते हैं।

इस संबंध में इतना कहना आवश्यक है कि जब डिंभ परिपक्व होने लगता है तो उसमें भाग होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह भाग दो बार होता है। जैसे सामान्य सेलों के भाग में सेल का केंद्र लम्बे-लम्बे तारों के रूप में आकर क्रोमोसोम बना देता है, उसी प्रकार यहाँ भी क्रोमोसोम बन जाते हैं। अपरिपक्व डिंभ का केंद्र अपने रूप को छोड़ देता है। केंद्र जिस वस्तु का बना

चित्र नं० १२९—शुक्राणु और डिंभ का परिपक्वीकरण।



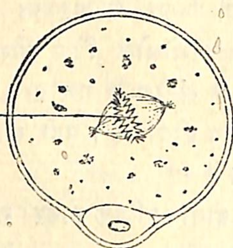
होता है वह एक विशेष आकार धारण कर लेता है। बहुधा सेल के दोनों सिरों पर यह वस्तु छोटे-छोटे दंडों के आकार में स्थित हो जाती है। ये दंड क्रोमोसोम कहलाते हैं। सेल के भाग होने में क्रोमोसोम बीच से विभाजित होकर आधे-आधे दोनों सिरों पर स्थित हो जाते हैं (देखो चित्र नं० ३ मानव-शरीर-रहस्य प्रथम भाग)। जब भाग पूर्ण हो जाता है तो आधे-आधे क्रोमोसोम सेल के दोनों भागों में चले जाते हैं। इससे प्रत्येक भाग में पहले की अपेक्षा आधे क्रोमोसोम रह जाते हैं। यदि इन नवीन

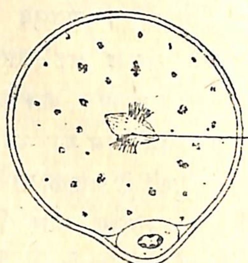
भागों का फिर भाग होता है तो क्रोमोसोम फिर दो भागों में विभाजित होते हैं। अतएव परिपक्व क्रिया के पश्चात् डिंभ में क्रोमोसोम की संख्या घट जाती है। क्रोमोसोम डिंभ और शुक्राणु दोनों में होते हैं। अतएव जब दोनों के संयोग से गर्भाधान होता है तो दोनों के क्रोमोसोम का भी संयोग होता है। यही क्रोमोसोम माता-पिता के गुणों के वाहक माने जाते हैं।

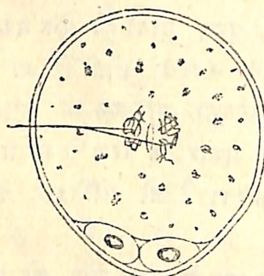
गर्भाधान—शुक्राणु और डिंभ दोनों परिपक्व होकर गर्भाधान के लिये तैयार हो जाते हैं। मैथुन-क्रिया के द्वारा दोनों का संयोग होता है। इस क्रिया से स्त्री-पुरुष दोनों को एक प्रकार का आनन्द होता है। इसका कारण वे नाड़ियाँ होती हैं जो दोनों ओर के मुंडों में रहती हैं, जिनसे संवेदना मस्तिष्क को जाती है। योनि की दीवारें सदा एक विशेष प्रकार के तरल से गीली रहती हैं। यह तरल उन ग्रंथियों से निकलता है जो योनिद्वार के पास रहती हैं।

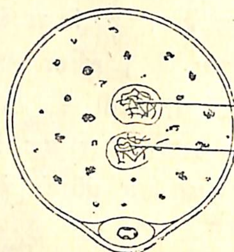
मैथुन-क्रिया से शिश्न गर्भाशय के द्वार के पास शुक्र को पहुँचा देता है। कभी-कभी गर्भाशय के मुख ही में शुक्र चला जाता है अथवा गर्भाशय योनि से शुक्र को चूस लेता है। मैथुन समाप्त होने पर शिश्न ढीला पड़ जाता है। इस प्रकार गर्भाशय के भीतर शुक्र के शुक्राणु प्रवेश करते हैं। ये शुक्राणु अपने शरीर की तीव्र गति से ऊपर की ओर यात्रा करते हैं और वहाँ डिंभ-प्रणाली के छिद्र द्वारा प्रवेश करके नाली में पहुँच जाते हैं। यहाँ पर उनको परिपक्व डिंभ मिलता है। एक डिंभ के लिये केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। अतएव एक शुक्राणु का तो डिंभ से संयोग हो जाता है; दूसरे शुक्राणु अंत को नष्ट हो जाते हैं।

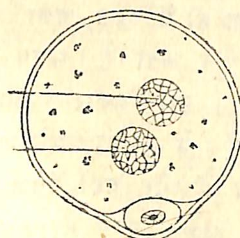
चित्र नं० १२६—एक मूषकी के डिंभ की गर्भाधान-विधि।

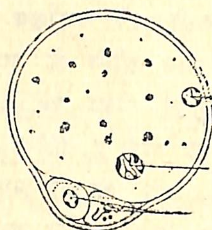












शुक्राणु अपने सिर के अग्र नोकीले भाग के द्वारा डिंभ के बाह्यावरण को छेद देता है और इसका सिर, ग्रीवा और गात्र का कुछ भाग भी डिंभ के भीतर प्रवेश करते हैं। शेष सारा भाग बाहर ही पड़ा रहता है और अंत को नष्ट हो जाता है। कुछ समय

में शुक्राणु के डिंभ के भीतर गए हुए भाग के स्वरूप में परिवर्तन होता है और वह पुरुष-पूर्वकेंद्र (Male-Pro-nucleus) बन जाता है। इसका आकार एक केंद्र ही के समान होता है। उसके साथ में इसके आकर्षक मंडल और आकर्षक बिंदु भी रहते हैं। इसी डिंभ में स्त्री-पूर्वकेंद्र (Female-Pro-nucleus) बन जाता है। इन दोनों केंद्रों में क्रोमोसोमों की संख्या समान होती है।

कुछ समय के पश्चात् स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वकेंद्र आपस में मिल जाते हैं जिनसे केवल एक केंद्र बनता है। उस समय गर्भाधान पूर्ण हो जाता है। इस समय डिंभ में एक केंद्र होता है और उसके साथ दो आकर्षक मंडल होते हैं। इसके पश्चात् डिंभ-प्रणाली द्वारा गर्भाशय में आता है, जहाँ वह उसकी भित्ति पर चिपट जाता है। इसके पश्चात् उसमें भाग और वृद्धि होने आरंभ होते हैं।

यह समस्या अभी तक हल नहीं हो सकी है कि पुरुष-पूर्व केंद्र की ऐसी कौन सी क्रिया होती है जिससे डिंभ में वृद्धि होने लगती है। वह क्रिया रासायनिक है या भौतिक है। लोइब (Loeb) महाशय का कथन है कि पुरुष-पूर्वकेंद्र की क्रिया केवल रासायनिक है। उसने रासायनिक साधनों द्वारा कुछ छोटे जीवों की उत्पत्ति की है। उसने पहले डिंभ को फ़ारमिक अम्ल (Formic Acid) में रखा। इससे उसके ऊपर एक पतली सी झिल्ली बन गई। इसके पश्चात् उनको ऐसे सामुद्रिक खारे जल में रखा जिसमें लवण की मात्रा अधिक थी। और अंत में उसको साधारण सामुद्रिक जल में रखा जिसमें लवण की मात्रा कम थी। ऐसा करने से डिंभ के भाग होने लगे और

उनसे जंतुओं की उत्पत्ति आरंभ हो गई। इन महाशय को इस प्रकार से पूर्ण जंतु के उत्पन्न करने में तो सफलता नहीं हुई है, किंतु वह उस जंतु के लारवे* (Larva) की अवस्था तक पहुँच गए हैं। उससे इनका यह विचार है कि शुक्राणु डिंभ को कोई ऐसी रासायनिक वस्तु देता है जिससे डिंभ उत्तेजित होकर वृद्धि करने लगता है।

वृद्धि का क्रम—शुक्राणु और डिंभ के मिलने से जो भ्रूण सेल बनता है, उसमें भाग होना आरम्भ होता है। एक सेल से दो सेल बनते हैं। ये दोनों सेल फिर दो-दो भागों में विभक्त होते हैं। इस प्रकार चार सेल बन जाते हैं। चार से फिर आठ बनते हैं; आठ से सोलह; सोलह से बत्तीस; बत्तीस से चौंसठ; इसी प्रकार इनकी संख्या बढ़ती चली जाती है। बत्तीस ये सब सेल एक दूसरे के साथ चिपटे रहते हैं। इससे इनका एक समूह सा बन जाता है जिसमें प्रत्येक सेल की स्वतंत्र स्थिति होती है। इस समूह का आकार एक बड़े गोल शहतूत की भाँति हो जाता है। इन सब सेलों के चारों ओर डिंभ का बाह्यावरण रहता है। इस प्रकार एक बड़े कोष्ठ के भीतर ये सेल विभक्त होकर अपनी संख्या बढ़ाते रहते हैं। इस अवस्था को कलल अवस्था (Morula Stage) कहते हैं। इसमें बाहर की सेलें भीतर की सेलों की अपेक्षा बड़ी होती हैं। इस प्रकार बीच में छोटे सेलों का समूह रहता है और उसके चारों ओर बड़े सेलों का एक स्तर रहता है।

धीरे-धीरे इस सेल-समूह के बीच से सेल हटने लगते हैं। इससे

* पूर्ण जंतु बनने से पूर्व की एक दशा का नाम है।

वहाँ पर कुछ खोखला स्थान बन जाता है, जिसमें एक प्रकार का तरल रहता है। धीरे-धीरे यह तरल बढ़ता है। सारे सेल एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं और बाहरी दीवार के साथ लगे रहते हैं। बाहरी आवरण के भीतर की ओर जो सेलों का एक परत रहता है उसके सेल बड़े और अष्टकोणी हो जाते हैं। भीतर के सेलों का आकार क्रमहीन हो जाता है। इनमें कोई बड़े और कोई छोटे होते हैं। इस प्रकार इस अवस्था पर अ़ूण सेल के भीतर स्थित सेल-समूह के चारों ओर सेलों का केवल एक परत रहता है। किंतु शीघ्र ही इस परत के भीतर की ओर सेलों का एक नया परत बन जाता है। ये सेल भीतर स्थित सेल-समूह से बनते हैं। इस प्रकार एक के स्थान में अब दो परत हो जाते हैं। शीघ्र ही इन दोनों परतों के बीच में एक नया तीसरा परत बन जाता है और अ़ूण-सेल के चारों ओर फैल जाता है। इन सेलों के तीनों परतों को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। सबसे बाहरी परत को वाह्योत्पादक बीचवाले परत को मध्योत्पादक और भीतरवाले को अंतरोत्पादक कहते हैं। इन तीनोंपरतों से शरीर के भिन्न-भिन्न भाग बनते हैं। जैसा कि नींचे के लेख से विदित है।

बाह्योत्पादक से—

१. उपचर्म और उसके अंकुर जो भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते हैं।
२. नाड़ी-मंडल, मध्यस्थ और प्रांतिक दोनों।
३. ज्ञानेंद्रियों, नेत्र कर्ण, नासिका इत्यादि के कुछ भाग।
४. मुख की भीतरी कला
५. नासिका के रंध्रों की कला।
६. चर्म की ग्रंथियों की कला।

७. स्वेद ग्रंथियों से संबंध रखनेवाले पेशी-सूत्र।

८. नेत्र के आयरिस के पेशी-सूत्र।

माध्योत्पादक से—

१. शरीर की समस्त अस्थियाँ।

२. सारे शरीर का सौत्रिक तंतु।

३. शरीर की समस्त मांस-पेशी।

४. रक्तवाहक संस्थान, हृदय, धमनी, शिरा इत्यादि।

५. रसवाहिनी नलिकाएँ।

६. प्लीहा।

७. मूत्र-संस्थान।

८. जननेंद्रियाँ

अंतरोत्पादक से—

१. समस्त पाचन-प्रणाली की भीतरी कला जो दाँतों के भीतर की ओर से आरंभ होकर सारी प्रणाली की दीवारों को भीतर की ओर से आच्छादित करती हुई मल-स्थान तक चली जाती है।

२. पाचन-प्रणाली से संबंध रखनेवाली सब ग्रंथियाँ, जैसे यकृत्, अग्न्याशय इत्यादि, की कला भी इससे बनती है।

३. श्वास-संस्थान की कला।

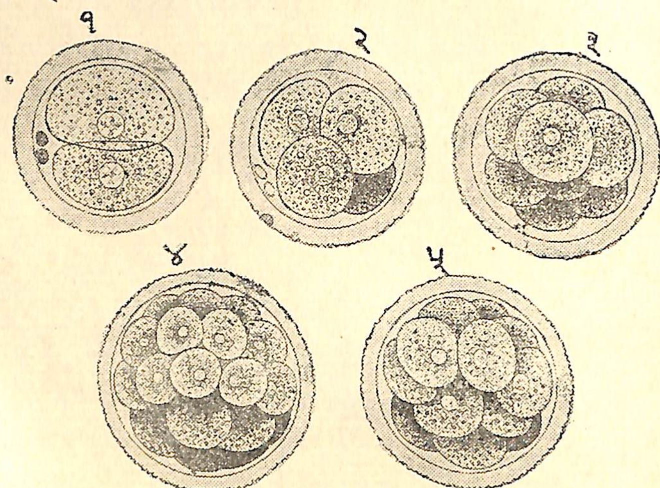
४. कर्ण की कला।

५. अवटुका और बालग्रंथि के कोष्ठों की कला।

६. मूत्राशय और मूत्र-नलिका की कला।

इस प्रकार गर्भकाल में गर्भाशय में एक सेल से शरीर के सारे अंग बन जाते हैं। जब नव मास के पश्चात् बच्चा जन्म लेता है तो उस समय उसके शरीर के सारे अवयव अपना-अपना कर्म स्वतंत्रता से कर सकते हैं। यद्यपि जन्म के पश्चात् कई साल

डिंभ में भाग जिससे एक सेल से अनेक सेल उत्पन्न हो जाते हैं।



१—एक सेल का दो में भाग।

२—दो का चार में भाग।

३—चार से आठ सेल उत्पन्न होते हैं।

४ और ५—इसी प्रकार सेलों की संख्या बढ़ती जाती है, जिससे स्वच्छ और कण-रहित सेल बाहर की ओर रहते हैं और कणमय सेल भीतर की ओर आ जाते हैं।

पृष्ठ-संख्या ५२७

तक वह अपने भोजन, पालन-पोषण के लिये माता ही पर निर्भर करता है तो भी उसकी भौतिक स्थिति भिन्न हो जाती है। यह उस भाँति माता के शरीर का एक भाग नहीं रहता, जैसे कि पहले था।

गर्भ के भीतर बच्चा अपने शरीर के लिये सारी आवश्यक सामग्री माता ही के शरीर से प्राप्त करता है और उसी के सहारे उसके शरीर के अंग बनते हैं। माता के रुधिर से बच्चे के शरीर में सारे पोषक पदार्थ पहुँचते हैं। किंतु माता और बच्चे के शरीर का रक्त कहीं भी आपस में मिलते नहीं। दोनों भिन्न रहते हैं। बच्चे का रक्त उसके रक्त-नलिकाओं में रहता है और उसकी उत्पत्ति भी उसी के शरीर में होती है। माता का रक्त उससे बिलकुल भिन्न रहता है। बच्चे का रक्त माता के रक्त का भाग नहीं है। दोनों रक्तों में इतनी भिन्नता होते हुए भी माता के रक्त में सम्मिलित भोजन पदार्थ बच्चे के रक्त में पहुँच जाते हैं।

बच्चे के शरीर का माता के शरीर के साथ अपरा के द्वारा संबंध रहता है। यह उस स्थान पर बनता है, जहाँ सबसे पहले डिंभ-प्रणाली से आकर गर्भाशय की दीवार में स्थित होता है। बच्चे के लिये यह अपरा बहुत महत्त्व का अंग है। क्योंकि इसी के द्वारा बच्चे का पोषण होता है। अतएव इसकी उत्पत्ति और रचना पर तनिक अधिक ध्यान देना आवश्यक है।

गर्भाशय में भ्रूण-सेल की स्थिति और अपरा की उत्पत्ति—हम पहले देख चुके हैं कि शुक्राणु और डिंभ का संयोग डिंभ-प्रणाली में होता है। वहाँ से भ्रूण-सेल गर्भाशय की ओर यात्रा करता है। यह माना जाता है कि इस यात्रा में उसको सात दिन लग जाते हैं। जिस समय वह गर्भाशय में पहुँचता

है, उस समय तक सेल में बहुत कुछ वृद्धि हो चुकती है। कलल-अवस्था समाप्त होकर दूसरी अवस्था आरंभ हो जाती है। भिन्न-भिन्न उत्पादकों के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। बाह्योत्पादक का बहुत कुछ भाग बन चुकता है।

सबसे छोटा मानविक डिंभ, जो अब तक देखा गया है, १३-१४ दिन का था; किंतु इसमें भी सेलों के दो परत उपस्थित थे। इनमें से बाहर के परत में अम्ल के समान नाश करने की शक्ति होती है। जिस स्थान पर डिंभ स्थित होता है, वहाँ के तंतु इस परत के कारण घुल जाते हैं और इस प्रकार वहाँ एक छोटा सा गढ़ा जाता है। भ्रूण के बाहर के परत की इस शक्ति का कारण एक रासायनिक वस्तु होती है जिसके कारण उसके चारों ओर तंतु घुलने लगते हैं।

इस प्रकार जहाँ पर डिंभ स्थित होता है, वहाँ एक छोटा-सा गढ़ा बन जाता है, जिसमें भ्रूण स्थित हो जाता है। भ्रूण धीरे-धीरे नीचे को खोदना आरंभ करता है और भीतर को प्रवेश करता चला जाता है। अंत में वह गर्भाशय की दीवार के भीतर गड़ जाता है और उसके ऊपर का गढ़ा, जिसके द्वारा उसने प्रवेश किया है, रक्त से भर जाता है। कुछ समय के पश्चात् यह रक्त भी दूसरे सेलों के द्वारा शोष लिया जाता है। इस प्रकार भ्रूण गर्भाशय की दीवार के भीतर अपने लिये एक खोखला स्थान तैयार कर लेता है जो चारों ओर से बंद होता है। इस खोखले स्थान में भ्रूण-सेल पड़ा रहता है और जो रक्त उसके चारों ओर रहता है उसी से वह पोषित होता है।

भ्रूण के आने के कुछ समय पूर्व ही से गर्भाशय उसके स्वागत की तैयारियाँ करने लगता है। जैसा एक बार ऊपर कहा जा चुका

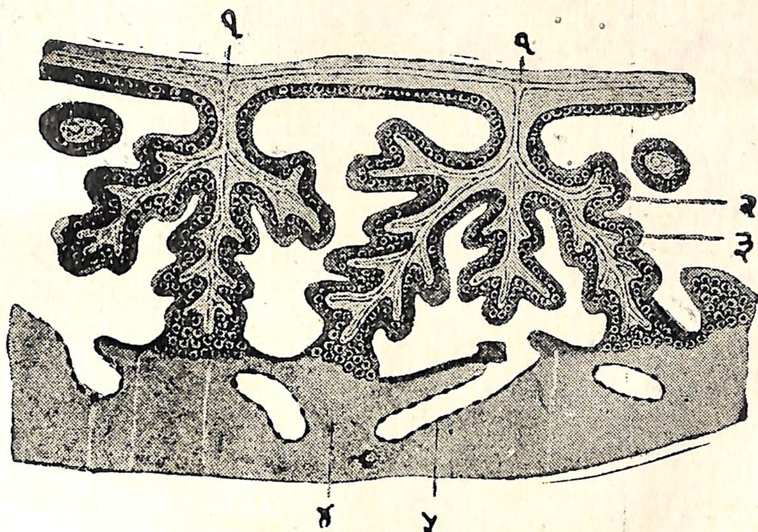
है। कुछ का तो यह मत है कि अ्रूण के न आने से गर्भाशय रोता है। मासिक स्राव ही उसका रोना है। अ्रूण के आ जाने पर उसकी तैयारियाँ और भी बढ़ जाती हैं। उसके भिन्न-भिन्न भागों की रचनाओं में परिवर्तन होने आरम्भ हो जाते हैं। अ्रूण-सेल की तन्तुओं को नाश करने की शक्ति को रोकने के लिये गर्भाशय को प्रयत्न करना पड़ता है। यदि यह क्रिया किसी भाँति न रोकी जाय तो कुछ समय में गर्भाशय की दीवार में छेद हो जाते हैं। अतएव गर्भाशय की दीवार के भीतर के सौत्रिक तन्तु के सेल, जो पहले छोटे होते हैं, आकार में बढ़ जाते हैं और उनके केन्द्रों का आकार भी बड़ा हो जाता है। ये सेल आकार में अष्टकोणी होते हैं। अ्रूण-सेल की नाशक शक्ति का अवरोध करने के लिये गर्भाशय इन सेलों की एक दीवार तैयार कर देता है। गर्भाशय की दीवार के भीतर की ग्रन्थियों में भी वृद्धि होती है। वे लम्बी और चौड़ी हो जाती हैं; वहाँ रक्त का प्रवाह अधिक होने लगता है; रक्त-केशिकाएँ फूल जाती हैं और गर्भाशय की भीतरी कला फूली हुई और लाल दिखाई देती है। साधारण अवस्था में इस कला की मोटाई $\frac{1}{=}$ इंच के लगभग होती है; किन्तु इस समय वह फूलकर $\frac{1}{2}$ इंच तक हो जाती है। कला की इतनी वृद्धि का मुख्य कारण ग्रंथियों की वृद्धि है। इनका नीचे का चौड़ा भाग भी बढ़ता है, किन्तु ऊपर की गर्दन में अधिक वृद्धि होती है। इस प्रकार यदि कला को काटकर देखा जाय तो उसके दो भाग दिखाई देंगे; एक ऊपर का भाग जिसमें ग्रंथियों की गर्दन रहती है जिनके बीच में दूसरे सेल भरे रहते हैं; दूसरा नीचे का भाग जहाँ बहुत से चौड़े-चौड़े खाली स्थान दिखाई पड़ते हैं। ये ग्रंथियों के गात्र हैं।

प्रसूतिशास्त्रज्ञ गर्भाशय की कला को तीन भागों में विभाजित करते हैं ; पहला वह भाग जो भ्रूण के ऊपर रहता है अर्थात् भ्रूण को ढके रहता है ; दूसरा वह जो भ्रूण के नीचे रहता है और तीसरे भाग में गर्भाशय की समस्त कला गिनी जाती है। ज्यों-ज्यों भ्रूण बढ़ता जाता है; त्यों-त्यों यह कला पतली पड़ती जाती है। और जब तीसरे मास के अंत में भ्रूण बढ़कर गर्भाशय के भीतर सारे स्थान को भर देता है तो वह बहुत ही पतली झिल्ली सी रह जाती है।

अपरा की उत्पत्ति—हम ऊपर देख चुके हैं कि भ्रूण अपने रहने के लिये एक छोटा सा मकान बना लेता है, जो चारों ओर से बंद होता है। जिस गड्ढे में वह रहता है उसमें रक्त भरा रहता है, जो भ्रूण का पोषण करता है। यहीं पर, जहाँ भ्रूण गर्भाशय की कला के संपर्क में रहता है, अपरा बनना आरंभ होता है। सबसे प्रथम भ्रूण के बाह्यावरण से अंकुर निकलने आरंभ होते हैं। इन्हीं अंकुरों के द्वारा वह अपने बाह्य स्थान की दीवारों पर चिपट जाता है। इन अंकुरों के बीच में कला का वह भाग पड़ा रहता है जो भ्रूण के द्वारा नष्ट हो चुका है। साथ में वहाँ पर माता का वह रक्त भी रहता है जो इस गढ़े के बनने के समय गर्भाशय की रक्त-नलिकाओं के मुँह खुल जाने से निकला था।

इस समय ये अंकुर क्रमहीन और भद्दे से होते हैं। धीरे-धीरे इनकी रचना सुधरने लगती है। जो रक्त और कला का नष्ट भाग उनके बीच में पड़ा हुआ था वह सब कला ही में शोषित हो जाता है और कुछ समय के पश्चात् ये अंकुर गर्भाशय के साथ अपना पूर्ण संबंध स्थापित कर लेते हैं। इनके द्वारा भ्रूण की स्थिति पक्की हो जाती है और इन्हीं के द्वारा उसको पोषण भी

गर्भ के चारों ओर से अंकुर निकलकर गर्भाशय-कला से संयुक्त हो जाते हैं। उनके ऊपर सेलों का एक केवल परत रहता है, जिस पर भत्तकवेष्ट का एक परत रहता है।



१—अंकुर में जानेवाली नलिकाएँ।

२—भत्तकस्तर।

३—लैंगहैन का स्तर।

४—गर्भ-कला।

५—माता की रक्त-नलिका जिसके द्वारा रक्त आकर अंकुरों के बीच में भ्रमण करता है।

अपरा का परिच्छेद ।



१—अपरा के रक्त-स्थान ।

२—गर्भ-कला ।

३ और ४—गर्भाशय की धमनी और शिरा ।

मिलता है । ये अंकुर भ्रूण के चारों ओर से निकलते हैं और कला, जो उनको ढके हुए है व जिस पर वे स्थित हैं, की ओर बढ़ते हैं । इन अंकुरों में से शाखाएँ निकलती हैं और उन शाखाओं में से फिर बारीक-बारीक प्रशाखाएँ निकलती हैं । इस कारण ये अंकुर एक वृक्ष की टहनी जैसे दीखने लगते हैं और अंत में वे गर्भाशय की कला से मिल जाते हैं । इस प्रकार इन अनेक अंकुरों द्वारा वह स्थान या गढ़ा, जिसमें भ्रूण रहता है, बहुत से छोटे-छोटे कोष्ठों में विभाजित हो जाता है; जिनके द्वारा माता का रक्त प्रवाह करता है । यह रक्त उन केशिकाओं और नलिकाओं से निकलता है जिनका अंकुरों के गर्भाशय की दीवार में घुसने पर नाश हो जाता है। इससे यह स्पष्टतया विदित है कि इस स्थान में भ्रूण के अंकुर रहते हैं और उन अंकुरों के बीच में रक्त का प्रवाह होता रहता है । अर्थात् ये अंकुर रक्त में डूबे रहते हैं ।

प्रथम तो ये अंकुर भ्रूण के चारों ओर से निकलते हैं, किंतु ज्यों-ज्यों भ्रूण का आकार बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके ऊपर की कला पतली होती जाती है और अंत में वह एक बहुत बारीक झिल्ली रह जाती है। इस कारण जो अंकुर कला के इस भाग से संबंध रखनेवाले थे वे सूखने लगते हैं और कुछ समय के पश्चात् उन अंकुरों का बिलकुल नाश हो जाता है। केवल वे अंकुर, जो भ्रूण के नीचे की कला के साथ संबंध रखते हैं, शेष रह जाते हैं। तत्पश्चात् उनमें बहुत वृद्धि होती है। इस प्रकार अंकुर केवल एक ही स्थान पर एकत्र हो जाते हैं और अपनी अत्यंत अधिक वृद्धि से नष्ट अंकुरों की कमी को पूरा करते हैं। ये अंकुर और नीचे की कला मिलकर अपरा बना देते हैं।

इस प्रकार इन अंकुरों, भ्रूण के नीचे की कला जिसमें अंकुर लगे रहते हैं और अंकुरों के बीच के स्थान से, जिनमें मातृ-रक्त प्रवाह करता रहता है, अपरा बनता है। किसी समय पर यह अपरा भ्रूण के चारों ओर फैला रहता है; किंतु अंत में केवल एकदेशीय हो जाता है। ऐसा होना गर्भ के दूसरे मास में आरंभ होता है और तीसरे मास के अन्त तक अपरा पूर्णतया एकदेशीय हो जाता है। उस समय इसकी रचना भी पूर्ण हो जाती है। समस्त गर्भाशय की कला का चौथाई व तिहाई भाग अपरा के बनाने में भाग लेता है।

ये अंकुर दो प्रकार के होते हैं। एक का काम केवल भ्रूण को कला में चिपटाने का होता है। ये अंकुर कला के भीतर घुस जाते हैं और वहाँ पर चिपट जाते हैं। इन अंकुरों का इसके अतिरिक्त और कोई काम नहीं होता। दूसरे अंकुर भ्रूण के लिये पोषण ग्रहण करते हैं। ये अंकुर छोटे होते हैं। वे कला तक नहीं पहुँच पाते। इनमें शाखाएँ भी बहुत निकलती हैं जिनके चारों ओर मातृ-रक्त बहता रहता है। ये अंकुर प्रत्येक समय मातृ-रक्त में डूबे रहते हैं। प्रथम अंकुरों की अपेक्षा ये अधिक मोटे होते हैं, किंतु इनके सिरे, जो रक्त में डूबे रहते हैं, अत्यंत सूक्ष्म और कोमल होते हैं। इनके भीतर बहुत ही सूक्ष्म रक्त-नलिकाएँ रहती हैं जो संख्या में बहुत होती हैं। ये सूक्ष्म केशिकाएँ होती हैं और इनका अन्तिम संबंध उन रक्त-नलिकाओं से रहता है जो बच्चे के नाल में रहती हैं।

अपरा के भीतर जो रक्त आता है वह गर्भाशय की दीवारों में स्थित धमनियों से आता है और इन धमनियों के साथ की शिराओं द्वारा लौट जाता है। ज्यों-ज्यों अपरा की वृद्धि होती

है त्यों-त्यों ये नलिकाएँ भी बढ़ती हैं और अपरा में अधिक रक्त लाती हैं। इनके द्वारा रक्त सदा आता रहता है और अंकुरों के बीच में प्रवाह करके फिर लौट जाता है।

इससे विदित होगा कि माता का रक्त बच्चे के रक्त से बिलकुल भिन्न रहता है। वह आपस में कहीं भी नहीं मिलता। बच्चे की रक्त-नलिकाएँ इन अंकुरों के भीतर से आरम्भ होती हैं और उनमें बच्चे का रक्त रहता है। माता का रक्त अंकुरों के बीच में प्रवाह किया करता है, किन्तु किसी प्रकार अंकुर के भीतर नहीं पहुँचता। अंकुर माता के रक्त से पोषण ग्रहण कर लेते हैं जो बच्चे के रक्त में पहुँच जाता है। किन्तु स्वयं रक्त बच्चे के शरीर में नहीं पहुँच पाता।

जब जन्म के समय बच्चे के साथ अपरा या कमल गर्भाशय के बाहर आता है, तो वह गहरे लाल रंग का होता है। आकार में वह चपटा होता है; किन्तु एक रकाबी की भाँति गोल होता है। बीच में यह मोटा होता है, किन्तु चारों ओर के किनारों पर पतला हो जाता है। उस पर बाहर की ओर एक प्रकार की झिल्ली चढ़ी रहती है जो उस पर से उतारी जा सकती है। इसके नीचे बहुत सी रक्त-नलिकाएँ और अंकुर रहते हैं। इसी ओर कमल का नाल के साथ सम्बन्ध रहता है, जो उसके बिलकुल बीच में न लगकर एक ओर को लगा रहता है। कमल की सारी सूक्ष्म रक्त-नलिकाओं से जो बड़ी रक्त-नलिका बनती है वह इस स्थान पर कमल में प्रवेश करती है और नाल के द्वारा जाकर बच्चे की नाभि में होकर उसके शरीर में पहुँचती है। यदि कमल को पानी में रखकर उसको ध्यान से देखा जाय तो उस पृष्ठ पर, जो गर्भाशय की ओर रहता है, बहुत से अंकुर दिखाई देंगे।

इस ओर कमल का रंग भी अधिक गहरा लाल और मांस के समान दिखाई देता है। साथ में कमल को जल के भीतर ही फाड़-कर देखने से बहुत सी रक्त-नलिकाओं के मुख दिखाई देंगे।

जन्म के समय अपरा का भार शरीर-भार का $\frac{1}{6}$ भाग होता है। साधारणतया वह आध सेर के लगभग होता है। उसका व्यास ८ इंच होता है।

अपरा के कर्म—बच्चे का माता के साथ अपरा ही के द्वारा सम्बन्ध होता है। उसके शरीर के लिये जितना पोषण आवश्यक होता है वह इस अंग के द्वारा पहुँचता है। जब कभी अपरा के नाल पर किसी प्रकार का दबाव पड़ जाता है व वह जन्म के समय बच्चे के सिर और माता की वस्ति की अस्थियों के बीच में आकर दब जाता है तो बच्चे की तुरन्त ही मृत्यु हो जाती है। अपरा के मुख्य निम्न-लिखित कर्म हैं।

१. पोषण—अपरा का सबसे बड़ा कम भ्रूण का पोषण है। जिस समय से भ्रूण के अंकुरों के भीतर रक्त-नलिकाएँ बन जाती हैं और उनमें रक्त उत्पन्न हो जाता है तब से बच्चा इन्हीं के द्वारा माता के रक्त से अपना भोजन लेता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इन अंकुरों के ऊपर भ्रूण के उस बाह्यावरण का एक परत रहता है जो गर्भाशय के तन्तुओं को गलाकर उसके लिये स्थान बना देता है। सारे पोषक पदार्थ इसी परत के द्वारा छन-कर बच्चे के रक्त में पहुँचते हैं। यह भली भाँति मालूम हो चुका है कि प्रोटीन पदार्थ इस झिल्ली द्वारा भीतर जाते हैं; किन्तु वे किस रूप में जाते हैं, यह नहीं मालूम हो सका है। वे इस स्तर के द्वारा विश्लिष्ट होकर पेप्टोन बन जाते हैं अथवा उनका और भी अधिक भंजन हो जाता है; इसका अभी तक ठीक ज्ञान नहीं हुआ

है। खनिज लवण, लौह इत्यादि इस झिल्ली के द्वारा बच्चे के रक्त में पहुँचते हैं। वसा भी अपरा के द्वारा बच्चे के शरीर में पहुँच जाती है। इसी प्रकार कारबोहाइड्रेट भी पहुँचते हैं। इनके सम्बन्ध में अपरा वही काम करता है जैसा कि युवा मनुष्य में यकृत् करता है। वह कारबोहाइड्रेट को ग्लायकोजिन के रूप में एकत्र कर लेता है। इसी प्रकार अपरा भी उस समय तक, जब तक बच्चे का यकृत् बढ़कर इस कर्म को करने के योग्य नहीं होता, ग्लायकोजिन को संग्रह करता है और आवश्यकता के समय पर बच्चे के शरीर के प्रयोग के लिये दे देता है। वैज्ञानिकों का यह विचार है कि अंकुरों के ऊपर का आवरण ग्लायकोजिन को ग्ल्यूकोज़ के रूप में परिवर्त्तित कर देता है और अपरा उसका शोषण करता है। इससे विदित है कि यह आवरण एक साधारण झिल्ली नहीं है, किन्तु शरीर की रासायनिक क्रियाओं में भी यह भाग लेता है।

२. श्वास कर्म—जिस प्रकार हम फुस्फुस द्वारा शुद्ध वायु को ग्रहण करके उससे आक्सिजन ले लेते हैं और कार्बन-डाई-आक्साइड लौटा देते हैं, उसी भाँति भ्रूण अपरा के द्वारा आक्सिजन ग्रहण करता है और अशुद्ध वायु को लौटा देता है। माता का रक्त कमल में आक्सिजन लाता है। वहाँ पर अंकुरों द्वारा वह आक्सिजन बच्चे के रक्त में पहुँच जाती है। दूसरी ओर बच्चे के शरीर में जितनी कार्बन-डाई-आक्साइड बन चुकी है वह उसकी शिराओं द्वारा अंकुरों में आकर माता के रक्त में मिल जाती है, जो उसको फुस्फुस के द्वारा निकाल देता है।

३. अवरोधक कर्म—यह भली भाँति मालूम हो चुका है कि अपरा हानिकारक वस्तुओं को भ्रूण के शरीर में नहीं जाने देता।

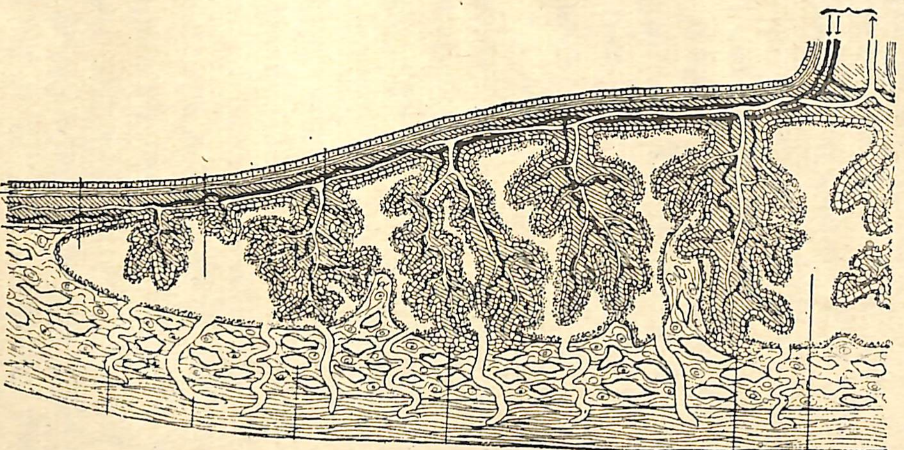
वह उनको बाहर ही रोक देता है। माता के सारे रोग बच्चे को नहीं होते। यदि माता को मलेरिया ज्वर होता है तो उसके जीवाणु बच्चे के शरीर में नहीं पहुँचते। इसी प्रकार दूसरे रोगों के जीवाणु भी बच्चे के रक्त में प्रवेश नहीं कर पाते। अपरा उनको बाहर ही रोक देता है। यदि माता के रक्त में कुछ रासायनिक वस्तुएँ मिला दी जायँ तो कुछ विशेष वस्तुओं के अतिरिक्त सब बाहर ही रुक जाती हैं। किन्तु कभी-कभी यह अवरोधक शक्ति कुछ कम हो जाती है और कुछ विष, विशेषकर रोगों के विष, भ्रूण के शरीर में पहुँच जाते हैं।

४. मलोत्सर्ग—भ्रूण का यह कर्म भी अपरा ही के द्वारा होता है। भ्रूण के शरीर में जो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ होती हैं उनसे जो निकृष्ट हानिकारक वस्तुएँ बनती हैं वे सब रक्त-नलिकाओं द्वारा अपरा के अंकुरों में पहुँचती हैं और वहाँ से माता के रक्त में चली जाती हैं। ऐसी वस्तुओं की मात्रा बहुत अधिक नहीं होती, क्योंकि युवा मनुष्य के शरीर की अपेक्षा भ्रूण के शरीर में बहुत कम क्रियाएँ होती हैं। किन्तु तो भी कुछ न कुछ रासायनिक क्रियाएँ अवश्य होती हैं और क्रिया होने से कुछ न कुछ निकृष्ट वस्तुएँ बनती ही हैं। इनका परित्याग अपरा ही के द्वारा होता है।

अपरा के इन कर्मों से समझा जा सकता है कि वह भ्रूण के लिये कितनी आवश्यक और उपयोगी वस्तु है। हमारे लिये, जो पाचन-संस्थान, श्वास-संस्थान और मलोत्सर्ग अंगों का मूल्य है, भ्रूण के लिये केवल एक अपरा का वह मूल्य है। केवल अपरा के विकृत या नष्ट हो जाने से कई संस्थानों का कार्य बन्द हो जाता है।

नाल—अपरा और भ्रूण का सम्बन्ध स्थापित करनेवाला अंग नाल है। यह जन्म के समय एक २२ इंच लम्बी नली के समान

अपरा में पोषण ग्रहण करनेवाले और संबंध स्थापित करनेवाले अंकुर दिखाए गए हैं



पृष्ठ-संख्या ५३

दीखता है। इसकी चौड़ाई ½ इंच होती है। वह एक रस्सी की भाँति कुछ बटा हुआ सा होता है, और उसके बट बाईं ओर से दाहनी ओर को होते हैं। उसके भीतर एक शिरा और दो धमनियाँ होती हैं। दोनों धमनियाँ शिरा पर लिपटी रहती हैं।

इस नाल की शिराएँ कमल के अंकुरों के भीतर की शिराओं से आरंभ होती हैं। उनके मिलने से ये शिराएँ बनती हैं और नाभि के स्थान से भ्रूण के शरीर में प्रवेश करके उदर की रक्त-नलिकाओं में मिलकर यकृत् को जाती हैं; धमनियाँ नाभि से आरंभ होकर अंकुरों में जाकर समाप्त होती हैं। इन धमनियों और शिराओं को घेरे हुए एक लसदार पदार्थ रहता है जिसके ऊपर एक सौत्रिक तंतु का आवरण चढ़ा रहता है। कहीं-कहीं पर नाल में लसदार पदार्थ की गाँठें बन जाती हैं।

भ्रूण में रक्त-संवहन—भ्रूण के रक्त-संवहन में एक श्वास लेने-वाले शिशु व युवा मनुष्य के संचालन से अंतर होता है। जन्म लेने से पूर्व बच्चे के फुस्फुस काम नहीं करते। रक्त की शुद्धि फुस्फुस द्वारा न होकर अपरा के द्वारा होती है। गर्भ में स्थिति ही ऐसी होती है कि फुस्फुस इस कर्म को नहीं कर सकते। इस कारण प्रकृति ने पूर्व ही से ऐसा प्रबंध कर दिया है कि भ्रूण को शुद्ध रक्त मिले।

फुस्फुस के कर्म न करने से वे ठोस होते हैं। उनमें वायु के भरने का स्थान नहीं होता। यदि जन्म से पूर्व किसी बच्चे के फुस्फुसों को जल में डालकर उनकी परीक्षा की जाय, तो वे डूब जायँगे। किंतु जन्म लेते ही बच्चे के रोने के साथ वायु फुस्फुस में पहुँचकर उनको फुला देती है, वे चौड़े जाते हैं। वायुकोष्ठ फैलते हैं और उनमें रक्त का भी संचार होने लगता है। ये फुस्फुस जल के भीतर नहीं डूबते, जल पर तैरने लगते हैं।

भ्रूण में अपरा से शिरा रक्त को ले जाती है और भ्रूण के अंगों में उसका वितरण करती है। धमनियाँ अशुद्ध रक्त को अपरा में लौटा कर लाती हैं। रक्त को ले आनेवाली शिरा अपरा से आरंभ होकर नाल द्वारा भ्रूण की नाभि में पहुँचती है। वहाँ से वह यकृत् के नीचे की ओर जाती है और उसके पास पहुँचकर कई शाखाएँ यकृत् में भेजती है और स्वयं शिरीय नलिका के नाम से आगे चलकर ऊर्ध्वगामी महाशिरा में मिल जाती है। इस प्रकार अपरा से आया हुआ रक्त दो भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा महाशिरा में पहुँचता है। रक्त का एक भाग तो अंत्रियों से आए हुए रक्त के साथ मिलकर यकृत् में जाता है और फिर यकृतीय शिराओं द्वारा महाशिरा में पहुँचता है। रक्त का दूसरा भाग शिरीय नलिका द्वारा महाशिरा में पहुँचता है। अपरा से आनेवाला रक्त पूर्णतया शुद्ध होता है। किंतु जो रक्त अंत्रियों से लौटकर यकृत् में आता है वह अशुद्ध होता है। इस कारण यकृत् में शुद्ध और अशुद्ध रक्त मिल जाते हैं। वही मिश्रित रक्त महाशिरा में पहुँचता है, जहाँ उसमें शिरीय नलिका द्वारा आया हुआ पूर्ण शुद्ध रक्त मिल जाता है। इस प्रकार महाशिरा में भी मिश्रित रक्त रहता है।

महाशिरा में पहुँचकर शिरीय नलिका और यकृतीय शिराओं द्वारा आया हुआ रक्त शरीर के नीचे के भाग और उदर से आनेवाले रक्त के साथ मिलता है। यह रक्त हृदय के दाहने अलिंद में पहुँचता है। यहाँ पर दाहने अलिंद और बाएँ अलिंद के बीच के परदे में एक छिद्र रहता है और उस पर एक कपाट रहता है। बस दाहने अलिंद में आनेवाला रक्त इस कपाट द्वारा छिद्र में होता हुआ बाएँ अलिंद में आ जाता है। बाएँ अलिंद से रक्त बाएँ निलय में जाता है, जहाँ से वह बृहद् धमनी में चला जाता

है। बृहद् धमनी इस रक्त का अपनी शाखाओं द्वारा शिरा और बाहु या वक्ष इत्यादि में वितरण कर देती है। रक्त का बहुत कम भाग बृहद् धमनी के उस भाग को जाता है जो नीचे की ओर जाकर शरीर के निम्न भाग को पोषित करता है।

शिर और ऊर्ध्व शाखाओं से लौटनेवाला रक्त दाहने निलय में आता है। शिरीय नलिका इत्यादि से भी रक्त इसी स्थान पर आता है, किन्तु दोनों ओर के रक्तों का मार्ग भिन्न होता है। शिर और ऊर्ध्व शाखा से आनेवाला रक्त सीधा अलिंद से निलय में चला जाता है, किन्तु महाशिरावाला रक्त इधर के अलिंद से बाएँ अलिंद में जाता है।

ऊपर से आनेवाला रक्त अंग में दाहने निलय में पहुंचता है और वहाँ से फुस्फुसीय धमनी द्वारा उसका वितरण होता है। फुस्फुसीय धमनी से एक शाखा सीधी अधोगामी बृहद् धमनी में जाकर मिलती है। अतएव दाहने निलय से आनेवाले रक्त का बड़ा भाग बृहद् धमनी में चला जाता है। थोड़ा सा रक्त फुस्फुसों में भी जाता है; जहाँ से वह बाएँ अलिंद में लौट आता है।

फुस्फुसीय धमनी से धमनीय नलिका के द्वारा रक्त अधोगामी बृहद् धमनी में पहुँचता है, जहाँ वह ऊर्ध्वगामी बृहद् धमनी से आए हुए थोड़े से रक्त के साथ मिल जाता है। इस बृहद् धमनी के द्वारा यह रक्त शरीर के शेष सब भागों में ले जाया जाता है। धमनी ज्यों-ज्यों नीचे को उतरती है, त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न अंगों को शाखाएँ देती चली जाती है। इस प्रकार यकृत् और अंत्रियों को शाखाएँ देने के पश्चात् वह निम्न-शाखाओं को रक्त भेजती है। इससे पूर्व उससे दो धमनियाँ निकलती हैं जो रक्त को नाभि तक ले जाती हैं। ये दोनों धमनियाँ एक शिरा के साथ मिलकर नाल

द्वारा कमल में पहुँचती हैं। इस प्रकार भ्रूण में रक्त का परिभ्रमण होता है।

यह संचालन साधारण संचालन के क्रम से बहुत भिन्न है। विशेषकर ध्यान देने योग्य बातें ये हैं—

१. अपरा से जितना रक्त आता है उसका बहुत बड़ा भाग पहले यकृत् में जाता है, उसके पश्चात् शिरा में पहुँचता है। अधोगामी बृहद् धमनी से भी रक्त एक शाखा द्वारा यकृत् में जाता है। इस प्रकार यकृत् में सारे रक्त का बहुत अधिक भाग जाता है। यही कारण है कि भ्रूणावस्था में यकृत् का आकार इतना बड़ा होता है। उसका भार युवा मनुष्य में सम्पूर्ण शरीर का $\frac{1}{40}$ वाँ भाग होता है; किन्तु भ्रूण में $\frac{1}{18}$ वाँ भाग होता है।

२. दाहने अलिंद में दो ओर से रक्त की धाराएँ आती हैं; दोनों के मार्ग और निर्दिष्ट स्थान भिन्न होते हैं। ऊर्ध्वगामी महाशिरा का रक्त अपने कपाट और बीच के परदे के छिद्र द्वारा सीधा बाएँ अलिंद में पहुँच जाता है; किन्तु ऊपर से आनेवाला रक्त दाहने निलय में जाता है। इस कारण यहाँ पर दोनों ओर के रक्त का कुछ न कुछ मिश्रण अवश्य हो जाता है।

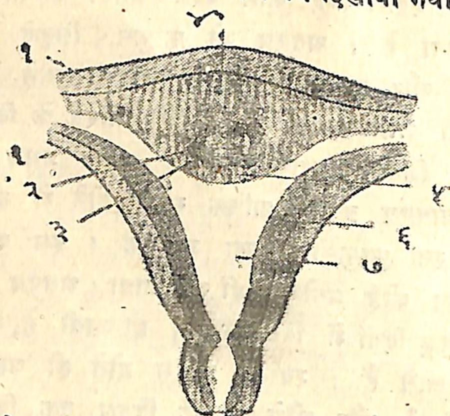
३. अपरा से आनेवाला शुद्ध रक्त यकृत् के मिश्रित रक्त के साथ मिलकर सीधा बाएँ निलय में पहुँचकर बृहद् धमनी द्वारा शिर और ऊर्ध्व शाखाओं को वितीर्ण कर दिया जाता है। इस प्रकार यकृत् के अतिरिक्त शरीर के दूसरे भागों की अपेक्षा शिर और ऊर्ध्व शाखा को अधिक शुद्ध रक्त मिलता है।

४. अधोगामी बृहद् धमनी द्वारा जिन अंगों को रक्त मिलता है वह दूसरे भागों के रक्त की अपेक्षा अधिक अशुद्ध होता है।

जब बच्चा जन्म लेता है और बाहर की वायु के स्पर्श और अन्य कारणों से श्वास-केन्द्र काम करने लगता है तो श्वास-कर्म आरंभ हो जाता है। अतएव जो फुस्फुस सिकुड़े हुए थे वे फैलने लगते हैं और उनके वायु-कोष्ठ बड़े हो जाते हैं। साथ में वहाँ रक्त भी जाने लगता है। फुस्फुसों में रक्त के लिये जितना स्थान है और जितनी शिराएँ वहाँ हैं उनका प्रथम ही वर्णन हो चुका है। अतएव इतना अधिक स्थान होने से दाहने क्षेपक कोष्ठ का सारा रक्त फुस्फुसों में चला जाता है। इस कारण धमनीय नलिका का कोई प्रयोग नहीं रह जाता। अतएव वह सूखने लगती है और कुछ दिनों में बिलकुल बंद हो जाती है, केवल उसके चिह्नमात्र रह जाते हैं। श्वास आरंभ होते ही यह नलिका बंद होने लगती है और चौथे से छठे दिवस तक बिलकुल बंद हो जाती है।

जन्म लेने के पश्चात् बच्चे का अपरा से संबंध नहीं रहता। इसका जीवन-क्रम बिलकुल बदल जाता है। वह माता के रक्त से पोषक पदार्थ ग्रहण न करके सीधा अपने मुख द्वारा माता के स्तनों से दुग्ध के रूप में पोषण ग्रहण करता है। उसका पाचक-संस्थान, जो अब तक शिथिल पड़ा हुआ था, काम करने लगता है। इस कारण वे नलिकाएँ, जो नाल द्वारा रक्त को लाती थीं और ले जाती थीं, सूखने लगती हैं। नाल की धमनी और शिरा दूसरे और पाँचवें दिन के भीतर बिलकुल बंद हो जाती हैं। शिरीय नलिका भी दूसरे और पाँचवें दिन के भीतर बंद हो जाती है। हृदय के दोनों ओर अलिंदों के बीच में जो छिद्र रहता है वह दसवें दिन तक बंद हो जाता है और उस पार का कपाट भी सूख जाता है। कभी-कभी उसके चिह्न रह जाते हैं।

चित्र नं० १२७—चित्र में अत्यंत आरंभावस्था में गर्भित डिंभ और गर्भाशय की गर्भकला का संबंध दिखाया गया है।

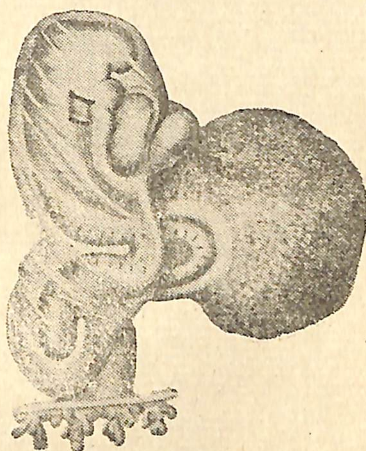


१—गर्भाशय की पेशी। २—गर्भित डिंभ का बाह्यावरण। ३—डिंभ का आंतरिक सेल-समूह जो वास्तविक उत्पादक स्थान है। ४—गर्भकला जो डिंभ के मूल में रहती है। ५—गर्भकला जो डिंभ को ऊपर से ढके हुए है। ६—गर्भकला जो गर्भाशय के अन्य भागों में रहती है। ७—गर्भाशय में खाली स्थान।

भ्रूण का वृद्धि-क्रम—चौथा सप्ताह—इस समय भ्रूण बहुत ही मुड़ा हुआ होता है। इस कारण उसके शिर और पूँछ दोनों पास-पास आ जाते हैं। उसकी लंबाई ½ इंच के लगभग होती है और उसका भार ५ माशे होता है। जिधर शिर बनता है वह भाग मोटा होता है। दूसरा जो पतला होता है वहाँ पूँछ बनती है। नाल भी यहीं लगा रहता है। शिर और सुषुम्ना की रचना आरंभ हो जाती है। आँख और कानों के चिह्न भी प्रकट हो जाते हैं। जहाँ पर बाहु और टाँगें बननेवाली हैं वहाँ छोटे-छोटे उभार दिखाई पड़ते हैं। मुख के स्थान पर एक दरार

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ३०

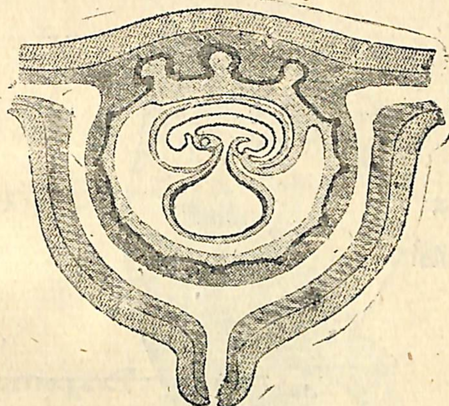
दो सप्ताह का भ्रूण



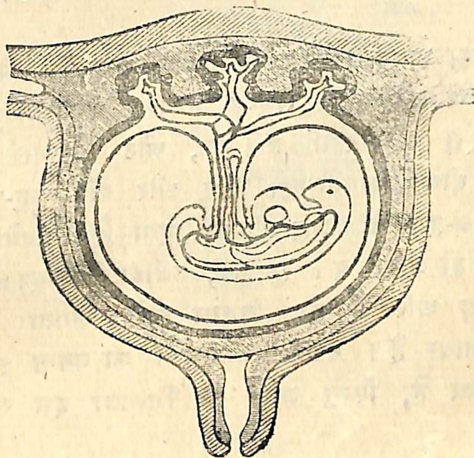
पृष्ठ-संख्या २४२

उत्पन्न हो जाती ह । हृदय भली भाँति दिखाई देता है और इसका चार कोष्ठों में भाग होना आरम्भ हो जाता है।

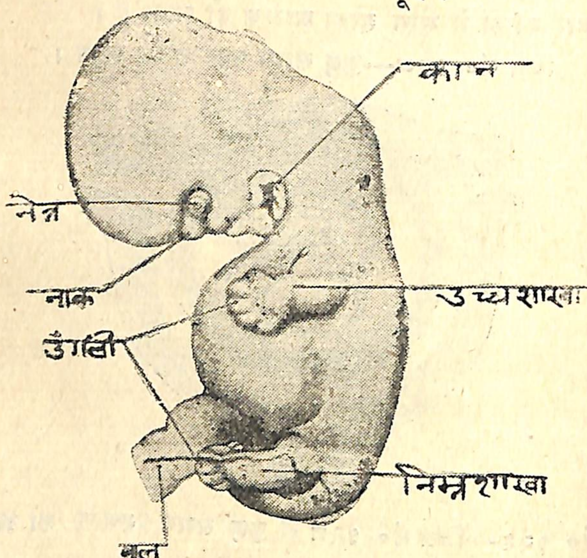
चित्र नं० १२८—कुछ समय पश्चात् का भ्रूण।



चित्र नं० १२९—चित्र नं० १२८ से कुछ समय पश्चात् का भ्रूण।



चित्र नं० १३०—६ सप्ताह का भ्रूण।



दो मास का भ्रूण—भ्रूण की लम्बाई आध इंच से डेढ़ इंच हो जाती है। शिर का आकार मनुष्य के शिर के कुछ-कुछ समान हो जाता है। पूँछ जाती रहती है। नेत्र, ओठ और नाक के स्थानों पर कुछ रचना दीखने लगती है। हाथ और पाँव कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाते हैं। मल-द्वार का चिह्न दिखाई देता है। जननेन्द्रियों का बनना आरम्भ हो जाता है। फुस्फुस, प्लीहा, अधिवृक्क भी देख पड़ते हैं। कुछ अस्थियों का विकास होने लगता है; अपरा भी स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि जननेन्द्रियों का बनना इस समय आरम्भ हो जाता है, किन्तु जाति की भिन्नता इस समय तक नहीं होती।

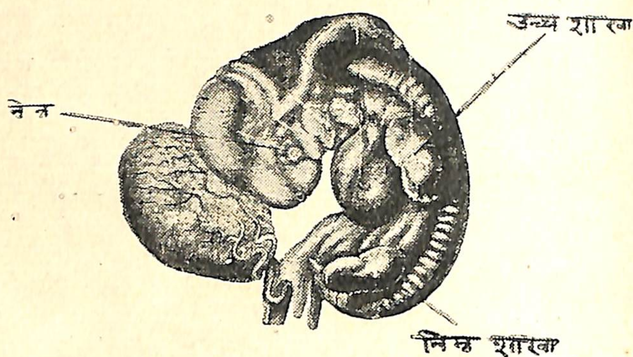
मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ३१

१८ से २१ दिन का भ्रूण



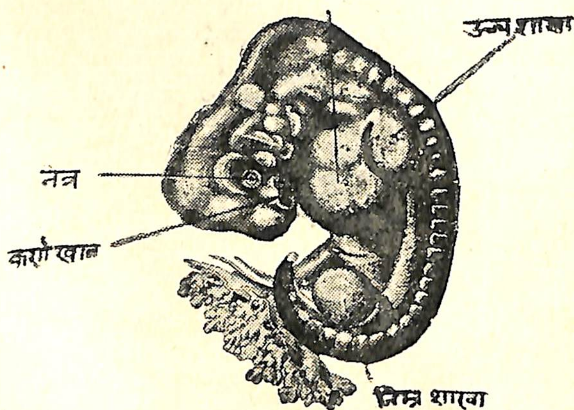
पृष्ठ-संख्या ५४४

२७ से ३० दिन का भ्रूण

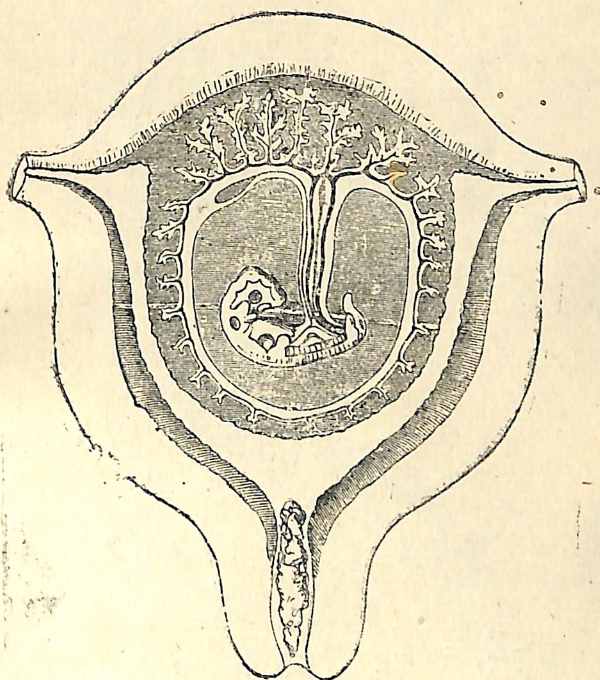


प्लेट नं०

२१ से ३४ दिन का भ्रूण

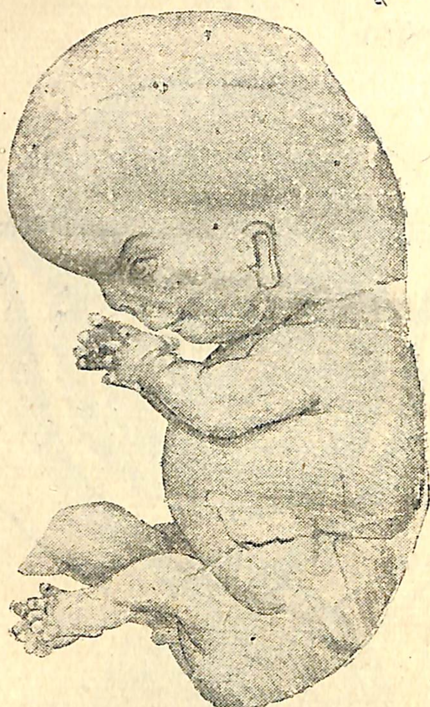


चित्र नं० १२१—गर्भ के सातवें और आठवें सप्ताह के गर्भाशय का परिच्छेद।



तीन मास का भ्रूण—तीसरे मास में लम्बाई ३½ इंच के लगभग होती है। भार १½ छटाँक होता है। सिर बहुत बड़ा होता है। नेत्रों के पलक जुड़े रहते हैं। ओष्ठ भी जुड़े होते हैं। उदर के भीतर अन्त्रियाँ बन जाती हैं। नाल में ऐंठन पड़ने लगती है। जो स्त्रीभ्रूण होते हैं, उनके उदर में गर्भाशय बन जाता है। पुरुष

चित्र नं० १३२—८½ सप्ताह का भ्रूण।

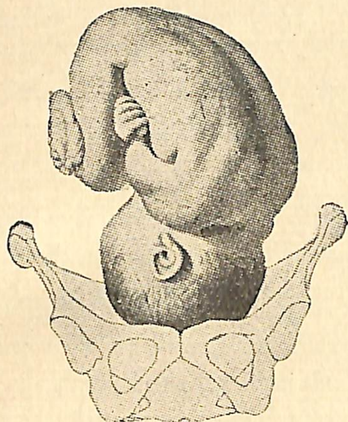


भ्रूणों में शिश्न के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। अधिकतर अस्थियों का विकास आरम्भ हो जाता है। हृदय का निलय-कोष्ठ बन चुकता है। गर्भाशय में भ्रूण के ऊपर की कला शेष कला के साथ मिल जाती है। गले की बालग्रन्थि और उदर में अधिवृक्क-ग्रंथियाँ उस समय बन चुकती हैं।

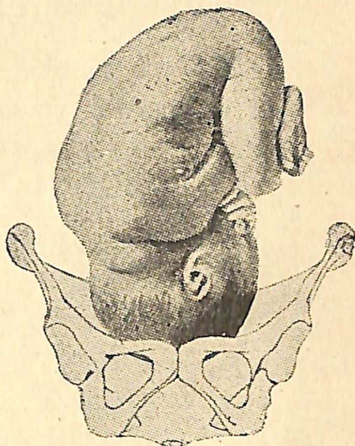
चार मास का भ्रूण—इस समय भ्रूण ५ इंच लम्बा होता है। इसका भार २½ छटाँक के लगभग होता है। इस समय भ्रूण

भ्रूण की गर्भ में स्थितियाँ

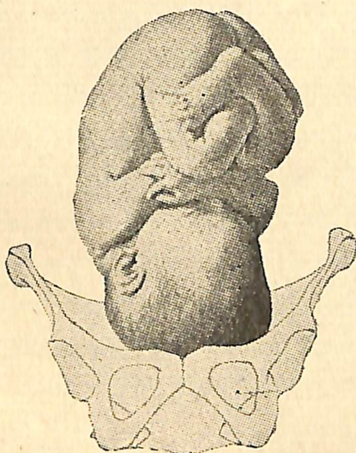
क



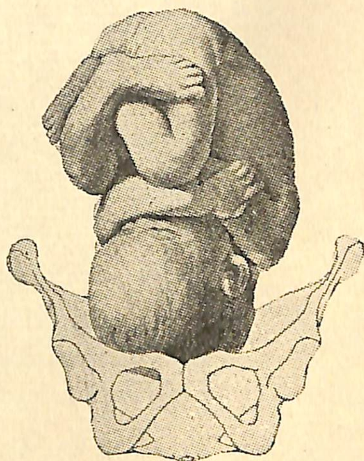
ख



ग



घ



पृष्ठ-संख्या ५४६

की जाति बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। शरीर के चर्म पर लोम दिखाई देने लगते हैं। हाथों और पाँवों में कुछ नख बनने लगते हैं।

पाँच मास का भ्रूण—पाँचवें मास पर पहुँचकर भ्रूण की लम्बाई सात या आठ इंच हो जाती है। शरीर का भार ६ छटाँक के लगभग होता है। सिर इस समय भी शरीर की अपेक्षा बहुत बड़ा होता है। शरीर के चर्म पर एक श्वेत लसदार वस्तु जम जाती है। सारे शरीर पर लोम उग आते हैं। उँगलियों के नख बिलकुल स्पष्ट हो जाते हैं। अंत्रियों में कुछ-कुछ मल एकत्रित होने लगता है। यकृत् पूर्णतया बन चुकता है। गर्भाशय के भीतर ही भ्रूण कुछ गति करने लगता है। माता इन गतियों को स्वयं प्रतीत कर सकती है।

छः मास का भ्रूण—इस समय भ्रूण की लम्बाई १२ इंच होती है और उसका भार लगभग १२ छटाँक के होता है। पलक अब भी जुड़े ही रहते हैं। नेत्रों में कनीनिका के सामने एक झिल्ली रहती है। भौं और पलकों का बनना आरम्भ हो जाता है। सिर के बाल लम्बे होने लगते हैं। शरीर के चर्म के नीचे इस समय वसा एकत्रित होने लगती है। वसा की कमी से चर्म में झुर्रियाँ पड़ी हुई मालूम होती हैं। इस समय कनीनिका के सामने की झिल्ली, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है, गायब हो जाती है। इस अवस्था में अंड बन चुकते हैं; किन्तु वे अंडकोष में नहीं रहते। वे उदर में वृक्क के पास ही स्थित होते हैं।

सातवें मास का भ्रूण—इसकी लम्बाई १४½ इंच होती है। शरीर का भार १½ सेर के लगभग होता है। पलक इस अवस्था पर खुल जाते हैं। कनीनिका के ऊपर की झिल्ली का इस

समय पता भी नहीं रहता। शरीर के चर्म के नीचे कुछ वसा एकत्रित हो जाती है। इस कारण चर्म की झुर्रियाँ कम होने लगती हैं। सिर के बाल $\frac{1}{4}$ इंच से अधिक लम्बे हो जाते हैं। अंडों का उदर में अपने पूर्वस्थानों से उतरना आरम्भ होता है। वे नीचे की ओर सरकने लगते हैं। अन्त्रियों में इस समय पर मल जमा हो जाता है। इस समय जो बालक जन्मते हैं उनका बचना बहुत कठिन है, यद्यपि उनको बचाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

आठवें मास का भ्रूण—शरीर की लम्बाई लगभग १६ इंच और भार लगभग २ सेर होता है। वसा की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। सिर के बाल पहले से घने हो जाते हैं। उँगलियों के नख यद्यपि बराबर बढ़ते रहते हैं, किन्तु अभी तक पूर्णतया उँगलियों के सिरों तक नहीं पहुँचते हैं। इस समय पर उत्पन्न हुए बालक को पूर्ण और उचित सावधानी से पाला जा सकता है।

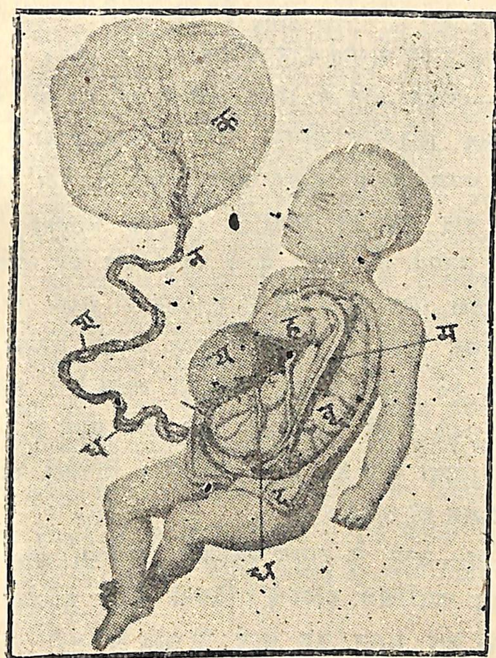
नवें मास का भ्रूण—लम्बाई १७$\frac{1}{2}$ इंच और भार २$\frac{3}{4}$ सेर होता है। इस समय बच्चे के शरीर में गोलाई आनी प्रारम्भ हो जाती है। चर्म के नीचे वसा की मात्रा काफ़ी बढ़ जाती है। इस कारण चेहरे पर से भी झुर्रियाँ जाती रहती हैं। अण्ड बहुधा अण्डकोष में पहुँच जाते हैं।

दसवें महीने का भ्रूण—शरीर की लम्बाई २० इंच; शरीर का भार ३$\frac{1}{2}$ सेर। इस समय शरीर का चर्म बिलकुल चिकना और साफ़ हो जाता है। उस पर गुलाबी रङ्ग आ जाता है। नख उँगलियों के सिरों तक पहुँच जाते हैं। सिर के बाल काफी बढ़ चुकते हैं। शरीर की समस्त रचनाएँ और अङ्ग पूर्ण हो चुकते हैं।

लगभग प्रत्येक अस्थि में विकास आरंभ हो जाता है। अंड अंडकोष में पहुँच जाते हैं। नाल शरीर के मध्य से कोई आध इंच नीचे लगा होता है।

नवजात शिशु—जिस समय बच्चा उत्पन्न होता है, उसका

चित्र नं० १२३—नवजात शिशु।



(हमारे शरीर की रचना से)

क = कमल; न = नाल; श = नाभि; ध = नाभि धमनी;
वृ = वृक्क; ह = हृदय; य = यकृत्; म = महाधमनी।

सारा शरीर एक चिकनी वस्तु से ढका रहता है। उत्पन्न होते ही बच्चा रोता है। रोने से उसके फुस्फुस फैलते हैं और मज़बूत होते हैं। मनुष्य का बच्चा जितना निस्सहाय होता है उतना किसी भी पशु का बच्चा नहीं होता। वह अपने भौतिक अस्तित्व के लिये दूसरों की दया पर निर्भर करता है। बहुत अधिक समय के पश्चात् वह इस योग्य होता है कि किसी प्रकार से अपनी कुछ आवश्यकताओं के पूर्ण करने में कुछ भाग ले सके।

चर्म—उत्पन्न होने के समय बच्चे के चर्म पर जो पदार्थ चढ़ा रहता है, वह धीरे-धीरे दो-एक दिनों में जाता रहता है। प्रथम तो उसको जो प्रथम स्नान कराया जाता है उसी में हटा दिया जाता है; किंतु यदि कुछ रह जाता है तो वह पश्चात् के दो-एक स्नानों में ग़ायब हो जाता है। किंतु बच्चे की त्वचा से एक प्रकार का तेल निकलता रहता है। आयु के प्रथम वर्ष में इसकी मात्रा अधिक होती है। बच्चे का चर्म अत्यंत कोमल होता है। तनिक से भी रगड़ने से वह लाल हो जाता है। उसमें रोगों के जीवाणुओं को रोकने की शक्ति बहुत कम होती है। स्वस्थ बच्चे का चर्म गुलाबी रंग का होना चाहिए। पीतवर्ण और मुरझाई हुई त्वचा रोग की सूचक है।

अस्थि—जन्म के समय कंकाल का बहुत सा भाग अस्थि नहीं होता, किंतु कारटिलेज होता है। जितनी लंबी अस्थियाँ हैं, उनके दोनों सिरे उस समय तक बीच के भाग से नहीं जुड़ते। बहुत सी चपटी अस्थियाँ, जो पूर्ण कंकाल में एक दीखती हैं, वास्तव में कई भागों की बनी होती हैं; जो उस समय तक भिन्न रहती हैं। आयु के प्रथम वर्ष में सबसे अधिक अस्थियों में परिवर्तन होते हैं। इस समय यदि बच्चे को उचित भोजन न मिले तो उसके

शरीर की वृद्धि रुक जाती है और अस्थि-संबंधी रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मांस-पेशी—बच्चा उत्पन्न होने पर मांस-पेशियों से बहुत कम काम लेता है। वह सोता है, खाता और मल त्याग करता है। इसके अतिरिक्त वह रोने में हाथ-पाँव चलाता है।

बच्चे की मांस-पेशियाँ बहुत ही निर्बल होती हैं। उनका बिलकुल ही विकास नहीं होता। मांस-पेशियों का भार भी, आयु और शरीर का परिमाण ध्यान में रखते हुए, बच्चों में युवा मनुष्यों की अपेक्षा आधा होता है। अर्थात् युवा पुरुषों की अपेक्षा आयु के अनुसार बच्चों में मांस का जितना भार होना चाहिए, उससे आधा भार होता है। आरंभ में बच्चे की पेशियाँ उसकी इच्छा के अधीन नहीं होतीं। उसका प्रत्येक कर्म एक परावर्तन कर्म होता है। तीसरे महीने में उसमें अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करने की कुछ-कुछ शक्ति उत्पन्न होने लगती है। तीसरे मास पर बच्चे को अपना सिर सम्हालने के योग्य हो जाना चाहिए। पाँचवें और सातवें मास में बच्चा खिलौनों के लिये हाथ बढ़ाने लगता है। सातवें और आठवें मास में उसमें बैठने की शक्ति आ जाती है, और नवें-दसवें मास में किसी के सहारे से खड़ा होने लगता है। बच्चा बारहवें मास में अलग खड़ा होने लगता है; तेरहवें और चौदहवें मास में अकेला चलने लगता है और पंद्रहवें मास में भागने लगता है।

रोगी रहने, मंदाग्नि, रिकेट्स (Rickets), उचित समय से पूर्व जन्म, उचित भोजन की कमी, माता की बीमारी इत्यादि कारणों से बच्चे की वृद्धि रुक सकती है। बच्चों के लिये भोजन में विटेमिन होना बहुत आवश्यक है।

शरीर की उष्णता—जन्म के समय बच्चे के शरीर की उष्णता १०० फैरनहीट होती है। जन्म के पश्चात् शीघ्र ही यह उष्णता दो डिग्री कम हो जाती है; प्रथम दो-तीन दिन के पश्चात् फिर ६८.५ पर पहुँच जाती है।

रक्तसंवहन—जन्म के पश्चात् रक्तसंवहन में जो अंतर उत्पन्न होता है उसका पहले ही वर्णन किया जा चुका है। नवजात शिशु के शरीर में एक युवा की अपेक्षा, उसके शरीर-भार को ध्यान में रखते हुए, अधिक रक्त होता है। उसका हृदय भी बड़ा होता है और धमनी और शिराएँ भी बड़ी होती हैं। इस कारण बच्चे के हृदय की गति अधिक तीव्र होती है। उसकी नाड़ी का स्पंदन एक मिनट में १२० से १४० बार होता है। छः मास की आयु पर नाड़ी की गति १२० प्रति मिनट होती है।

श्वासकर्म—छोटा बच्चा एक मिनट में तीस या पैंतीस बार श्वास लेता है। छः मास की आयु पर भी श्वास की संख्या ३५ प्रति मिनट होती है। दूसरे वर्ष के आरंभ में वह २५ रह जाती है। जिन बच्चों के नाक में किसी प्रकार का रोग होता है व कोई अवरोध होता है, उनको श्वास लेने में कष्ट होता है। न केवल यही, किन्तु उनके भोजन में भी बाधा पड़ती है। माता का दूध पीते-पीते उनको बार-बार स्तनों से मुँह को हटाना पड़ता है, क्योंकि वे मुँह के द्वारा श्वास लेते हैं।

चेतना और ज्ञानशक्ति—जिस समय बच्चा उत्पन्न होता है, उस समय उसमें अन्य सब पशुओं से कम चेतना होती है। कुछ पशुओं के बच्चे उत्पन्न होते ही खड़े होकर माता के स्तनों से दूध पीने लगते हैं। कुछ रेंगकर माता के पास तक पहुँच जाते हैं; किंतु मनुष्य का बच्चा इन सब शक्तियों से रहित होता है। प्रथम

मास में खाना, श्वास लेना, रोना, मलत्याग करना ही उसके कर्म होते हैं। वह दूसरे मास में कुछ-कुछ हँसने लगता है, जिसके द्वारा वह हर्ष प्रकट करता है। इसके पश्चात् उसकी दूसरी शक्तियों का विकास होता है।

बच्चे की साधारण ज्ञानशक्ति बहुत ही दुर्बल होती है। वह अपने शरीर पर मक्खियों के बैठने का अनुभव नहीं कर सकता। उसमें दुःख अनुभव करने की भी शक्ति अधिक नहीं होती। क्षुधा अनुभव करने की शक्ति बच्चों में बहुत तीव्र होती है। तनिक भी भूख लगते ही बच्चा रोने लगता है। भोजन पाने के पश्चात् वह तुरंत ही फिर सो जाता है। स्वाद और घ्राण की शक्ति बच्चों में जन्म ही से उपस्थित मालूम होती है। मीठी वस्तु को बच्चे तुरंत ग्रहण कर लेते हैं; किंतु कड़ुवी वस्तु को मुँह में से निकाल देते हैं। इसी प्रकार यदि कोई ऐमानिया जैसी तीव्र गंधवाली वस्तु उनको सुँघाई जाय तो वे उसे अनुभव करते हैं।

छोटे बच्चों में श्रवणशक्ति बिलकुल अनुपस्थित सी मालूम होती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि उनका मध्य कर्ण एक लसदार वस्तु से भरा रहता है, जो दो सप्ताह के बाद जाती रहती है। इसके पश्चात् बच्चा सुनना आरंभ करता है और धीरे-धीरे उसकी सुनने की शक्ति बढ़ती जाती है। तीसरे मास में वह भली प्रकार सुन सकता है। जिधर भी शब्द होता है उधर ही को वह सिर घुमाने का प्रयत्न करता है।

बच्चों में दूर की वस्तु देखने की शक्ति नहीं होती। बहुत छोटी अवस्था में तो वे किसी भी वस्तु पर अपनी दृष्टि नहीं ठहरा सकते। उनके नेत्र कमज़ोर होते हैं। इस कारण उनको सदा तीव्र प्रकाश से बचाना चाहिए।

यह शक्ति भी बच्चों में धीरे-धीरे बढ़ जाती है।

गर्भकाल—गर्भकाल कितना होता है, कितने दिन तक गर्भाशय के भीतर रहकर बच्चा बाहर आता है ? इस संबंध में बहुधा प्रश्न पूछे जाते हैं। गर्भवती स्त्रियाँ और भावी पिता बहुधा डाक्टरों से पूछा करते हैं, उनके कौन से दिन बच्चा होगा। इस प्रश्न का निश्चित रूप से, बीजगणित के प्रश्नों के समान, ठीक-ठीक उत्तर देना असंभव है; किंतु अनुमान से प्रसव की तिथि कही जा सकती है।

हम पहले देख चुके हैं कि हमको इस बात का पूरा ज्ञान नहीं है कि गर्भाधान किस समय पर होता है। शुक्राणु और डिंभ का संयोग मासिक स्राव के पूर्व होता है अथवा पश्चात्, हमको यह बात ठीक प्रकार से नहीं मालूम है। और इस बात की आशा करना भी कि हम मनुष्य में इन दोनों सेलों के संयोग का समय निश्चित रूप से जान लें, एक दुस्साहस करना है। यह देखा जाता है कि मासिक स्राव के पश्चात् ही या उसके तनिक ही पूर्व किए गए संयोग का परिणाम अधिकतर गर्भ होता है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि शुक्राणु और डिंभ का संयोग मासिक स्राव के तनिक पहले अथवा उसके कुछ समय पश्चात् तक होता है। इसी के आधार पर गर्भकाल मालूम करने का प्रयत्न किया जाता है। जिन दशाओं में केवल एक ही संयोग से किसी निश्चित दिन गर्भाधान हो गया है, उसकी सहायता से और ऊपर के आधार पर यह मालूम किया गया है कि साधारणतया गर्भ गर्भाशय में २७३ दिवस रहता है। अर्थात् गर्भकाल २७३ दिन ठहराया गया है। कभी इस संख्या में बहुत ही न्यूनाधिक्य देखने में आता है। २४० दिन पर भी पूर्ण बच्चे उत्पन्न होते देखे गए हैं और ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ बच्चे ३०० व ३१३ दिन पर

उत्पन्न हुए हैं। ३२० दिन पर प्रसव होते हुए भी देखा गया है। गर्भकाल का कम व अधिक होना मासिक ऋतु के काल पर बहुत कुछ निर्भर करता है। यह साधारणतया देखा जाता है कि जिनका मासिक काल कम है, स्राव २४ व २५ वें दिन पर होता है, उनका गर्भकाल भी २८ व २९ दिन पर स्राव होनेवाली स्त्रियों से कम होता है।

प्रसव-दिवस की गणना—यह मालूम करने के लिये कि प्रसव कौन से दिवस पर होगा, अंतिम मासिक स्राव के दिनों से हिसाब लगाया जाता है। उसके लिये यह मान लिया जाता है कि अंतिम स्राव के पश्चात् ही संभोग से गर्भाधान हो गया था। अत-एव अंतिम स्राव के प्रथम दिन से गणना आरंभ करके प्रथम चार दिन स्राव के लिये छोड़ दिए जाते हैं। इसके पश्चात् तीन दिन और छोड़े जाते हैं। यह माना जाता है कि गर्भाधान इन तीन दिनों के पश्चात् हुआ है, इस प्रकार स्राव के प्रथम दिन से आरंभ करके सात दिन छोड़ देते हैं। इन सात दिनों को २७३ दिनों में जोड़ देते हैं, जो कि वह समय समझा जाता है, जब कि गर्भ गर्भा-शय के भीतर रहता है। इस प्रकार अंतिम मासिक स्राव के प्रथम दिन से २८० वाँ दिन प्रसव-दिवस समझा जाता है। यदि किसी स्त्री को अंतिम स्राव ३ नवंबर को हुआ, तो उसका प्रसव-दिन अनुमान से १० अगस्त होगा। हिसाब लगाने में सुगमता के लिये बहुधा ऐसा करते हैं कि स्राव के प्रथम दिन में ७ दिन जोड़ दिए और आगे के नौ महीने गिन लिए।

प्रसव-दिवस मालूम करने के लिये कई और प्रकार से भी हिसाब लगाया जाता है, किंतु साधारणतया जिसको सुगमता से काम में ला सकते हैं उसका ऊपर वर्णन किया गया है। कुछ लोग

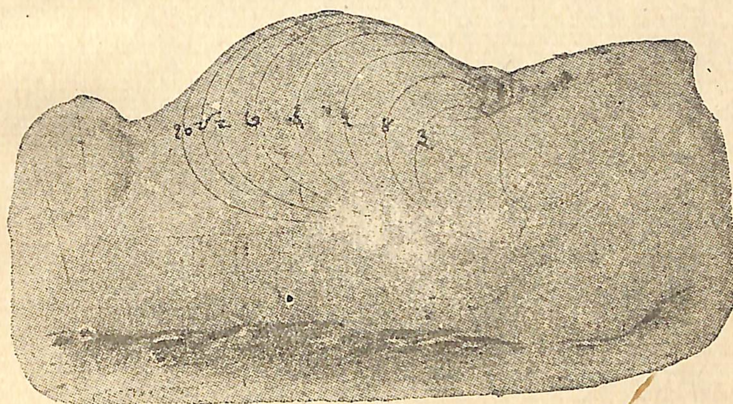
गर्भाशय की वृद्धि से हिसाब लगाते हैं। दूसरे पूर्ण दस मासिक स्राव के दिनों को गिनते हैं। जिन स्त्रियों को २८ वें दिन पर स्राव होता है, उनके संबंध में हिसाब लगाते हुए वे २८० दिन गिनते हैं। किंतु इससे कुछ अधिक संतोषजनक फल नहीं निकले हैं।

गर्भ के कारण माता के शरीर में परिवर्तन—गर्भकाल में माता के शरीर में जो परिवर्तन होते हैं, उनको देखते हुए यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि प्रसव के पश्चात् स्त्री के बहुत से अंग बिलकुल बदल जाते हैं। यों तो अंगों में सदा ही परिवर्तन हुआ करता है, पुराने सेल टूट-फूटकर नष्ट हो जाते हैं और उनके स्थान पर नए सेल बन जाते हैं, किंतु गर्भकाल में यह टूट-फूट और नवीन उत्पत्ति बहुतायत से होती है।

गर्भाशय—गर्भकाल में यही अंग सबसे अधिक काम करता है। उसकी रचना ही गर्भ धारण करने के लिये हुई है। अतएव सबसे अधिक परिवर्तन भी इसी में होता है। गर्भ से पूर्व यह तीन इंच ऊँचा, २ इंच चौड़ा और उसकी दीवारों की मोटाई एक इंच के लगभग होती है; किंतु गर्भ के अंतिम काल में इसकी उँचाई १२ इंच हो जाती है, ९ इंच उँचाई और ८ इंच चौड़ाई होती । पहले उसके भीतर बहुत थोड़ा स्थान रहता है, उसकी दीवारें आपस में मिली रहती हैं; किंतु यह स्थान ५०० गुना बढ़ जाता है। इसका भार भी $1\frac{1}{2}$ औंस से बढ़कर ३० औंस हो जाता है। गर्भाशय की समस्त रचनाएँ कला, पेशी, ग्रंथि, रक्त-नलिकाएँ, लसीकाएँ और नाड़ियाँ; उस वृद्धि में अपना-अपना भाग लेती हैं; सबसे अधिक वृद्धि मांस-पेशियों में होती है। जो सूत्र पहले ही से उपस्थित थे, वे कम से कम

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ३५

भिन्न भिन्न मास में गर्भाशय की वृद्धि की स्थिति दिखाई गई है।



पृष्ठ-संख्या ५५६

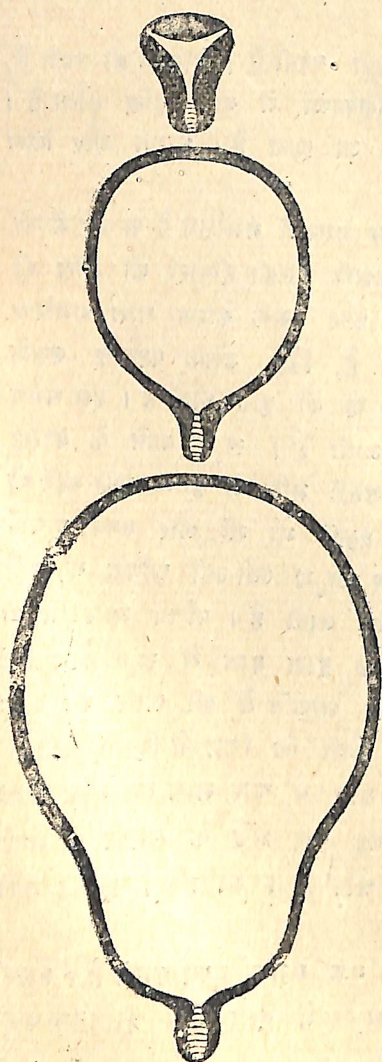
१० गुना लंबे और पाँच गुना चौड़े हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी नए सूत्र बन जाते है।

रक्त-नलिकाएँ आकार में बहुत बढ़ती हैं। वे लंबी हो जाती हैं, विशेषकर अपरा के स्थान की नलिकाओं में बहुत वृद्धि होती है। इनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। धमनी और शिरा दोनों इस वृद्धि में भाग लेती है।

गर्भ के प्रथम, तीन व चार मास में गर्भाशय के आकार में जो वृद्धि होती है उसका मुख्य कारण उसकी दीवारों को मांस की वृद्धि है। मांस अधिक बढ़ता है और उसके कारण सारा गर्भाशय अधिक बढ़ा हुआ दिखाई देता है, किंतु उसके पश्चात् उसके आकार की वृद्धि का कारण भ्रूण की वृद्धि होती है। इस समय दीवारें पहले से पतली हो जाती हैं। भ्रूण बढ़ने के कारण दीवारों को खिचना पड़ता है। उनके मांस में इतनी वृद्धि नहीं हो सकती कि वह भ्रूण के बराबर बढ़ती भी रहें और उनकी दीवारें भी उतनी ही मोटी रहें। अतएव भ्रूण ज्यों-ज्यों अधिक बढ़ता है त्यों-त्यों ये दीवारें पतली होती जाती हैं। पाँचवें मास में वे इतनी पतली हो जाती हैं कि उनके द्वारा हाथ से भ्रूण को प्रतीत किया जा सकता है। गर्भाशय की आकृति में भी अंतर आ जाता है। गर्भ से पूर्व उसकी आकृति जैसी कि चित्र में दिखाई देती है वैसी होती है। गर्भ के प्रथम तीन व चार मास तक गोल रहती है; चार मास के पश्चात् फिर वह कुछ अंडे के समान हो जाती है। गर्भाशय उदर में ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। इसका ऊपर का भाग अधिक गोल होता है।

गर्भाशय की वृद्धि बराबर एक समान हुआ करती है। उसकी वृद्धि भ्रूण पर निर्भर करती है। भ्रूण में ऐसा नहीं होता कि कभी

चित्र नं० १३४—



तो वह तेज़ी से बढ़ने लगे और फिर कभी बंद हो जाय। इसकी वृद्धि बराबर एक समान जारी रहती है। इसी कारण गर्भाशय के आकार की वृद्धि भी एक समान होती रहती है।

गर्भाशय का स्वाभाविक आकार पहले बताया जा चुका है। गर्भ के दूसरे मास में यह बढ़कर एक हंस के अंडे के बराबर हो जाता है। तीसरे मास में इसका आकार एक बड़े संतरे के बराबर होता है। इस समय पर गर्भाशय को उदर में भगास्थियों के जोड़ के ऊपर प्रतीत किया जा सकता है। चौथे मास में गर्भाशय पूर्णतया उदर के भीतर आ जाता है। वह उदर की आगे की दीवार से आकर लग जाता है। इसका सबसे ऊपर का भाग

भगास्थियों की संधि से ४ इंच ऊपर रहता है। पाँचवें मास के अंत पर गर्भाशय नाभि से एक अंगुल नीचे रह जाता है और छठे मास पर वह नाभि के ऊपर पहुँच जाता है। सातवें, आठवें और नवें मास में वह दो अंगुल प्रति मास बढ़ता है। नवें मास के अंत में वह पर्शुकाओं के बीच की वक्षास्थि के निचले भाग पर पहुँच जाता है। दसवें मास में वह फिर नीचे को खिसकता है और पूर्व स्थान से कोई दो अंगुल नीचा हो जाता है।

गर्भाशय का सबसे नीचे का भाग अर्थात् उसकी ग्रीवा वृद्धि में अधिक भाग नहीं लेती। वहाँ पर रक्त का संचालन बढ़ जाता है, जिसके कारण उसकी ग्रंथियाँ अधिक काम करने लगती हैं। उनसे एक प्रकार का श्लेष्मा निकलता है और वह गर्भाशय के मुख को बंद कर देता है। गर्भावस्था में यह भाग पहले के समान कड़ा नहीं रहता, कुछ ढीला हो जाता है।

गर्भकाल में भग में रक्त का संचालन अधिक हो जाता है। इस कारण वहाँ की कला का रंग भी गाढ़ा लाल दिखाई देता है और वहाँ की ग्रंथियाँ अधिक तरल बनाने लगती हैं। इस स्थान की सब शिराएँ फूल जाती हैं। साथ में दीवारों में कुछ तंतु भी बढ़ जाते हैं।

डिंभ-ग्रंथि और डिंभ-प्रनाली में भी रक्त का अधिक सचार होता है।

चर्म—कुछ स्त्रियों के चर्म में रंग के कण एकत्रित हो जाते हैं। उदर के नीचे के भाग में कुछ लंबी-लंबी दरारें सी दीखने लगती हैं। इसका कारण यह होता है कि उदर की दीवार को गर्भाशय के साथ-साथ बढ़ना पड़ता है। वह बहुत खिंचती है। इस खिंचने से चर्म के गहरे भाग फट जाते हैं। यही स्थान हलकी

रेखाएँ सरीखी प्रतीत होते हैं। स्तनों के नीचे भी ऐसी ही रेखाएँ दिखाई देती हैं गर्भ के अतिरिक्त जिन दशाओं में भी उदर की वृद्धि होती है इन सबों में ये रेखाएँ दीखने लगती हैं।

स्तन—स्तनों को आगे चलकर बहुत काम करना होता है। इस कारण वह इसी समय से तैयारी करने लगते हैं। इनके भीतर ग्रंथियों की संख्या बहुत बढ़ जाती है और वे कड़े हो जाते हैं। उनके अग्रभाग, जिनके द्वारा कच्चा दूध पीता है, कड़े हो जाते हैं। दूसरे मास से उनमें भारीपना मालूम होने लगता है। तीसरे या चौथे मास में इनसे कुछ पतला द्रव्य निकलने लगता है। तीसरे मास में स्तन के मुख के चारों ओर का रंग गहरा हो जाता है। साथ में कुछ छोटे-छोटे उभरे हुए दाने भी दिखाई देने लगते हैं। स्तनों की सब ग्रंथियाँ तेज़ी से बढ़ती हैं।

हृदय और रक्त-संचालन—गर्भकाल में हृदय को अधिक काम करना पड़ता है। उसको न केवल माता ही का पोषण करना है, वरन् बच्चे का पोषण भी करना पड़ता है। किंतु हृदय में इतनी शक्ति होती है कि इससे भी अधिक काम कर सकता है। कुछ लोगों का विचार है कि हृदय का दाहना भाग बढ़ जाता है और इससे कभी-कभी चलने के समय श्वास लेने में कष्ट होता है। हृदय पर, विशेषकर अंतिम दिनों में, गर्भाशय का अवश्य ही कुछ भार पड़ता है; क्योंकि वह ऊपर की ओर बढ़ता है और सब अंगों को उनके स्थान से हटा देता है। धमनियों में कोई परिवर्तन नहीं होता, किंतु उदर की शिराएँ मोटी और फैली हुई दिखाई देती हैं।

रक्त में रक्त-कणों की मात्रा बढ़ जाती है। गर्भ के अंतिम दिनों में लाल कण और हीमोग्लोबिन बढ़ जाते हैं। प्रसव के समीप

श्वेत कणों की संख्या में वृद्धि होती है। किन्तु प्रसव के तीन या चार दिन के पश्चात् इनकी संख्या फिर पूर्ववत् हो जाती है।

वृक्क और मूत्र—गर्भकाल में मूत्रत्याग अधिक होता है। विशेषकर गर्भ के प्रारम्भिक और अन्तिम दिनों में मूत्राशय पर दबाव पड़ने के कारण वह उत्तेजित रहता है। इस कारण मूत्र अधिक होता है। किन्तु मूत्र में विशेष बात देखने की यह है कि उसमें अलबूमन (Albumin) है या नहीं। अलबूमन का तनिक सा भी होना बहुत बुरा है और उसकी चिकित्सा शीघ्र ही करनी उचित है। कभी-कभी भग के स्राव के कारण भी मूत्र में अलबूमन मिलता है। किन्तु सदा यही समझकर चुप न हो जाना चाहिए। यह निश्चय प्रकार से जान लेना कि अलबूमन मूत्र के साथ वृक्क ही से आ रहा है या नहीं, बहुत आवश्यक है। उसके पश्चात् उसकी तुरन्त ही चिकित्सा होनी चाहिए। अलबूमन अत्यन्त भयानक रोगों का सूचक है।

फुस्फुस—इसको गर्भ के अन्तिम दिनों में अवश्य ही अधिक काम करना पड़ता है। इसका विशेष कारण यह होता है कि महा प्राचीरा पेशी पर गर्भाशय का बहुत भार पड़ता है। इस कारण बहुधा श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगता है। कार्बन-डाई-आक्साइड अधिक निकलती है, क्योंकि भ्रूण में बनी हुई गैस भी माता ही के फुस्फुस द्वारा निकलती है।

शरीर का भार—स्वस्थ स्त्रियों का स्वास्थ्य गर्भकाल में उन्नत हो जाता है। उनको क्षुधा अधिक लगती है; पाचन भी अच्छा होता है; इससे उनका स्वास्थ्य भी पहले से उत्तम हो जाता है। किन्तु जो स्त्रियाँ स्वाभाविकतया ही रोगिणी होती हैं, उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। गर्भकाल में गर्भाशय में भ्रूण के कारण

भी शरीर का भार बढ़ता है। कहा जाता है कि शरीर में वसा और द्रव्यों में भी अधिकता हो जाती है।

नाड़ी-मंडल—गर्भ को कम से कम प्रारम्भिक दिनों में नाड़ी-मंडल अधिक उत्तेजित रहता है। क़ै करना, किसी वस्तु के खाने की इच्छा न करना, आलस्य रहना इत्यादि सब इसी के लक्षण हैं। जो स्त्रियाँ व्यायाम इत्यादि बिलकुल नहीं करतीं, पलँग पर पड़े-पड़े आमोद-प्रमोद में ही जिनका समय जाता है उनको ये कष्ट अधिक होते हैं। स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है; शरीर में दरद रहने लगता है; हाथ-पाँव टूटते हैं; असाधारण वस्तुओं के खाने की इच्छा होती है; मुँह से राल टपका करती है। गर्भ के प्रारम्भिक काल में यह दशा अधिकतर देखी जाती है। उस समय सारे शरीर को अपने को नई दशाओं के अनुकूल करना होता है। गर्भ के कारण जो-जो रक्त-संचालन इत्यादि में परिवर्तन हुए हैं उनको सहन करने के योग्य बनाना होता है। जब शरीर अपने को इन नवीन दशाओं के अनुकूल कर लेता है तो फिर उसको कुछ कष्ट नहीं होता। इसी कारण यह वमन इत्यादि गर्भकाल के आरम्भ में देखे जाते हैं। तीसरे या चौथे मास के पश्चात् वे जाते रहते हैं।

प्रसव—गर्भकाल के २७३ दिन समाप्त होने पर बच्चा अपने वासस्थान को छोड़कर संसार में आता है। गर्भाशय से गर्भ के बाहर आने को प्रसव कहते हैं।

प्रसव के दो या तीन सप्ताह पूर्व ही से स्त्री को कुछ हलकापन मालूम होने लगता है। इसका कारण, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गर्भाशय का नीचे को खिसक जाना है जिससे हृदय और महाप्राचीरा पर का भार हलका हो जाता है। किन्तु इस

समय मल और मूत्रत्याग अधिक होने लगता है; क्योंकि वस्ति में मूत्राशय और मलाशय दोनों ही गर्भाशय से दबते हैं। गर्भ-काल के अंतिम सप्ताह में बच्चे का सिर नीचे की ओर खिसकने लगता है।

प्रथम अवस्था—प्रसव का कारण गर्भाशय के मांस-पेशियों का संकोच करना है। जब ये पेशियाँ संकोच करना आरंभ करती हैं तो प्रसव की पीड़ा होने लगती है। ये दरद विशेष प्रकार के होते हैं। वे थोड़े-थोड़े समय के अंतर पर प्रतीत होते हैं। पहले दरदों के बीच में अधिक अंतर रहता है। धीरे-धीरे यह अंतर कम होता जाता है। दरद अधिक होते जाते हैं, उनकी तीव्रता भी बढ़ जाती है। ये दरद पीठ में नीचे की ओर दोनों नितंबों के बीच में आरंभ होते हैं और आगे की ओर उदर और जंघा की ओर आते प्रतीत होते हैं। गर्भाशय मांस-पेशियों के संकोचन द्वारा गर्भ को नीचे की ओर ढकेलता है। गर्भ में बच्चे का सिर नीचे रहता है; इस कारण वही भाग आगे बढ़ता है। बच्चे के बाहर आने के लिये आवश्यक है कि गर्भाशय का मुख पूर्णतया चौड़ा हो जाय जिससे बच्चे का बाहर आना संभव हो। बिना उसके मुख के पूर्णतया चौड़े हुए बच्चा बाहर नहीं आ सकता। गर्भाशय के संकोचन से उसका मुख चौड़ता है। दरदों के प्रारंभ होने से मुख के पूर्णतया चौड़ने तक प्रसव की प्रथमावस्था कहलाती है। यह अवस्था १२ से १८ घंटे तक रह सकती है।

ज्यों-ज्यों दरद तीव्र होता है त्यों-त्यों गर्भाशय का मुख भी अधिक खुलता है। इस समय स्त्री का कष्ट बढ़ जाता है। पीठ को दाबने से उसे आराम मालूम होता है। इस अवस्था के आरंभ में गर्भाशय के मुख से कुछ रक्त मिला हुआ श्लेष्मा निकलता है।

प्रथमावस्था के अंत में बहुत सा पानी एकदम निकलता है। इसका कारण उन झिल्लियों का फटना होता है जिनके भीतर बच्चा रहता है। जब वे झिल्लियाँ फटती हैं तो उनके भीतर का द्रव्य भी एकदम बाहर निकलता है। कभी-कभी ये झिल्लियाँ दूसरी अवस्था तक नहीं फटतीं और उनको हाथ से फाड़ना पड़ता है।

दूसरी अवस्था—झिल्लियों के फटने के पश्चात् दूसरी अवस्था आरंभ होती है। कुछ समय तक ठहर कर दरद फिर तेज़ी से आरंभ होते हैं। इनकी तीव्रता पहले की अपेक्षा और भी बढ़ जाती है। स्त्री को मालूम होता है कि जैसे कोई वस्तु नीचे को खिसक रही है। दरद की तीव्रता के कारण स्त्री अपने पास की किसी भी वस्तु को पकड़ लेती है। एक गहरा श्वास भीतर लेती है। और जब तक दरद का अंत नहीं हो जाता तब तक वायु को भीतर ही रखती है। उसका मुख लाल हो जाता है और शरीर से स्वेद निकलने लगता है। श्वास को भीतर रखने से उदर और महाप्राचीरा पेशी का गर्भाशय पर भार बढ़ जाता है, जिससे भ्रूण के नीचे खिसकने और आगे बढ़ने में सहायता मिलती है।

इन दरदों के कारण सिर आगे को बढ़ता है। वस्ति में मलाशय के ऊपर होता हुआ वह नीचे की ओर को जाता है। इससे यदि मलाशय में कुछ मल होता है तो वह मलद्वार में होता हुआ बाहर निकल जाता है। अंत को बच्चे का सिर भग-स्थान पर पहुँचता है। जिस समय दरद में बच्चे का सिर आगे को बढ़ता है उस समय भग और मलद्वार के बीच का स्थान ऊपर को उभर जाता है, किंतु दरद के बंद होने पर ज्यों ही बच्चे का सिर पीछे को हटता है त्यों ही यह स्थान भी समान हो जाता है।

इस प्रकार दरदों में सिर आगे को बढ़ना है और दरदों के बीच के समय में पीछे को हट जाता है। अंत में सिर का पिछला भाग, जो सबसे आगे रहता है, भगास्थि की संधि के नीचे पहुँच जाता है। अंत में एक बड़ा तीव्र दरद होता है और उसके साथ बच्चे का सिर भग के बाहर आ जाता है। इसके पश्चात् दरद में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। सिर, जो बच्चे की स्वाभाविक अवस्था में उसके वक्ष की ओर मुड़ा हुआ था और जिस कारण से सिर का पिछला भाग सबके आगे स्थित था, सीधा हो जाता है। इससे उसकी ललाटास्थि सबसे ऊपर आ जाती है। इससे बच्चे का ललाट और मुख भी जल्दी से भग से बाहर आ जाते हैं। स्त्री के लिये यह महान् कष्ट का समय होता है।

सिर के भग से बाहर निकलने के पश्चात् कुछ समय के लिये दरद कम होता है, किन्तु फिर आरंभ हो जाता है और बच्चे का सिर घूमकर माता के दाहनी ओर आ जाता है। इसके पश्चात् बच्चे के कंधे बाहर आते हैं। पहले दाहना कंधा बाहर आता है, उसके पश्चात् बायाँ कंधा उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् वक्ष, उदर और निम्न-शाखाओं के उत्पन्न होने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

बच्चे के जन्म लेने पर दूसरी अवस्था अंत हो जाती है। यह अवस्था दो वा तीन घंटे ले लेती है; किंतु जिन स्त्रियों को कई बार बालक हो चुके हैं उनमें कम समय लगता है।

तीसरी अवस्था—तीसरी अवस्था में बच्चे के अपरा इत्यादि बाहर आते हैं। बच्चे के उत्पन्न होने के पश्चात् कुछ समय के लिये दरद बंद हो जात हैं और गर्भाशय संकुचित हो जाता है। वह उदर में एक कड़ी गेंद सरीखा प्रतीत होता है। दरद फिर होता

है और अपरा गर्भाशय से पृथक् होकर भग द्वारा बाहर आ जाता है। इस अवस्था में कुछ मिनट से लेकर एक घंटा तक लग सकता है।

प्रसूतिकाल—बच्चे के जन्म हो जाने के पश्चात् गर्भाशय फिर अपनी पूर्ववत् दशा में लौटने का प्रयत्न करता है। इसमें उसको छः से आठ सप्ताह लग जाते हैं। इस समय में स्त्री की दशा बहुत नाजुक होती है।

इन छः या आठ सप्ताह में गर्भाशय के आकार में जितनी वृद्धि हुई थी वह सब जाती रहती है। उसकी दीवारें अपनी साधारण दशा में आ जाती हैं। मांस के नए सूत्र लुप्त हो जाते हैं। ग्यारह-बारह दिन के पश्चात् उदर में गर्भाशय नहीं प्रतीत किया जा सकता। धीरे-धीरे वह अपनी पूर्व दशा को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है।

प्रसव के कई दिन पश्चात् तक स्त्री के भग से एक प्रकार का द्रव्य बहा करता है। इसको लोकिया (Lochia) कहते हैं। प्रथम दो-तीन दिन तक तो केवल रक्त ही निकलता है। फिर उसमें सीरम का भाग अधिक हो जाता है। साथ में रक्त-कण, गर्भाशय की कला इत्यादि भी होते हैं। इसकी गंध सुहावनी नहीं होती, किंतु वह दुर्गंधि भी नहीं कही जा सकती। यदि इस द्रव्य में दुर्गंधि हो तो चिंता का कारण है, क्योंकि उसका यह अर्थ है कि वहाँ रोग के जीवाणु पहुँच गए हैं।

प्रसव के पश्चात् का काल स्त्री के लिए एक बहुत ही विशेष समय होता है। इस समय भग और गर्भाशय दोनों व्रणों से परिपूर्ण कहे जा सकते हैं। यदि ऐसी अवस्था में वहाँ तनिक सी भी अशुद्धि पहुँच जाती है तो उससे भयंकर परिणाम होते हैं। जितनी

स्वच्छता की इस समय आवश्यकता है उतनी किसी भी समय पर नहीं है। इस समय पर असावधानी के ही कारण हमारे देश में सहस्रों स्त्रियों के प्रत्येक वर्ष प्राण जाते हैं।

स्त्री के लिये उत्तम भोजन, उत्तम स्वच्छ स्थान जहाँ शुद्ध वायु का खूब प्रवेश हो, स्वच्छ वस्त्र, चिन्ता से मुक्ति और पूर्ण विश्राम की अत्यंत आवश्यकता है। प्रसव के पश्चात् स्त्री का दूसरा जन्म समझना चाहिए।

जाति की उत्पत्ति

वैज्ञानिकों के लिये अभी तक जाति का प्रश्न एक गूढ़ समस्या है। इसका क्या कारण है कि किसी बार लड़की होती है और कभी लड़का उत्पन्न होता है? वे कौन सी वस्तुएँ हैं जो जाति की भिन्नता उत्पन्न करती हैं? शुक्राणु और डिंभ के भीतर कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनके कारण यह जाति बनती है। अथवा कोई बाह्य प्रभाव ऐसे होते हैं जिनके कारण जातिभेद उत्पन्न होता है? यह अभी तक एक समस्या है, जिस पर वैज्ञानिक लोग सहमत नहीं हैं।

इस प्रश्न ने सदा से लोगों को चक्कर में डाला है। गर्भवती भावी माताएँ इस बात की बहुत इच्छुक रहती हैं कि उनको उनके आगामी संतान की जाति मालूम हो जाय। कभी-कभी भावी पिता तो डॉक्टरों से यह प्रश्न कर भी बैठते हैं। पश्चिमी देशों में स्त्रियाँ इस प्रश्न के संबंध में साधारणतया डॉक्टरों की सलाह लेती हैं। किंतु हमारे देश की स्त्रियाँ लज्जा के मारे इतना साहस नहीं करतीं। तो भी उनको इस बात के जानने की उतनी ही अधिक इच्छा रहती है।

इसके संबंध में अनेक सिद्धान्त अनेक व्यक्तियों द्वारा बने हैं। इतने अधिक सिद्धांतों का बनना ही यह बता रहा है कि कोई भी सिद्धांत संतोषजनक उत्तर देने के योग्य नहीं है। कुछ सिद्धांतों का नीचे उल्लेख किया जाता है:—

१. जाति को उत्पन्न करना शुक्राणु का काम है। वह डिंभ का न केवल गर्भाधान ही करता है, किंतु जाति भी वही उत्पन्न करता है।

२. जाति को उत्पन्न करने का काम केवल डिंभ का है। इसमें शुक्राणु कुछ भी भाग नहीं लेता।

३. हिप्पोक्रटीज़ (Hippocrates) का कहना है कि आगामी संतान की जाति माता-पिता के रज और शुक्र की अधिकता व उनकी शक्ति पर निर्भर करती है। यदि पिता का शुक्र अधिक है और अधिक शक्तिवान् है तो पुत्र होगा। किंतु यदि माता का रज अधिक है व शक्ति में अधिक है तो पुत्री होगी।

४. यदि पिता अधिक बलवान् है तो पुत्री होगी, किंतु यदि माता का बल अधिक है तो पुत्र होगा।

५. ल्यूविनहोक (Leeuwenhock) यहाँ तक कहता है कि उसको शुक्राणु में भावी संतान की जाति दिखाई देती है।

६. यदि दाहनी ओर के अंड से उत्पन्न हुए शुक्र का दाहनी ओर का डिंभ-ग्रंथि से आए हुए डिंभ के साथ संयोग होता है तो उससे पुत्र होता है। यदि बाईं ओर की ग्रंथि के डिंभ का बाएँ अंड के शुक्र से संयोग होता है तो पुत्री होती है।

इस सिद्धांतवाले यहाँ तक कहते हैं कि दाहने ओर का शुक्र बाईं ओर के डिंभ से व बाईं ओर का शुक्र दाहनी ओर के डिंभ से नहीं मिल सकते। उनके मिलने से गर्भाधान नहीं होगा।

७. केनेस्ट्रिनी (Canesstrini) का कहना है कि यदि कई शुक्राणु एक डिंभ के भीतर प्रवेश करेंगे तो पुत्र होगा। यदि एक ही शुक्राणु प्रवेश करेगा तो उससे पुत्री होगी।

८. डाक्टर रोस का कथन इससे बिलकुल उल्टा है। उनके अनुसार थोड़े शुक्राणुओं से पुत्र और बहुत से शुक्राणुओं से पुत्री होगी।

९. होफ़कर और सेडलर (Hofacker & Sadler) कहते हैं कि माता और पिता में जिसकी आयु अधिक होगी बच्चा उसी की जाति का होगा।

१०. बर्नर और स्टोयडा (Berner & Stoida) की सम्मति बिलकुल ही इसके विरुद्ध है। उनकी राय में बच्चे की वही जाति होगी जो माता और पिता में छोटी आयुवाले की है। यदि माता की आयु छोटी है तो पुत्री होगी। यदि पिता छोटा है तो पुत्र होगा।

११. यदि पिता बलवान् है तो पुत्र होगा। किंतु यदि माता का बल अधिक है तो पुत्री होगी।

१२. दूसरे महाशय बिलकुल इसके विरुद्ध ही कहते हैं। उनके अनुसार पिता के बलवान् होने से पुत्री और माता के बलवती होने से पुत्र होगा।

इस प्रकार के और भी कई सिद्धांत हैं। उनमें से बहुत से ऐसे हैं, जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं। इनमें कोई भी ऐसा सिद्धांत नहीं है, जो विषय पर किसी प्रकार का भी प्रकाश डालता हो। सबसे पहले इस प्रश्न का वैज्ञानिक अध्ययन योरप में पिछली शताब्दी के अंतिम दिनों में आरंभ किया गया था। २६३.२०,०० बच्चों के जन्म का पूरा हाल मालूम किया गया। इससे यह मालूम

हुआ कि संसार में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक १०० पुत्रियों के लिये १०६ पुत्र जन्म लेते हैं। दूसरे देशों की गणना से भी यही पाया गया है। किंतु लड़कों की लड़कियों की अपेक्षा मृत्यु भी अधिक होती है, जिसका परिणाम यह होता है कि स्त्रियों की संख्या मरदों की अपेक्षा अधिक हो जाती है। सन् १९०१ में इँगलैंड और वेल्स में १८,००० लड़के लड़कियों से अधिक जन्मे थे, किंतु उसी वर्ष में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की २०,००० अधिक मृत्यु हुई। इस प्रकार सन् १९०१ में, इन देशों में, १०० पुरुष और १०७ स्त्रियों की निष्पत्ति थी।

पुरुषों और लड़कों की अधिक मृत्यु होने के कई कारण हैं। अन्वेषण से यह मालूम हुआ है कि गर्भकाल में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का अधिक नाश नहीं होता। किन्तु जन्म के समय अर्थात् प्रसव में और उसके पश्चात् लड़कों की अधिक मृत्यु होती है। प्रसव के समय अधिक मृत्यु का कारण लड़कों के शरीर का बड़ा आकार है। प्रसव के पश्चात् जो अधिक मृत्यु होती है, उसका कारण डाक्टर हेरी केम्पवेल के अनुसार, लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में सहनशक्ति की कमी है। इनका कहना है कि लड़कियों का जीवन लड़कों की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा सहनशक्ति अधिक होती है। प्रकृति ने यह सहनशक्ति उनको गर्भ और प्रसव के कष्ट को सहन करने के लिये दी है। इसके अतिरिक्त पुरुषों का जीवन ही ऐसा होता है कि उनको बहुत विपरीत व भयानक अवसरों का सामना करना पड़ता है। स्त्रियाँ अधिकतर घर ही पर रहती हैं। उनको जीवनोपार्जन के लिये वह सब दुस्तर और दुस्साहसपूर्ण कार्य नहीं

करने होते, जो पुरुषों को करने होते हैं। ऐसे कार्यों में बहुतों की मृत्यु होती है ; भयानक घटनाओं में पुरुष ही अधिक मरते हैं।

इसी कारण प्रकृति ने पुरुषों को अधिक उत्पन्न करने का प्रबंध किया है। किंतु अधिक पुरुष क्योंकर उत्पन्न होते हैं ; प्रकृति ने इसका प्रबंध किस भाँति और कहाँ किया है कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक उत्पन्न हों। इस संबंध में मिस्टर डौसन के सिद्धांत की कुछ व्याख्या करनी आवश्यक मालूम होती है।

मिस्टर डौसन (E. R. Dawson) का कहना है कि पिता संतान की जाति पर किसी प्रकार का भी प्रभाव नहीं डालता। जाति को उत्पन्न करनेवाली माता है। यह महाशय यह मानते हैं कि दाहिनी डिंभ-ग्रंथि के जितने डिंभ हैं, वे सब पुरुष उत्पन्न करते हैं और बाईं ग्रंथि के डिंभ स्त्री उत्पन्न करते हैं। यह दोनों ओर की ग्रंथियों का कर्म भिन्न मानते हैं। एक ग्रंथि का काम लड़के उत्पन्न करना है और दूसरी ग्रंथि का काम लड़कियाँ उत्पन्न करना है। पिता का काम केवल डिंभ को गर्भित कर देना है। इस प्रकार शुक्राणु का काम केवल यह है कि वह डिंभ को इस प्रकार उत्तेजित कर दे कि वह वृद्धि करने लगे।

पहले कहा जा चुका है कि जिस समय कन्या उत्पन्न होती है तो उसके डिंभ-ग्रंथियों में डिंभ उपस्थित होते हैं। जन्म के पूर्व ही ग्रंथि में सब डिंभ रहते हैं। जन्म के पश्चात् जीवन में कोई नया डिंभ नहीं बनता। केवल वही डिंभ, जो पहले से वहाँ पर हैं, परिपक्व होते रहते हैं। जन्म के समय प्रत्येक ग्रन्थि में कोई ७०,००० डिंभ होते हैं। समय-समय पर डिंभ परिपक्व होकर मासिक स्राव के समय पर ग्रन्थि से प्रनाली में आते हैं। बहुत से डिंभ आयु-पर्यंत परिपक्व नहीं होते।

एक और बात जो ध्यान देने योग्य है और जिसको बहुत से लेखकों ने लिखा है वह यह है कि दाहने ओर की ग्रन्थि बाईं ग्रन्थि से कुछ बड़ी होती है। मिस्टर डौसन के अनुसार दाहनी ग्रन्थि के डिम्भ से पुत्र और बाईं ग्रन्थि के डिम्भ से पुत्री होती है। इस प्रकार लड़कियों की अपेक्षा अधिक लड़कों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि दाहनी ग्रन्थि ही बाईं से बड़ी है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उसमें डिम्भ भी अवश्य ही अधिक होते हैं। मिस्टर डौसन अधिक लड़कों के उत्पन्न होने का यही कारण बताते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि एक मासिक स्राव में एक ग्रन्थि से डिम्भ आता है तो दूसरे स्राव में दूसरी ग्रन्थि डिम्भ भेजती है; दोनों ग्रन्थियाँ बारी-बारी से काम करती हैं। बहुत से अन्वेषण और प्रयोगों द्वारा इस मत का समर्थन किया गया है। इस प्रकार इस मत के अनुसार एक मास के गर्भ से लड़का होगा और दूसरे मास के गर्भ से लड़की। सिद्धन्तकर्त्ता इस बात को बड़े ज़ोर के साथ कहता है कि सारे जीवन भर यही चक्र चलता है। पहले मासिक स्राव में यदि दाहनी ग्रन्थि से डिम्भ आया है, तो उसके गर्भ से लड़का होगा। और दूसरे मास में दूसरी ओर की ग्रन्थि से जो डिम्भ आएगा उससे कन्या उत्पन्न होगी।

इसी सिद्धान्त का आधार रखते हुए मिस्टर डौसन का कहना है कि हमको यदि प्रथम संतान की जाति मालूम हो और उसका जन्मदिवस और तिथि का पता हो, तो भावी संतान की जाति सहज में बताई जा सकती है। स्त्रियों को अधिकतर मासिक स्राव प्रत्येक २८ दिन पर होता है। इस प्रकार वर्ष भर के ५२ सप्ताहों में १३ मासिक स्राव होते हैं। जिनका मासिक स्राव कम होता है,

उनको अधिक बार मासिक स्राव होता है। ऐसी दशा में मासिक काल मालूम होने से मासिक स्राव की संख्या सहज में निकाली जा सकती है।

यदि हमको उत्पन्न होनेवाले बच्चे की जाति मालूम करनी है तो पहले अन्तिम बार जन्मे हुए बच्चे का जन्मदिवस जानना आवश्यक है। साधारणतया स्त्रियों का गर्भकाल २८० दिन अथवा ४० सप्ताह होता है। यदि हम इस बच्चे के जन्मदिवस से गिनकर ४० सप्ताह पूर्व का दिन मालूम कर लें तो हमें वह दिन मालूम हो जायगा जब उस बच्चे को उत्पन्न करनेवाले डिम्भ का गर्भाधान हुआ था। यदि यह बच्चा लड़का है तो ४० सप्ताह पूर्व ग्रन्थि से आनेवाला डिम्भ दाहनी ग्रन्थि से आया था और वह पुरुष-डिम्भ था। अतएव इस स्राव से अब आगे की ओर गिनना चाहिए और इसी आधार पर कि एक मास में एक ग्रन्थि से और दूसरे मास में दूसरी ग्रंथि से डिम्भ आता है; और दाहनी ग्रंथि का पुरुष और बाईं का स्त्री डिम्भ होता है, उस समय तक गिनते हुए चले जाना चाहिए जब तक कि हम उत्पन्न होनेवाले बच्चे के संभव जन्मदिवस से ४० सप्ताह पूर्व के मासिक स्राव पर पहुँच जावें; अर्थात् यदि हमारे हिसाब के अनुसार २० दिसम्बर को बच्चे का जन्म होना है तो हमको २० दिसम्बर से ४० सप्ताह पूर्ववाले मासिक स्राव का पता लगाना चाहिए और देखना चाहिए कि इस स्राव में कौन सा डिम्भ आया है। बस, भावी सन्तान की वही जाति होगी। इस गणना में प्रत्येक दिसम्बर और जनवरी के बीच में एक स्राव का अधिक हिसाब लगा देना चाहिए।

इस प्रकार यह विदित होगा कि यदि एक वर्ष के अक्टूबर या दिसम्बर मास का गर्भ लड़का है तो दूसरे वर्ष के उसी मास का

गर्भ लड़की होगा, क्योंकि हमको तेरह मासिक स्राव का हिसाब लगाना पड़ता है। इस कारण जिस मास में किसी स्त्री के एक बच्चा हुआ है उसी मास में दूसरे वर्ष में दूसरी जाति का बच्चा उत्पन्न होगा। मिस्टर डौसन इस गणना को बिलकुल सत्य मानते हैं। उनके अनुसार इसमें त्रुटि होने की कोई संभावना नहीं है; किंतु दूसरे वैज्ञानिक लोग इसको संदेह की दृष्टि से देखते हैं। अभी तक यह सिद्धांत भी उसी अवस्था में है जिसमें कई दूसरे हैं।

इस सिद्धांत के समर्थन में डोसन महाशय ने अनेक उदाहरण लिखे हैं, जहाँ उनकी गणना के अनुसार परिणाम ठीक निकले हैं। क्वीन विक्टोरिया (Queen Victoria) के परिवार का उन्होंने उदाहरण दिया है। प्रथम संतान—प्रिंसेस विक्टोरिया—जन्म-दिवस—२१ नवम्बर, १८४०। दूसरी संतान—किंग ऐडवर्ड—जन्मदिवस—९ नवंबर, १८४१।

ड्यूक आफ़ एडिनबरा का परिवारः—

प्रथम संतान — पुत्र — जन्मदिन — अक्टूबर १८७४.

दूसरी ,, पुत्री ,, अक्टूबर १८७५.

ड्यूक आफ़ केनाट का परिवारः —

प्रथम संतान — पुत्री — जन्मदिन — जनवरी १८८२.

दूसरी ,, पुत्र ,, जनवरी १८८३.

किन्तु यदि बच्चा तीसरे वर्ष उसी मास होगा तो उसकी जाति भी वही होगी, जो प्रथम वर्ष में उत्पन्न हुए बच्चे की जाति थी। साधारण तौर से इस प्रकार भी हिसाब लगाते हैं कि अन्तिम बच्चे के जन्ममास से गिनना आरम्भ करके उत्पन्न होनेवाले बच्चे के जन्म लेने के मास तक गिनते हैं। इससे बच्चे की जाति का

पता लग जाता है; किन्तु मिस्टर डौसन के अनुसार यह गणना उतनी ठीक नहीं होती जितनी कि मासिक स्राव के अनुसार की गई गणना होती है। इन महाशय ने अपने पत्र में बहुत से उदाहरण दिए हैं जिनमें से निम्न-लिखित उदाहरण विशेष हैं।

रूस के अन्तिम ज़ार के परिवार में जारोना से निम्न-लिखित बच्चे उत्पन्न हुए—

Princess Olga (प्रिंसेज़ ओलगा)—जन्मदिवस १५ नवं० १८९५.
Princess Tatiana (,, टोटियाना)—,,—१० जून १८९७.
Princess Marie (,, मेरी)—,,—२६ जून १८९९.
Princess Anastasia (, ऐनेस्टेजिया)—,,—१८ जून १९०१.
Prince Alexis (प्रिंस ऐलेक्सिस)—,,—१२ अगस्त १९०४.

इसी प्रकार स्पेन के राजघराने का भी उदाहरण दिया गया है:—

1. Prince of Asturias—पुत्र—जन्म-दिन १० मई १९०७.
2. Prince of Jaime —पुत्र— ,, — २३ जून १९०८.
3. Princess Beatrice —पुत्री— ,, — २२ जून १९०९.
4. मृत बच्चा— —पुत्र— ,, — २१ मई १९१०.
(इस बच्चे के उत्पन्न होने की जून १९१० में आशा थी)
5. Princess Maria —पुत्री— ,, —१२ दिसम्बर १९११.
6. Prince Juan —पुत्र— ,, —२० जून १९१३.
7. Prince Gouzale —पुत्र— ,, —२४ अक्टूबर १९१४.

मिस्टर डौसन के अनुसार यह गणना उन बच्चों के सम्बन्ध में जो समय से पूर्व ही जन्म लेते हैं, प्रायः ठीक नहीं होती। किन्तु यदि बच्चा दो मास पूर्व जन्म लेगा तो गणना के अनुसार निकाली हुई जाति ठीक होगी। यदि बच्चा केवल एक मास पूर्व जन्म लेगा

तो वह ठीक नहीं होगी। इसके अतिरिक्त दूसरी बात जिसका संतान की जाति मालूम करने पर प्रभाव पड़ता है, वह माता का मासिक स्राव है। किन्हीं स्त्रियों को स्राव २४ या २५ वें दिन हो जाता है। किन्हीं को २८ वें दिन होता है; किसी-किसी को ३० वें दिन तक होते देखा जाता है। इस प्रकार वर्ष भर के मासिक स्रावों की संख्या में बहुत अंतर पड़ सकता है। गणना करते समय इन सब बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

किसी स्त्री व पुरुष को आगामी संतान की जाति बताने से पूर्व निम्न-लिखित प्रश्नों का उत्तर जान लेना चाहिए—

१. मासिक धर्म कितने दिवस पर होता है?
२. प्रत्येक बार स्राव कितने दिन तक रहता है?
३. क्या उनमें कभी गड़बड़ी भी हो जाती है?
४. पिछला बच्चा कौन-सी तारीख को जन्मा था? वर्ष, महीना और तारीख़ सब मालूम होना चाहिए।
५. बच्चा लड़का था या लड़की?
६. वह उचित समय के पूर्व अथवा उसके पश्चात् जन्मा था अथवा उसका जन्म ठीक समय पर हुआ था? यदि उसने कुछ दिन छोड़े थे व अधिक लिये तो वह कितने दिन थे?
७. कितने दिन तक बच्चे को दूध पिलाया गया था?
८. अंतिम प्रसव के कितने दिन पश्चात् मासिक धर्म आरंभ हुआ था?
९. यदि हो सके तो अंतिम बच्चे के जन्म के पश्चात् सब मासिक स्रावों की तारीख़ मालूम कर लेनी चाहिए।
१०. अगले स्राव की तारीख़।
११. अंतिम बच्चे के जन्म के पश्चात् क्या कोई गर्भ गिरा?

१२. दूसरे बच्चों के जन्म की तारीख़ और उनकी जाति।

मिस्टर डौसन का कथन है कि इन सब बातों का ज्ञान प्राप्त करके भावी बच्चे की ठीक जाति बताने में उनको कभी असफलता नहीं हुई है। वह कहते हैं कि उनका कथन ९७% सदा ठीक निकला है। ३% की त्रुटि इस कारण होती है कि उनको सारी आवश्यक सूचना ठीक-ठीक नहीं मिलती। बहुधा माताएँ व पिता उपर्युक्त प्रश्नों का उचित उत्तर नहीं दे पाते। और कभी-कभी उनकों ग़लत सूचना मिल जाती है।

अभी तक किसी वैज्ञानिक ने डिंभ-ग्रंथि से डिंभ को निकलते हुए नहीं देखा है और न शुक्राणु द्वारा उसका गर्भाधान होते ही देखा है। इसी कारण इतने प्रकार के अनुमान किए जाते हैं। छोटे जंतुओं में यह सारी घटना देखी जा चुकी है और उसी के ऊपर मनुष्य में भी होनेवाली घटनाओं का अनुमान किया जाता है। यह समझा जाता है कि जैसा वहाँ होता है वैसा ही मनुष्य में होता होगा। किंतु कौन कह सकता है कि मनुष्य के डिंभ और शुक्राणुओं में दूसरे पशुओं के डिंभ और शुक्राणुओं से कुछ भिन्नता नहीं है। भिन्नता कुछ न कुछ अवश्य है। मनुष्य के डिंभ और शुक्राणुओं के मेल से मनुष्य ही उत्पन्न होता है और पशुओं के डिंभ और शुक्राणुओं के मेल से वही पशु उत्पन्न होते हैं जिनके वह डिंभ और शुक्राणु हैं। उनसे दूसरे पशु नहीं उत्पन्न होते। मनुष्य में किसी डिंभ और शुक्राणु से लड़का उत्पन्न होता है किंतु दूसरे से लड़की होती है। इससे मालूम होता है कि किसी प्रकार का अंतर अवश्य है, किंतु अभी तक हम उस अंतर को नहीं जान सके हैं। संभव है, वह दिन शीघ्र ही आ जावे जब हमें वह अंतर दीखने लगे और डिंभ के परिपक्व होने को भी हम देख सकें।

ऐसा होने पर इच्छित जाति का बच्चा उत्पन्न करना कुछ कठिन न होगा।

छोटे पशुओं पर वैज्ञानिकों ने जो अन्वेषण किए हैं उनके परिणाम इन सिद्धांतों से भिन्न हैं। उनके अनुसार जाति का निश्चय करना किसी प्रकार की बाह्य दशा पर निर्भर नहीं करता। भोजन इत्यादि के घटाने-बढ़ाने व माता-पिता की आयु इत्यादि का प्रभाव चाहे कुछ लड़के और लड़कियों की संख्या की निष्पत्ति पर पड़े, किंतु स्वयं बच्चे की जाति को बनाने में इन दशाओं का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। आजकल वैज्ञानिक लोग उत्पादक सेलों में क्रोमोसोमों (Chromosome) को मानते हैं। यह क्रोमोसोम सूक्ष्मदर्शक यंत्र के द्वारा डंडे की भाँति दिखाई देते हैं। प्रत्येक जाति में इनकी एक विशेष संख्या होती है। पुरुष के उत्पादक सेलों में इनकी संख्या ४७ होती है। जिस समय शुक्राणु अपने पूर्वज सेलों से, जिनको Spermatocyte कहते हैं, बनते हैं उस समय पूर्वज सेलों के पक्वीकरण में इन क्रोमोसोम के प्रबंध में कुछ परिवर्तन होता है। सैंतालिस क्रोमोसोम २३ जोड़ों में एकत्रित हो जाते हैं, और एक क्रोमोसोम अलग रह जाता है जिसको X--क्रोमोसोम कहते हैं। जिस समय इन सेलों से शुक्राणु बनते हैं तो यह जोड़ भिन्न-भिन्न होकर दोनों शुक्राणुओं में चले जाते हैं; क्योंकि एक पूर्वज सेल से केवल दो ही शुक्राणु बनते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शुक्राणु में २३ क्रोमोसोम हो जाते हैं। किंतु वह X-क्रोमोसोम केवल एक ही शुक्राणु में जाता है।

उधर डिंभ में इस प्रकार का कोई X-क्रोमोसोम नहीं होता। इसके क्रोमोसोम विभाजित होकर पूर्वज सेलों से दोनों डिंभों में समान संख्या में चले जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक डिंभ में समान

क्रोमोसोम रहते हैं। वैज्ञानिकों को प्रयोगों द्वारा यह मालूम हुआ है कि जब + क्रोमोसोमवाला शुक्राणु डिंभ से मिलता है तो स्त्रीजाति का बच्चा उत्पन्न होता है। किंतु यदि दूसरे शुक्राणु का डिंभ से संयोग होता है तो उससे पुरुष बालक उत्पन्न होता है।

यह प्रयोग छोटे श्रेणी के उन जंतुओं पर किए गए हैं जिनके जनक सेल पारदर्शी होते हैं। उनमें देखी हुई घटनाओं ही पर मनुष्य के संबंध में भी सिद्धांत निर्द्धारित किए गए हैं। साधारणतया विद्वान् यही मानते हैं कि एक डिंभ के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। एक शुक्राणु से संयोग होते ही उसका गर्भाधान हो जाता है। किंतु यह एक गूढ़ समस्या है कि जहाँ एक ही शुक्राणु से काम चल सकता था वहाँ प्रकृति ने इतनी फ़िज़ूलख़र्ची क्यों दिखाई है? सारे स्थानों में तो प्रकृत अत्यंत कंजूसी के साथ काम लेती है, किंतु यहाँ इतनी दानी क्यों बन गई है? जहाँ केवल एक का काम है वहाँ लाखों का ख़र्च करना तो बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। किंतु वास्तव में शुक्राणु और डिंभ का गर्भाधान तो किसी ने देखा नहीं है। संभव है कि एक डिंभ का गर्भाधान करने के लिये केवल एक ही शुक्राणु काफ़ी हो, किंतु इससे विरुद्ध होने की भी संभावना हो सकती है। वास्तव में इस बात का पूर्णतया निपटारा तभी हो सकता है जब शुक्राणु और डिंभ के संयोग को देखा जाय।

मिस्टर डौसन अपने सिद्धांत में यहाँ तक विश्वास रखते हैं कि उनका कथन है कि मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार संतान उत्पन्न कर सकता है। वह चाहे तो पुत्र हो, चाहे पुत्री हो। वह कहते हैं कि बहुत से लोगों ने उनकी सलाह से काम किया है और संतोषजनक परिणाम हुए हैं। नहीं कहा जा सकता कि इन

महाशय का दावा कहाँ तक ठीक है। यद्यपि इनको अपने सिद्धांत में दृढ़ विश्वास है, किंतु वैज्ञानिक संसार उसको अभी तक मानने के लिए पूर्णतया प्रस्तुत नहीं है।

जाति का प्रश्न एक महान् गूढ़ समस्या है। जिस दिन यह प्रश्न हल हो जायगा और यह मालूम हो जायगा कि अमुक कारणों से पुत्र व पुत्री उत्पन्न होते हैं और उन कारणों को वश में करने का साधन भी मनुष्य के हाथ में आ जायगा, उस समय कदाचित् बड़ी ही हलचल मच जावेगी। प्रत्येक मनुष्य पुत्र ही उत्पन्न करना चाहेगा, पुत्री कोई भी उत्पन्न न करेगा। ऐसा होना असंभव प्रतीत होता है; क्योंकि प्रकृति के नियम अटल हैं और उसका चक्र अटूट है।

आनुवंशिक परंपरा

हम देख चुके हैं कि जब शुक्राणु और डिंभ मिलते हैं तो उनसे एक अ्रूणसेल बनता है। इस अ्रूणसेल में दो बातों की अद्भुत शक्ति होती है। एक तो उसमें भाग होता है और भाग होकर उससे अनेक सेल तैयार हो जाते हैं। दूसरे इन सेलों से शरीर के भिन्न-भिन्न अंग बनते हैं। यह सेल आरंभ ही से इस प्रकार कार्य करता है कि मानों वह अपने भविष्य के मार्ग से पूर्णतया परिचित है और उसको उस पर ठीक-ठीक चलने का पूरा ज्ञान है, जिससे वह किसी स्थान पर भी त्रुटि नहीं करता ; सीधा अपने मार्ग पर चलता हुआ अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। इस सेल के भाग से जो सेल बनते हैं वे ठीक एक निश्चित विधि का अवलंबन करते हैं। जिन परिवर्त्तनों के पश्चात् शरीर के भिन्न-भिन्न अंग बनते हैं वे भी अत्यंत क्रमबद्ध होते हैं ; मानों उनको एक अत्यंत चतुर अनुभवी मनुष्य कर रहा हो। बल्कि यों कहना चाहिए कि कुछ परिवर्त्तन तो ऐसे अद्भुत् होते हैं, जो मनुष्य के कौशल और चातुर्य के बाहर हैं।

इन सेलों से बढ़कर शरीर बन जाता है। किंतु यह शरीर ठीक वैसे ही आकार और परिमाण का होता है जैसा कि उस जाति के व्यक्तियों का होता है, जो शुक्राणु और डिंभ के प्रदायक थे। सारांश यह है कि इन सेलों से जो व्यक्ति बनना है वह उसी जाति का होता है, जिसके कि माता-पिता थे। यह कभी नहीं होता कि एक जाति के शुक्राणु और डिंभ से दूसरी जाति के व्यक्ति बन जायँ। जो व्यक्ति इन सेलों से बनता है, उसमें सब वही गुण होते हैं जो माता-पिता में होते हैं। कभी-कभी न केवल यही, किंतु उनमें अधिक दूर के पूर्वजों के गुण भी देखने में आते हैं। प्रोफ़ेसर आर्थर टामसन ने कई उदाहरण लिखे हैं:—

"एक मनुष्य की दाहनी भौं की रचना कुछ विचित्र थी। वह कमान के समान बहुत ही टेढ़ी थी। बीच के कुछ बाल ऊपर की ओर को उठे हुए थे। उसके तीन पुत्रों में भी भौं की ठीक ऐसी ही रचना है। उसकी एक पोती की भौं की बनावट भी ऐसी ही है; उसके पोते की एक लड़की में भी ऐसी ही भौं देख पड़ती है। अनुसंधान करने से मालूम हुआ है कि इस मनुष्य के दादा और परदादा की भी भौं ऐसी ही थी।"

एक स्त्री ने, जिसके भूरे रंग के केश थे, बाईं आँख के नीचे एक चिह्न था और जो तोतला बोलती थी, एक मनुष्य से विवाह किया जिसके काले बाल थे और जिसकी भाषणशक्ति ठीक थी। उनके उन्नीस संतानें हुईं, जिनमें से किसी में भी माता के दोष नहीं थे; उनके पोते-पोती में भी यह दोष नहीं थे। किंतु तीसरी संतति में एक कन्या हुई, जिसमें यह सब दोष उपस्थित थे। वह तोतला बोलती थी, आँख के नीचे ठीक वैसा ही चिह्न था और बाल भी भूरे थे।

आनुवंशिक परंपरा—इससे प्रतीत होता है कि यह गुण किसी संतति में दबे रह जाते हैं और फिर भी प्रकट हो जाते हैं। इन सब विचित्र घटनाओं को वैज्ञानिक आनुवंशिक परंपरा के नाम द्वारा प्रकट करते हैं। इससे उनका यह अभिप्राय है कि माता-पिता के गुण-दोष न केवल उनकी ही संतान में किंतु आगामी संततियों में भी पहुँच सकते हैं। अतएव आनुवंशिक परंपरा के सिद्धांत द्वारा इन सब बातों का पूर्णतया समाधान करना आवश्यक है। माता-पिता के गुण तो संतान में अवश्य ही आने चाहिए, क्योंकि जैसा हम पहले देख चुके हैं। संतान माता-पिता दोनों के शरीर के अवयवों के मेल से बनती है। अतएव उनमें वह गुण आना तो स्वाभाविक ही है। किंतु वे गुण, जो पूर्वजों में उपस्थित थे, पौत्रों और प्रपौत्रों में क्योंकर आते हैं। ऐसी कौनसी वस्तु है जो इन गुणों को माता-पिता से बच्चों में ले जाती हैं? क्या शुक्राणु और डिंभ में कोई ऐसी वस्तु होती है जो उन गुणों को संतान के शरीरों में ले जाती है? और फिर वे गुण भावी संतति में क्योंकर पहुँचते हैं?

पिछले समय के भ्रूणशास्त्रवेत्ताओं का विचार था कि उत्पादक बीजों (शुक्राणु और डिंभ) में पूर्ण व्यक्ति के अंगों की रचना अत्यंत सूक्ष्म स्वरूप में वर्तमान रहती है; शरीर का प्रत्येक अंग अत्यंत सूक्ष्म कणों के स्वरूप में उपस्थित रहता है। इन बीजों के गर्भाधान के पश्चात् वही पूर्ण सूक्ष्म अंग विकसित हो जाते हैं; उनकी वृद्धि हो जाती है अर्थात् सेल के स्वरूप से पूर्ण व्यक्ति के स्वरूप में आने में उन पूर्व सूक्ष्म अंगों का केवल विकास होता है। कुछ लोगों का यहाँ तक विचार था कि भावी अनेक संतति उत्पादक सेलों में सूक्ष्म बीजरूप में रहती हैं। कुछ समझते थे

कि यह सूक्ष्म रूप डिंभ में रहते हैं; कुछ का विचार था कि शुक्राणु उनका वासस्थान है।

किंतु वैज्ञानिकों का दूसरा दल इसको नहीं मानता था। इस संप्रदाय के लोग कहते थे कि गर्भित डिंभ में किसी प्रकार की रचना नहीं होती। वह एक रचना-विहीन सेल है। इसमें उन लोगों को भावी शरीर के अंगों के कोई भी चिह्न नहीं दीखते थे। इस कारण वह ऊपर के मत से सहमत नहीं थे और भ्रूण को एक रचना-रहित सेल मानते थे।

सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा जहाँ तक पता लगता है कि डिंभ के सेल में किसी प्रकार की विशेष रचना नहीं पाई जाती, जिससे कहा जा सके कि अमुक रचना से सिर बनेगा और दूसरी रचना से टाँगें बनेंगी। वह केवल एक प्रोटोप्लाज़्म का टुकड़ा दिखाई देता है, जिसके सब भाग समान हैं और जिनमें अन्य सेलों की भाँति एक केंद्र रहता है। इससे पहले मत के अनुयायियों के कथन को किसी प्रकार भी ठीक नहीं माना जा सकता। यह मत विकास मत कह-लाता है और दूसरे को Epigenisis कहते हैं। यद्यपि विकास मत पूर्णतया अप्रमाणित सिद्ध हो चुका है, किंतु दोनों मत के अनु-यायियों में अब भी विवाद चलता रहता है। विकास मतानुयायी अपने मत में कुछ परिवर्तन कर चुके हैं। उनका कहना है कि भ्रूण-सेल में यद्यपि कोई ऐसी विशिष्ट भिन्न रचनाएँ नहीं होतीं जो भिन्न-भिन्न अंगों को बनाएँ, किंतु उनमें अणुओं के भिन्न-भिन्न समूह रहते हैं जिनसे भिन्न-भिन्न अंगों की रचना होती है। संभव है कि भिन्न-भिन्न अणुओं से ही शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की रचना होती हो और भविष्य का वृद्धि-क्रम और संतान में गुण और दोष उत्पन्न करनेवाले ऐसे ही परिमाणुओं के समूह हों, जिन पर आगे बनानेवाले प्रासाद के

आकार इत्यादि निर्भर करते हों। इस सिद्धांत का समर्थन किन्हीं प्रयोगों द्वारा नहीं हुआ है; किंतु इस सिद्धांत के मान लेने से बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। इसी कारण बहुत से वैज्ञानिक इस मत को किसी न किसी रूप में मानते हैं। यह मान लेना कि इन सेलों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती, उचित नहीं मालूम होता। बहुत से जंतुओं के उत्पादक सेल समान हैं, क्योंकि यंत्रों से देखने से उनमें कोई भिन्नता नहीं दीखती। तब फिर यह कैसे होता है कि एक उत्पादक सेल से मनुष्य बनता है तो दूसरे से बंदर या घोड़ा बनता है। इस कारण कुछ न कुछ भिन्नता तो अवश्य है। केवल हम अभी तक उसे मालूम नहीं कर सके हैं। इस कारण इस सिद्धांत को मान लेने से कि उत्पादक सेलों में परमाणुओं के भिन्न-भिन्न समूह होते हैं, जिनसे भिन्न-भिन्न अंग बनते हैं व गुण उत्पन्न होते हैं, यह कठिनता मिट जाती है।

वीज़मेन का सिद्धांत—माता-पिता के गुणों का संतान में आविर्भाव किस प्रकार होता है, इस विषय पर जर्मनी के प्रोफेसर वीज़मेन (Wiesmain) ने बहुत कार्य किया है। और उनका सिद्धांत 'उत्पादक बीज की निरंतरता' (Continuity of Germplasm) नाम से प्रसिद्ध है। इनका मत है कि माता और पिता के गुण उत्पादक सेल में क्रोमोसोम के भीतर रहते हैं। यह क्रोमोसोम जाति के गुणों के वाहक हैं, जो उनको एक संतति से दूसरी और दूसरी संतति से तीसरी संतति में पहुँचाते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि अणुसेल में माता और पिता दोनों के क्रोमोसोम उत्पादक सेलों से आते हैं। आधे क्रोमोसोम माता के और आधे पिता के होते हैं। यही क्रोमोसोम गुणों को माता-पिता से बच्चों में ले जाते हैं। वीज़मेन मानता है कि इन क्रोमोसोमों में

अत्यंत सूक्ष्म कण होते हैं, जिन पर मनुष्य के शरीर का आकार, उसके अंगों की रचना, उसके गुण इत्यादि निर्भर करते हैं। इन सारे कणों के समूह को उसने उत्पादक बीज (Germplasm) का नाम दिया है और प्रत्येक कण को वह निर्द्धारक (Detormmants) कहता है; क्योंकि यह निश्चय करते हैं कि किस प्रकार उत्पत्ति होगी और कौन सी रचना कैसी होगी। यह महाशय यह मानते हैं कि उत्पादक बीज को बनानेवाले माता-पिता नहीं होते हैं, किंतु वह पूर्वजों से बराबर चला आता है। अर्थात् जिस उत्पादक सेल से बच्चा बना है वह उत्पादक सेल माता या पिता ने नहीं बनाया है; किंतु वह उस उत्पादक सेल का एक भाग है, जिससे स्वयं माता या पिता बने थे। और उनको उत्पन्न करनेवाले उनके पूर्वजों के उत्पादक सेलों के कुछ भाग थे। वीज़मेन का कहना है कि इसी कारण पूर्वजों के गुण बच्चों में आते हैं; क्योंकि उनको उत्पन्न करनेवाला बीज अत्यंत प्राचीन पूर्वजों से चला आ रहा है।

जिस समय किसी डिंभ व शुक्राणु के उत्पादक बीज से कोई बच्चा बनता है तो उसके भिन्न-भिन्न भागों से भिन्न-भिन्न अंग बनते हैं। किंतु कुछ भाग ऐसा होता है जिससे भविष्य का उत्पादक बीज बनता है। अर्थात् बच्चे का उत्पादक बीज माता-पिता के उत्पादक बीज का एक भाग है। इस प्रकार यह बीज एक वंश से दूसरे वंश में चला जाता है। इसका कहीं नाश नहीं होता। कहीं भी इसकी निरंतरता नहीं टूटती। जिस उत्पादक बीज ने पितामह व मातामह को बनाया है वही माता और पिता को भी बनाएगा। और उन्हीं से पुत्र या पुत्री भी उत्पन्न होंगे। यही बीज आगे की संततियों को भी उत्पन्न करने का काम करेगा।

वीज़मेन का कथन है कि "प्रत्येक उत्पत्ति में सारा उत्पादक

बीज शरीर बनाने के काम में नहीं आता ; माता-पिता का सारा बीज बच्चे के शरीर बनाने में ख़र्च नहीं होता। उसका एक भाग बिना किसी प्रकार परिवर्तित हुए उत्पादक बीज के रूप में संतान में चला जाता है।"

प्रोफ़ेसर आर्थर टामसन इस सारे मत को उत्तम प्रकार से वर्णन करते हैं। वह कहते हैं कि "यदि किसी गर्भित डिंभ से जिसमें अ. क. ख. च. प. म. गुण वर्तमान हैं, किसी व्यक्ति की उत्पत्ति होती है तो उसमें यह अ. क. ख. च. प. म. सब गुण उत्पन्न होंगे। किंतु वह उत्पादक सेल जो आगे चलकर नई संतान उत्पन्न करेंगे पहले ही से अलग हो चुके हैं और उनमें अ. क. ख. च. प. म. सब गुण वर्तमान हैं। इस प्रकार नए व्यक्ति का जीवन भी उतनी ही 'पूँजी' से आरंभ होता है।" प्रोफ़ेसर टामसन का कथन कुछ सीमा तक ठीक नहीं मालूम होता। उनका कहना कि बीज से उत्पन्न हुए व्यक्ति में अ. क. ख. च. प. म. सब गुण उपस्थित होंगे, सारी बात को स्पष्ट नहीं करता। चाहे सारे गुण उपस्थित हों, किंतु यह आवश्यक नहीं है कि सारे गुण उदय भी हों; अथवा सब गुणों का उस व्यक्ति में विकास हो। कुछ गुण उदय होंगे, कुछ दबे रहेंगे। यही कारण है कि यह देखने में आता है कि कभी-कभी कई पीढ़ियों के पश्चात् कुछ गुण उदय होते हैं। पितामह या उनसे भी पूर्व पुरुषों में जो गुण थे वह बीच की दो या तीन पीढ़ियों में नहीं दिखाई देते। उसके पश्चात् वह फिर उदय होते हैं। इस कारण यह मानना पड़ता है कि यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादक बीज में सम्मिलित सब गुण एक ही साथ उदय हो जायँ। कुछ गुण उदय हों और कुछ दबे रहें, यह असंभव नहीं है।

इस प्रकार उत्पादक बीज की परंपरा सदा बनी रहती है। कोई

व्यक्ति इस बीज को नहीं उत्पन्न करता। यह किसी व्यक्ति का बीज नहीं है, किंतु एक सम्पूर्ण वंश का बीज है, जो अत्यन्त प्राचीन समय से चला आ रहा है। इस सिद्धांत के अनुसार बच्चा माता या पिता से किसी प्रकार के गुण नहीं ग्रहण करता। उसके सारे गुण वंश के गुण हैं। उसमें पिता व माता को समानता का यह कारण है कि वह भी उसी बीज से बना है, जिससे उसके माता-पिता बने हैं।

किंतु प्रत्येक व्यक्ति में दो स्थानों से बीज आता है। माता का बीज दूसरे वंश का और पिता का बीज दूसरे वंश का होता है। माता के डिंभ के बीज में माता के वंश के गुण उपस्थित होते हैं और पिता के बीज में पिता के वंश के गुण रहते हैं। जब यह दोनों बीज आपस में मिलते हैं तो उनसे उत्पन्न हुए व्यक्ति में दो प्रकार के गुण आते हैं। बच्चे के गुण दो भिन्न-भिन्न वंशों के गुणों का मिश्रण है। यही कारण है कि बच्चा न केवल माता ही का आकार व गुणों का अनुसरण करता है और न केवल पिता ही का। उसमें दोनों ही की समानता रहती है। यदि उसमें एक ही प्रकार का बीज होता तो उसके समस्त गुण भी केवल एक ही वंश के गुण होते।

आधुनिक प्राणिविज्ञानवेत्ता मानते हैं कि डिंभ के प्रोटोप्लाज़्म में कुछ आनुवंशिक मूल गुण अवश्य होते हैं, जैसे आकार की गोलाई, अंगों की रचना या उनका स्थान या शरीर की आकृति। ऐसा मानना विकासमत का एक परिवर्तित स्वरूप है। इस विचार के अनुसार डिंभ के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न अंगों की रचना के लिये उत्तरदायी हैं। इस संबंध में प्रोफ़ेसर विल्सन के किए हुए प्रयोगों से बहुत कुछ प्रकाश मिलता है।

प्रोफ़ेसर विल्सन ने मोलस्क (Mollusc) जाति के जीवों पर कुछ प्रयोग किए हैं। इस जाति में तालाब में उत्पन्न होनेवाले

घोंघे इत्यादि हैं। इन्होंने देखा है कि यदि इन जंतुओं के अंडों का कुछ भाग काट दिया जाय तो शेष अंडे से जंतु की उत्पत्ति तो अवश्य होती है, किंतु उसके शरीर के अंग अपूर्ण रह जाते हैं। यदि गर्भित डिंभ के दोनों भागों को, जब उसमें भाग होना आरंभ होता है, किसी प्रकार पृथक् कर दिया जाय तो प्रत्येक भाग से जंतु के शरीर की उत्पत्ति होगी, किंतु वह दोनों अपूर्ण शरीर बनेंगे। दोनों में किसी न किसी अंग की कमी रहेगी। जब तक समस्त अंडा वृद्धि न करेगा तब तक पूर्ण जंतु नहीं बनेगा। इससे मालूम होता है कि सेल के भिन्न-भिन्न भागों में कुछ ऐसी वस्तुएँ उपस्थित हैं जो शरीर के भिन्न-भिन्न भाग बनाती हैं। जब किसी विशेष अंग की रचना करनेवाला भाग कट जाता है तो वह अंग नहीं बनता।

इस प्रकार वीज़मैन के अनुसार वंश के उत्पादक बीजों से बच्चे का शरीर बनता है। इस बीज के द्वारा बच्चे में दोनों ओर के गुणों के निर्द्धारक पहुँचते हैं। इनमें सब प्रकार के निर्द्धारक होते हैं। हाथ, नेत्र, नख, दाँत, बाल, चर्म का वर्ण, अस्थि इत्यादि सबों को उत्पन्न करनेवाले निर्द्धारक दोनों ओर से बच्चे को बनानेवाले बीज में आते हैं। अतएव इन दोनों बीजों के समान निर्द्धारकों में अवश्य ही स्पर्द्धा होती होगी, जिससे या तो दोनों में जो बलवान् है वह अपना प्रभाव डालता होगा, अथवा दोनों मिल जाते होंगे, दोनों एक दूसरे का नाश करते होंगे, अथवा दोनों के संयोग से नए गुण उत्पन्न होंगे। हम साधारणतया यह देखते हैं कि बच्चों में कुछ माता और पिता के गुण होते हैं; उसके गुण माता-पिता के गुणों का मिश्रित फल होते हैं। ऐसा कभी देखने में नहीं आता कि बच्चे में केवल माता ही के गुण हों अथवा सब गुण पिता ही के हों या सारे गुण दोनों के गुणों का मिश्रण हों।

हम पहले मान चुके हैं कि जो बीज बच्चों को उत्पन्न करता है वह सारे वंश का होता है; किसी एक व्यक्ति का नहीं होता। अतएव किसी एक व्यक्ति में सारे गुण वंश ही के होने चाहिए। अर्थात् एक बच्चे में जो गुण देखे जाते हैं वह न केवल उसके माता व पिता ही के हैं; किंतु उसके अनंत पूर्वजों के गुण भी उसमें उपस्थित हैं। इस बात को मालूम करने के लिये कि कौन से पूर्वज के कितने गुण बच्चे में आते हैं, प्रोफ़ेसर गैल्टन ने कुत्तों पर अनेक प्रयोग किए और उनके परिणाम के अनुसार सन् १८९७ में एक सिद्धांत बनाया जिसको Law of Ancestral Heredity का नाम दिया गया। वह यह है—

"माता-पिता दोनों मिलकर बच्चे को आधे गुण देते हैं, अर्थात् उनमें से प्रत्येक $\frac{1}{4}$ गुण प्रदान करता है। बच्चे के $\frac{1}{4}$ गुण बाबा, दादी और नाना, नानी मिलकर उत्पन्न करते हैं। उनमें प्रत्येक जन $\frac{1}{16}$ गुण प्रदान करता है। इसी प्रकार इससे ऊपर की पीढ़ी के पूर्वजों से $\frac{1}{8}$ गुण आते हैं। उनसे ऊपर की पीढ़ीवालों से $\frac{1}{16}$ गुण आते हैं। इसी प्रकार क्रम चलता है। सब गुण मिलकर $\frac{1}{2} + \frac{1}{4} + \frac{1}{8} + \frac{1}{16} \ldots\ldots 1$ के बराबर हो जाते हैं। गैल्टन का कथन है कि जिस प्रकार उत्पादक सेलों में भाग होता है और जिस प्रकार उनसे कुछ भाग निकल जाते हैं और बच्चों को उत्पन्न करनेवाले सेल बनते हैं या बच्चे की उत्पत्ति आरंभ होती है उसको देखते हुए यह नियम बिलकुल ठीक है। कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) ने भी इसी विषय पर दूसरी प्रकार से अनुसंधान किया है। उसके परिणाम गैल्टन के सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलते हैं। यह अवश्य है कि माता-पिता या पूर्वजों के गुण किसी विशेष नियम के अनुसार बच्चे में आते हैं; किंतु ठीक प्रकार से कह देना

कि उनको अमुक संख्या एक स्थान से आती है और दूसरी संख्या दूसरे स्थान से आती है, असंभव है।

प्राणियों में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं; एक तो वंशानुगत (Inherited) और दूसरे लब्ध (Acquired) गुण होते हैं. जो कार्य की विशेषता या कार्याभाव के कारण विशेष व्यक्ति में उद्भूत होते हैं। यह वंशानुगत गुणों से भिन्न होते हैं; क्योंकि वह स्वयं व्यक्ति ही के जीवन में उत्पन्न होते हैं। प्रश्न यह है कि जो ऐसे गुण होते हैं, वह पिता से पुत्र को प्राप्त होते हैं या नहीं। वंशानुगत परंपरा के जितने भी सिद्धांत हैं, वह इन दोनों प्रकार के गुणों में भिन्नता करते हैं। कुछ मतों के अनुसार लब्ध गुण संतति में उद्भूत होते हैं, किंतु अधिक विद्वानों का मत है कि गुण संतत में नहीं उत्पन्न हो

लेमार्क का मत—कुछ समय हुआ जब सब वैज्ञानिकों का मत इसके पक्ष में था। वह मानते थे कि लब्ध गुण संतति को प्राप्त होते हैं। लेमार्क (Lmark) इस पक्ष का निर्माता था। लेमार्क का कहना है कि "व्यक्ति की रचना में जो भी परिवर्तन हुए हैं अथवा जो गुण उसने स्वयं प्राप्त किए हैं, वह संतति द्वारा ग्रहण कर लिए जाते हैं। परिवर्तन-युक्त व्यक्ति से जो संतान उत्पन्न होती है, उसमें वह सब परिवर्तन उपस्थित होते हैं, जो माता व पिता ने किसी प्रकार अपने शरीर में उत्पन्न किए हैं।" इस प्रकार बहुत सी विचित्रताओं की व्याख्या हो सकती है। ज़िराफ़ (Gariffe) की लंबी गर्दन इस प्रकार सहज में समझी जा सकती है। वृक्ष की पत्तियों को खाने के लिये यह जंतु गर्दन ऊपर को बढ़ाते रहे। धीरे-धीरे इनकी गर्दन लंबी होने लगी। जिन पशुओं की दो-एक इंच लंबी गर्दन हो गई, उनसे जो संतान

उत्पन्न हुई, उसको वह गर्दन की लंबाई पूर्व ही प्राप्त हो गई।
इस नवीन संतति ने यह गर्दन को लंबी करने का उद्योग जारी
रखा, जिससे उनकी गर्दन कुछ और लंबी हुई। इनसे जो संतान
हुई उसकी गर्दन पहली संतति की गर्दन से अधिक लंबी थी।
इसी प्रकार कुछ संततियों के पश्चात् जिराफ़ की गर्दन वर्त्तमान
दशा में आ गई। हरिन की तेज़ी से भागने की शक्ति का
आविर्भाव भी इसी प्रकार हुआ। अपने वैरियों से अपनी रक्षा
करने के लिये यह पशु तेज़ी से दौड़ने का उद्योग करते रहे और
जो शक्ति इससे उनको प्राप्त होती रही, उसको बराबर उनकी
संतान ग्रहण करती रही। इस प्रकार कुछ समय के पश्चात् इन
पशुओं में इतना तेज़ दौड़ने की शक्ति आ गई। साँपों के शरीर के
लंबा होने के विषय में लेमार्क का कहना है कि 'सर्प उन सरकने-
वाले जंतुओं (Reptiles) से, जैसे छिपकली, गिरगिट इत्यादि,
जिनके चार टाँगे थीं, उत्पन्न हुए हैं। किंतु यह पशु सदा पृथ्वी पर
रेंगने का उद्योग करते रहे। उनको छोटे-छोटे तंग स्थानों में होकर
निकलने, झाड़ियों के नीचे छिपने इत्यादि की आदत पड़ गई।
इस प्रकार यह पशु सदा अपने शरीर को लंबा करने का उद्योग
करते रहे, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके शरीर अत्यंत लंबे
हो गए। यदि इनकी टाँगे बहुत लंबी होतीं तो वे उनका अभि-
प्राय पूरा नहीं कर सकती थीं। और छोटी टाँगों से उनके चलने
में बाधा पड़ती। इससे इन जंतुओं में पाँवों और टाँगों का कार्य
ही जाता रहा। इस कारण इन जंतुओं में यह अंग भी बिलकुल
जाते रहे, यद्यपि प्रथम वे इनके शारीरिक रचना के भाग थे।"
उस समय के वैज्ञानिक लोग इस मत से सहमत थे। डारविन
और स्पेंसर ने लेमार्क के इस मत को मान लिया था। लब्ध गुणों

के संतति में उद्भूत होने को वह लोग मानते थे और विकास की व्याख्या करने में उसकी सहायता लेते थे। किंतु आजकल के विद्वानों की सम्मति इस मत के बिलकुल विरुद्ध है, वह इसकी सत्यता में तनिक भी विश्वास नहीं करते। लेमार्क के मत की परीक्षा करने के लिये अनेक प्रयोग किए गए हैं। उनके परिणामों से इस मत का तनिक भी समर्थन नहीं होता। बहुत से चूहों की पूँछों को कई सौ पीढ़ी तक काटा गया। किंतु फिर भी जो नए चूहे उत्पन्न हुए, उनके पूँछें वर्त्तमान थीं। चीन में यह एक प्रथा है कि वहाँ की स्त्रियों को बहुत छोटे-छोटे जूते पहनाए जाते हैं। जब कन्या उत्पन्न होती है तभी उसके पाँव में एक कड़ा जूता पहना देते हैं, जिससे उसका पाँव न बढ़ने पावे। वहाँ छोटे-छोटे पाँवों को सौंदर्य समझा जाता है। कई सौ शताब्दियों तक यह प्रथा निरंतर जारी रहने पर भी आज चीन में जो कन्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनके पाँव जन्म के समय छोटे नहीं होते। मुसलमानों में बचपन ही में सुन्नत करा देने की प्रथा जारी है और अनेक शताब्दियों से यह किया जा रहा है, किंतु उनमें ऐसा कोई बच्चा नहीं उत्पन्न होता जिसके शिश्न पर अग्रचर्म न हो।

वीज़मेन के सिद्धांत के अनुसार लब्ध संस्कार संतति में उद्भूत नहीं हो सकते; क्योंकि उत्पादक बीज का व्यक्ति से कोई संबंध ही नहीं है। वह वंशानुवंश से चला आ रहा है। व्यक्ति किसी प्रकार भी उसको बनाने में भाग नहीं लेता। हम देखते हैं कि लोहार के बाहु की पेशियाँ सदा घन चलाने से दृढ़ हो जाती हैं, किंतु उसका बच्चा साधारण पेशियों के साथ जन्म लेता है। क्योंकि बाहु की पेशियों को दृढ़ करनेवाले निर्द्धारक उत्पादक बीज में सम्मिलित नहीं हैं। उत्पादक बीज शरीर को उत्पन्न करनेवाला

है, न कि शरीर बीज को। इसी प्रकार जिराफ़ स्वयं अपनी गर्दन चाहे जितनी लंबी कर ले, किंतु इस कारण से कि पिता की गर्दन लंबी थी, पुत्र की गर्दन लंबी नहीं हो सकती। पिता और पुत्र को बनानेवाला उत्पादक बीज इन दोनों के उत्पन्न होने के पूर्व बन चुका था और उसमें इन व्यक्तियों के संस्कारों के कोई निर्धारक नहीं थे।

इस प्रकार लब्ध संस्कार एक संतति से दूसरी संतति को नहीं प्राप्त होते; किंतु लब्ध संस्कार का शब्द बड़ी गड़बड़ी में डालने-वाला है। एक प्रकार से मनुष्य में जितने संस्कार हैं; वे लब्ध हैं। खड़े होना, बोलना, चलना, मांसपेशियों की वृद्धि, वृद्ध अवस्था में सिर के बालों का उड़ जाना, वृद्धावस्था का आना, दूध के दाँतों का गिरना, ये सब लब्ध संस्कार हैं। किंतु यह कभी ध्यान में भी नहीं आ सकता कि कोई ऐसा बच्चा भी होगा, जिसमें ये शक्तियाँ न हों। समय पर दूध के दाँत अवश्य ही गिरते हैं, वृद्धावस्था अवश्य आती है, सिर के बाल अवश्य ही पकते हैं। ये शक्तियाँ शरीर की स्वाभाविक संकलित शक्तियाँ मालूम होती हैं। किंतु खड़े होना, चलना, दौड़ना इत्यादि बातें बच्चे को सीखनी पड़ती हैं। उसको जन्म से उनका कुछ ज्ञान नहीं होता और बिना शिक्षा दिए हुए वह सीख भी नहीं सकता। किंतु वास्तव में प्रश्न यह है कि वह गुण या संस्कार जो पिता या माता ने अपने जीवन में अपने उद्योग से प्राप्त किए हैं, वे बच्चों में जा सकते हैं या नहीं। वैज्ञानिक लोग इस प्रश्न का उत्तर एकदम "नहीं" देते हैं। माता-पिता चाहे जन्म भर जल में तैरते रहें, किंतु बच्चे को तैरना अवश्य ही सीखना पड़ेगा। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चाहे हम लोग धोती पहनते रहें, किंतु बच्चे को बिना सिखाए हुए धोती पहनना नहीं आएगा।

इस प्रकार बच्चे के गुण और संस्कार उन उत्पादक बीज और निर्द्धारकों पर निर्भर करते हैं, जो उसको माता-पिता से मिलते हैं। बच्चे में संस्कार निर्द्धारकों के स्वरूप में पहुँचते हैं, जिस प्रकार वे माता-पिता के शरीर में पहुँचे थे। उनमें घटा-बढ़ी करने की माता-पिता को शक्ति नहीं है; क्योंकि वे उनसे कहीं पुराने हैं।

इस सिद्धांत के अनुसार संस्कारों को उत्पन्न करनेवाला उत्पादक बीज है और यह उत्पादक बीज सहस्रों पूर्व संततियों से चला आ रहा है, क्योंकि व्यक्ति इसके बनाने व परिवर्त्तन करने में किसी प्रकार का भाग ही नहीं लेता। तब तो यह बीज उस समय का होना चाहिए, जब मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव हुआ था। उसी आदिम पुरुष का बीज आज प्रत्येक मनुष्य के शरीर में है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य में संस्कार या गुण भी वही हैं, जो उस आदिम पुरुष में थे।

न केवल यही, किंतु यह आदिम मनुष्य विकास का फल था। जीवन के सूक्ष्म स्वरूपों में परिवर्त्तन होते-होते असंख्य प्राणियों के पश्चात् मनुष्य का आविर्भाव हुआ था। इससे यह परिणाम निकलता है कि इस मनुष्य में जो बीज था, वह उस आदिम जीव का था, जिसके विकास से मनुष्य बना है। इस प्रकार मनुष्य में सिवाय पशु-संस्कारों के कोई भी उच्च संस्कार नहीं माने जा सकते। इस सिद्धांत के अनुसार माता-पिता से मनुष्य जो कुछ ग्रहण करता है, वह केवल शरीर की रचना और पाशविक संस्कार। हम साधारण अनुभव से यह जानते हैं कि बच्चे में पशुओं से अधिक कुछ उच्च संस्कार रहते हैं। किसी बच्चे में नीच संस्कार होते हैं। बचपन ही से कोई बच्चे दुष्ट होते हैं और कोई सज्जन। यह संस्कार अवश्य ही उनको माता-पिता से या उनके पूर्वजों से मिलते हैं, जिन्होंने इन गुणों को प्राप्त किया था। इस उत्पादक बीज के अनुसार किसी बच्चे

में सिवाय पाशविक संस्कारों के और किसी प्रकार के संस्कार ही नहीं होने चाहिए। किंतु हमारा साधारण अनुभव हमको यह बताता है कि बच्चे कुछ संस्कारों को लिए हुए संसार में जन्म लेते हैं और उन्हीं संस्कारों के अनुसार वे दुष्ट या सज्जन होते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार भोजन इत्यादि का उत्पादक बीज पर प्रभाव पड़ता है। शरीर का स्वास्थ्य उत्तम रहने से वह भी उत्तम दशा में रहता है। अन्य जीवित पदार्थों की भाँति उसको भी भोजन औ वायु या जल की आवश्यकता होती है। कुछ रोग और विष उसको हानि पहुँचाते हैं। किंतु और किसी प्रकार से बीज पर प्रभाव नहीं पड़ सकता।

मेंडल का सिद्धान्त—गत शताब्दी में इस विषय पर मेंडल ने बहुत कार्य किया है। ग्रेगर जोहन मेंडल (Grugor Johaun Mendel) आस्ट्रिया का रहनेवाला था और एक गिरजे का पादरी था। वहीं पर अपने पुष्पोद्यान में उसने भाँति-भाँति के फूलोंदार वृक्षों पर प्रयोग किए हैं। उसके प्रयोग विशेषकर मटर के ऊपर हुए हैं। भाँति-भाँति के मटर के वृक्षों को, कोई छोटे क़द के, कोई लंबे क़द के, हरे फूलवाले, पीले फूलवाले इत्यादि से उसने नए पौदे उत्पन्न किए और उन्हीं के परिणाम से एक सिद्धांत बनाया, जिसको Mendalism कहा जाता है।

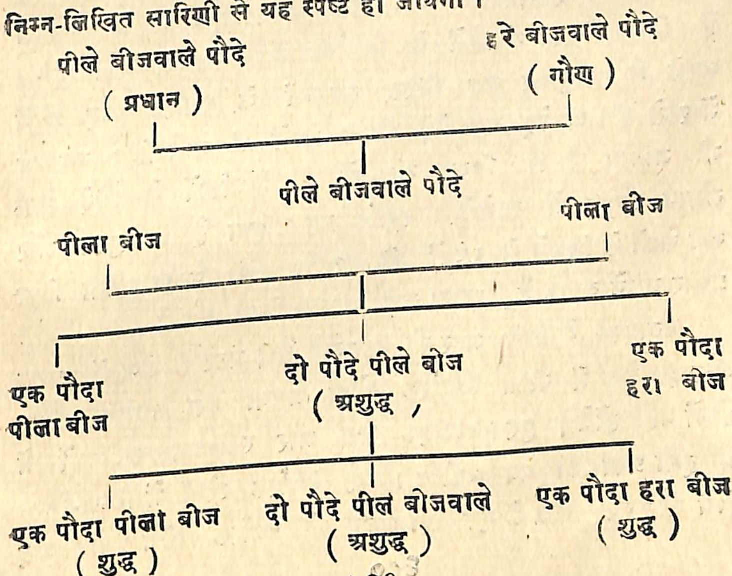
उसने ऐसे पौदों का संयोग कराया, जो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न थे। यदि एक लंबा था, तो दूसरा नाटा था। एक में यदि पीला फूल आता था, तो दूसरे का फूल हरा होता था। इनके संयोग से जो पौदे उत्पन्न हुए, उनमें मेंडल ने देखा कि वह एक ही भाँति के हैं। सब लंबे ही हैं व सब नाटे ही हैं। इस प्रकार एक संस्कार तो उनमें स्पष्ट है, किंतु दूसरा बिलकुल ही नदारद है।

इससे उसने एक संस्कार को प्रधान माना और दूसरे को गौण। जो संस्कार स्पष्ट हो जाता है, वह प्रधान है और दूसरा जो स्पष्ट नहीं होता है, वह गौण। यहाँ उसने देखा कि जब लंबे और नाटे पौदों का उसने संयोग कराया, तो उससे केवल लंबे ही पौदे उत्पन्न हुए। यहाँ पर लंबा होने का प्रधान संस्कार है और नाटापन गौण संस्कार है।

लंबे और नाटे पौदों के संयोग से जो लंबे पौदे उत्पन्न हुए, उसने इनका आपस में फिर संयोग कराया। इस बार जो पौदे उत्पन्न हुए, उनमें प्रत्येक चार में एक पौदे में गौण संस्कार स्पष्ट हो गया। वह स्वयं लिखता है कि "इस प्रथम संतति के पौदों का आपस में जब संयोग कराया गया, तो उससे दोनों प्रकार के पौदे उत्पन्न हुए। किंतु प्रत्येक चार में तीन तो लंबे और एक नाटा था, जिसमें प्राचीन नाटे पौदे की सब विशेषताएँ उपस्थित थीं। इस प्रकार प्रत्येक तीन प्रधान संस्कारों के पश्चात् एक गौण संस्कार स्पष्ट हो जाता था। जितने भी पौदे उत्पन्न हुए, वे सब इसी भाँति के थे। किसी भी प्रयोग में इन दोनों के अतिरिक्त किसी प्रकार का पौदा नहीं उत्पन्न हुआ।"

इस बात का ठीक प्रकार से निश्चय करके मेंडल ने फिर इस संतति के पौदों का आपस में संयोग करवाया। उसने देखा कि गौण संस्कारवाले पौदों से केवल उसी प्रकार के पौदे उत्पन्न होते हैं। अर्थात् यदि गौण संस्कारवाले पौदों का रंग हरा है, तो उससे केवल हरे ही रंग के पौदे उत्पन्न होते हैं। शेष प्रधान संस्कार-वालों में से एक चौथाई पौदे केवल प्रधान रंग व संस्कार के पौदे उत्पन्न करते हैं। शेष ५०% पौदे उसी प्रकार के पौदे उत्पन्न करते हैं, जैसे कि प्रथम संतति ने उत्पन्न किए थे; अर्थात् प्रत्येक

चार में एक गौण संस्कारवाला, और तीन प्रधान संस्कारवाले, जिनमें दो के संस्कार पूर्णतया शुद्ध नहीं थे; अर्थात् दूसरे संस्कार का उनमें कुछ छींटा था। इस प्रकार प्रथम संतति के सब पौदे प्रधान संस्कारवाले (मान लिया जाय कि वह पीला रंग है) हुए। इनसे जो पौदे उत्पन्न हुए, उनमें तीन पीले रंग के और एक हरे रंग का (जो गौण रंग है) हुआ। इनका जब संयोग कराया गया, तो हरे रंग के पौदों से केवल हरे पौदे उत्पन्न हुए। शेष तीन पीले पौदों से एक पूर्णतया पीले रंग का हुआ और दो ऐसे हुए, जिनमें प्रधान संस्कार पीला रंग था, किन्तु हरे रंग से वह अशुद्ध हो गए थे। इन अशुद्ध पौदों का जब फिर संयोग कराया गया, तो उनसे पहले ही के समान परिणाम हुआ, अर्थात् एक पूर्ण हरा, एक पूर्ण पीला और दो अशुद्ध पीले पौदे हुए। निम्न-लिखित सारिणी से यह स्पष्ट हो जायगा।



इस बात का अनुसंधान करके मेंडल ने इससे अधिक गूढ़ प्रश्नों को लिया। उसने ऐसे मटर के पौदों को लिया, जिनमें दो-दो विरुद्ध संस्कार थे। एक पौदे के बीज गोल और पीले थे, दूसरे पौदे के बीज हरे और सिलवटदार थे। इन पौदों के संयोग से जो नए पौदे बने, उनमें सब प्रकार के पौदे थे उनसे गोल और पीले रंग की मटर, गोल और हरे रंग की मटर, सिलवटदार हरे रंग की मटर और सिलवटदार पीले रंग की मटर उत्पन्न हुईं। किन्तु यहाँ भी इन भिन्न-भिन्न प्रकार की मटरों की संख्या में एक विशेष निष्पत्ति थी।

इन प्रयोगों के परिणामों द्वारा मेंडल ने सिद्धान्त बनाना आरम्भ किया, जिसकी सहायता से वह इन सब घटनाओं का समाधान कर सके और बता सके कि ऐसा क्यों होता है। उसके विचार में इन भिन्न-भिन्न संस्कारों के निर्धारक उत्पादक सेलों में ही रहते हैं। किन्तु विरुद्ध संस्कारों के निर्धारक एक सेल में नहीं रहते। उसके विचारानुसार यह विरुद्ध संस्कारों के निर्धारक सदा जोड़ों में रहते हैं। अर्थात् यह जोड़े भिन्न सेलों में रहते हैं। वह यह भी मानता है कि विरुद्ध संस्कारों के निर्धारकों के जोड़े सदा समान संख्या में रहते हैं। इससे वह मानता है कि पुरुष और स्त्री सेलों के मिलने से बच्चों की उत्पत्ति उसी प्रकार होगी, जिस प्रकार उसने बताई है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है।

उदाहरण के लिये मटर को फिर लेते हैं। मटर के बीज में अथवा उत्पादक सेल में पीला निर्धारक होगा अथवा हरा निर्धारक होगा, दोनों नहीं होंगे। पुरुष-उत्पादक सेल और स्त्री-उत्पादक सेलों में भी इसी प्रकार का प्रबन्ध होगा। यह निर्धारक दोनों में भिन्न-भिन्न होंगे और एक सेल में एक ही प्रकार के निर्धारक होंगे। अब यदि

दोनों सेलों का समागम होगा, तो दोनों भाँति के सेलों के संयोग का बराबर अवसर रहेगा; क्योंकि निर्द्धारकों की संख्या बराबर है। इससे पुरुष सेल का पीला निर्द्धारक एक बार स्त्री-सेल के पीले निर्द्धारक से मिलेगा और दूसरी बार हरे निर्द्धारक से मिलेगा। इस प्रकार एक पूर्ण पीला और एक पीला-हरा (अशुद्ध) मटर का बीज बनेगा। इसी प्रकार हरा निर्द्धारक एक पूर्ण और एक हरा-पीला बीज बनाएगा। यही मेंडल के सिद्धांत का सार है।

यहाँ पर जाति का प्रश्न उठता है। क्या जाति का निर्णय भी मेंडल के सिद्धान्त के अनुसार होता है। सम्भव है कि स्त्री के उत्पादक सेल में दोनों स्त्री और पुरुष निर्द्धारक हों और पुरुष के उत्पादक सेल में केवल पुरुष निर्द्धारक हों, जिससे स्त्री-संस्कार प्रधान हो जायगा। ऐसा होने से मेंडल के अनुसार स्त्री के आधे सेलों में पुरुष निर्द्धारक होंगे और आधे सेलों में स्त्री निर्द्धारक होंगे। इससे जब पुरुष के पुरुष निर्धारक स्त्री के उन सेलों से मिलेंगे, जिनमें पुरुष निर्द्धारक हैं, तो पुत्र उत्पन्न होगा। जब पुरुष के पुरुष-सेल स्त्री के स्त्री-निर्द्धारकवाले सेलों से मिलेंगे, तो कन्या होगी; क्योंकि स्त्री-संस्कार प्रधान है।

यह केवल एक कल्पना है। मेंडल का सिद्धांत वंशानुगत परंपरा के संबंध में अन्य सब सिद्धांतों की अपेक्षा उत्तम है। परीक्षाओं में वह ठीक उतरता है।

वृद्धि, वृद्धावस्था और मृत्यु

जीवन और मृत्यु दोनों शब्दों का रात-दिन की भाँति जोड़ा है। जिसका संसार में जन्म होता है, जो जन्म धारण करता है, उसका कुछ समय के पश्चात् अंत भी होता है। संसार के मंच पर कुछ समय तक अभिनव खेलकर प्रत्येक प्राणी इस मंच को त्याग देता है। उसका भौतिक शरीर जिस प्रकृति से बना था, उसी में फिर मिल जाता है। इसी का नाम मृत्यु है। मृत्यु और जीवन का अभिन्न जोड़ा है। जीवन व जन्म का नाम लेते ही मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। कोई यह नहीं सोच सकता कि वह इस संसार में सदा रहेगा और मृत्यु नामक घटना, जो प्रत्येक प्राणी के अभिनव को समाप्त कर देती है, उस पर कभी न घटेगी। प्रत्येक जन जानता है और मानता है कि उसको मरना एक दिन अवश्य ही है।

किंतु मृत्यु क्या है। विज्ञान के नेत्रों से देखने में वह एक स्वाभाविक साधारण घटना है जिस प्रकार संसार में रात-दिन और घटनाएँ घटा करती हैं, उसी प्रकार यह मृत्यु की घटना भी घटती है। सहस्रों यंत्र अपना काम करने के पश्चात् जीर्ण-शीर्ण

हो जाते हैं। किसी यंत्र में कुछ अधिक दिन काम करने की शक्ति होती है, कोई कम समय तक ही काम कर सकता है। जितना उत्तम और सूक्ष्म काम करनेवाला यंत्र होगा और जितनी उसकी रचना अधिक गूढ़ होगी उतना ही उसका जीवन छोटा होगा। कुछ समय के पश्चात् इस यंत्र के कल-पुर्जे घिस जाते हैं और वह बेकाम हो जाता है। प्रत्येक फ़ैक्टरी के गोदाम में कितने इस प्रकार के इंजिन के यंत्र पड़े हुए दिखाई देते हैं। प्रत्येक बड़े-बड़े स्टेशन पर जहाँ इंजिनों की मरम्मत होती है, ऐसे ख़ारिज व्यर्थ हुए इंजिन पड़े दिखाई देंगे। इसी प्रकार यह शारीरिक यंत्र जब काम करते-करते घिस जाता है और उसमें अधिक काम करने की शक्ति नहीं रहती, तो वह संसार से ख़ारिज हो जाता है। जिस समय इस यंत्र के पुर्ज़े बिलकुल थक जाते हैं, और अपने कर्म को करने में असमर्थ होने के कारण शिथिल पड़ जाते हैं, तो इस यंत्र के कार्यमय जीवन की समाप्ति हो जाती है। हृदय में जब रक्त भेजने की शक्ति न रही, फुस्फुस में रक्त को शुद्ध करने की शक्ति न रही, मस्तिष्क में विचारने की शक्ति न रही और पाचन-प्रणाली में इस यंत्र को पोषण करने की शक्ति न रही, तो यह यंत्र अपना काम बंद करके बिलकुल शिथिल हो जाता है। इसी का नाम मृत्यु है।

किसी व्यक्ति की मृत्यु से संसार को क्या हानि होती है। जिन पदार्थों से उसका शरीर बना था, वह संसार में ही रह जाते हैं।

क्षिति जल पावक गगन समीरा। पंचरचित यह अधम शरीरा ॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा ॥

शरीर के विश्लेषण से प्रत्येक रासायनिक मौलिक पदार्थ उससे पृथक् होकर अपने पूर्व रूप में आ जाता है। शरीर में जो जल का

भाग था, वह वाष्प बनकर वायु में मिल जाता है। सारा खनिज भाग पृथवी में मिल जाता है। उस मनुष्य के द्वारा जो संसार के लिये कर्म होता था वह किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा होने लगता है। सांसारिक कर्म तो सदा हुआ ही करते हैं। किसी व्यक्ति के आने-जाने से संसार की गति नहीं रुका करती है। सहस्रों लोग आते हैं और चले जाते हैं किंतु संसार का क्रम यों ही पूर्ववत् चला जा रहा है।

मृतक व्यक्ति के लिये वही लोग रोते हैं, जिनको उसकी मृत्यु से हानि होती है। और जितनी हानि अधिक होती है उतना ही उसके लिये शोक भी अधिक होता है। जिस व्यक्ति से किसी को कुछ लाभ नहीं पहुँचता, उसको रोनेवाले भी नहीं होते। कितने मनुष्य रात-दिन मृत्यु को प्राप्त होते हैं, जिनके परिवार, कुटुंब, मित्र इत्यादि कोई भी नहीं होते। उनके लिये दो अश्रु टपकानेवाला भी कोई नहीं होता। जिनके बहुत बड़ा कुटुंब होता है, जो अनेक प्राणियों का पालन-पोषण करते हैं और दूसरों को जिनसे लाभ होता है उनके लिये अधिक लोग शोक करते हैं। शोक केवल उपयोगिता पर निर्भर है।

किंतु क्या मृत्यु अवश्यंभावी है? क्या प्रत्येक मनुष्य को मरना अवश्य ही है? अभी तक तो संसार में कोई ऐसा प्राणी नहीं देखा गया जो इस घटना से बचा हो। कोई थोड़े समय के पश्चात्, कोई अधिक काल के पश्चात् इस घटना के चंगुल में अवश्य फँसा है। हम देखते हैं कि परिश्रम के पश्चात् विश्राम का नियम न केवल जीवित संसार ही के लिये, किंतु प्राणरहित वस्तुओं के लिये भी आवश्यक है। वह भी कुछ काल के पश्चात् अपना कर्म करना छोड़ देती है, तो फिर हम सजीव वस्तुओं से किस प्रकार आशा कर सकते हैं कि वह इस प्राकृतिक नियम का उल्लंघन कर सकेगी।

इस शरीर को भी अपना कर्म करने के पश्चात् अवश्य ही अपनी अवस्था का परिवर्तन करना होता है। इस अवस्था के परिवर्तन का ही नाम मृत्यु है। विज्ञान इस विषय में क्या कहता है, यह आगे चलकर हम विचार करेंगे; किन्तु यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है। कार्य काल के पश्चात् जीर्ण-शीर्ण अवस्था को त्यागकर दूसरी अवस्था में आना अनिवार्य है।

वृद्धि—मनुष्य के जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं। कवियों ने तो सात अवस्थाएँ तक मानी हैं। सम्भव है, उनमें कुछ वैज्ञानिक सत्य भी हों; किन्तु साधारणतया तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं। जन्म से लेकर युवा होने तक प्रथम अवस्था होती है। इसके पश्चात् युवावस्था आरम्भ होती है, जो वृद्धावस्था के पदार्पण के समय तक रहती है। उसके पश्चात् वृद्धावस्था इस शरीर का जीर्ण काल होता है और उसके साथ शरीर का भी अन्त हो जाता है। प्रथमावस्था में शरीर की वृद्धि होती है। दूसरी अवस्था में शरीर की सब शक्तियाँ अपने पूर्ण विकास पर होती हैं। तीसरी अवस्था में ये शक्तियाँ ढलने लगती हैं। यह शरीर का जीर्ण काल है।

साधारणतया यह विचार फैला हुआ है कि जन्म के पश्चात् युवाकाल के आरम्भ होने तक शरीर की तेज़ी से वृद्धि होती है। वास्तव में यह विचार बिलकुल असत्य है। इस विषय में बहुत से अन्वेषण हो चुके हैं और उनसे यह परिणाम निकला है कि जन्म के पश्चात् वृद्धि की गति वृद्धावस्था के अन्त तक बराबर कम होती जाती है। यद्यपि यह वृद्धि की कमी जीवन-पर्यन्त एक समान गति से नहीं होती; किन्तु तो भी कम अवश्य हो जाती है। जितनी अधिक वृद्धि गर्भावस्था में होती है उतनी जन्म के पश्चात् नहीं होती। जन्म लेने पर प्रथम वर्ष में जितनी वृद्धि होती है उतनी दूसरे वर्ष

में नहीं होती। दूसरे वर्ष से तीसरे वर्ष में कम वृद्धि होती है। इसी प्रकार प्रतिवर्ष वृद्धि की कमी होती चली जाती है। वृद्धावस्था में यह कमी बहुत अधिक हो जाती है। यहाँ तक कि वृद्धि बिलकुल ही बन्द हो जाती है और शरीर का भार घटने लगता है।

अन्वेषण से यह मालूम हुआ है कि जब बच्चा उत्पन्न होता है, तो उसका भार ३$\frac{१}{२}$ सेर होता है। प्रथम वर्ष के अन्त में उसका शरीर-भार ९$\frac{१}{४}$ सेर होता है, अर्थात् ५$\frac{३}{४}$ सेर बढ़ता है। दूसरे वर्ष के अन्त में उसका भार ११$\frac{१}{२}$ सेर हो जाता है। अर्थात् दूसरे वर्ष २$\frac{१}{४}$ सेर बढ़ता है। इस प्रकार प्रथम वर्ष की अपेक्षा उसका भार ३$\frac{१}{२}$ सेर कम बढ़ता है। मिस्टर जैक्सन ने गर्भावस्था में बच्चे के भार का पता लगाया है और उन्होंने अंकों को प्रकाशित भी किया है। उनका कहना है कि सबसे अधिक वृद्धि गर्भ के पहले मास में होती है। इस समय में बच्चे में १०,००० गुणा वृद्धि होती है। इसके पश्चात् के महीनों में वृद्धि कम हो जाती है। महाशय फ्री उन्थाल ने निम्न-लिखित अंक लिखे हैं—

आयु दिनों में	शरीर-भार (ग्राम में)	प्रतिदिन की वृद्धि	प्रतिदिन की प्रतिशतवृद्धि
०	०.००००४		
		—	—
८	०.०३		
		०.००३७	४०.०००
१७	०.८६		
		०.०९२	३०७
२०	१.४		
		०.१८	१६
२६	२.०		
		०.१	६
३५	२.९		
		०.१	४.५
४०	१९.०		
		३.२	२९
६०	२२०.०		
		१०.०	८.५
१००	८००.०		
		१४.५	३.०

आयु दिनों में	शरीर-भार (ग्राम में)	प्रतिदिन की वृद्धि	प्रतिदिन की प्रतिशतवृद्धि
१२०	१२००.०	२०.०	२.०
१९६	२८००.०	२१.०	१.१
२५०	३८००.०	१९.०	०.६
२८०	४५००.०	२३.०	०.५

यह अंक अत्यंत सावधानी के साथ प्राप्त किए गए हैं और अन्वेषणकर्ताओं द्वारा ये अंक प्राप्त हुए हैं। इनसे स्पष्ट है कि वृद्धि की निष्पत्ति प्रथम मास से आगे बराबर कम होती जाती है, यद्यपि संपूर्ण वृद्धि अधिक हो जाती है।

बोडविच के अन्वेषणों से यह पता लगता है कि लड़कों की अपेक्षा युवावस्था के समीप पहुँचकर लड़कियों में वृद्धि अधिक तेज़ी से होती है। इससे उनमें लड़कों की अपेक्षा युवावस्था शीघ्र आ जाती है। बारह और पंद्रह वर्ष की आयु के बीच में लड़कियों के शरीर की भार लड़कों से अधिक हो जाता है। इसके पश्चात् फिर लड़कों में अधिक वृद्धि होने लगती है और उनका शरीर-भार और लंबाई इत्यादि लड़कियों से बढ़ जाते हैं। वास्तव में शरीर की वृद्धि सदा एक समान गति से नहीं होती। किसी विशेष समय में अधिक वृद्धि होती है; उसके पश्चात् यह वृद्धि कुछ समय तक के लिये रुक जाती है, फिर कुछ समय तक शीघ्रता से होती है। इस प्रकार क्रम चलता है। कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि वृद्धि के इस प्रकार के चार चक्र होते हैं, अर्थात् जीवन में चार बार ऐसा समय आता है जब वृद्धि तेज़ी से होती है। प्रथम वृद्धिकाल गर्भ की स्थिति से प्रारंभ होता है और जन्म के एक वर्ष के पश्चात् समाप्त हो जाता है; दूसरी बार वृद्धि दूसरे वर्ष से आरंभ होती है और साढ़े पाँच

साल की आयु तक पूर्णतया जारी रहती है। इसके पश्चात् वृद्धि फिर कम हो जाती है। तीसरी बार वृद्धि ग्यारह व बारह साल से आरंभ होकर कोई पचीस वर्ष तक जारी रहती है। इसके पश्चात् युवावस्था में भी कुछ समय के लिए वृद्धिकाल फिर आता है, जो वृद्धावस्था के आरंभ होने तक जारी रहता है। किंतु इस समय वृद्धि बहुत ही धीमी होती है।

वृद्धावस्था के प्रारंभ होने पर शरीर की सब शक्तियों का ह्रास होने लगता है। शरीर के तंतुओं में परिवर्तन हो जाते हैं। प्रथम यह परिवर्तन स्पष्ट नहीं मालूम होते, किंतु पश्चात् को बिलकुल स्पष्ट हो जाते हैं। शरीर की अस्थियों की दृढ़ता जाती रहती है। उनमें खनिज लवणों की अधिकता हो जाती है। कारटिलेज में कड़ापन आ जाता है। धमनियों की दीवारों में चूने के लवण एकत्रित होने लगते हैं, जिससे उनका लचकीलापन जाता रहता है और वह कठिन रज्जु के समान हो जाती हैं। नेत्र के ताल और कनीनिका में परिवर्तन हो जाते हैं। शरीर की पेशी घुलने लगती हैं। वे दुर्बल और पतली हो जाती हैं। नाड़ियों में भी परिवर्तन हो जाता है। मस्तिष्क की शक्ति कम हो जाती है। पाचनशक्ति भी क्षीण हो जाती है। शरीर की जितनी निःस्रोत ग्रंथि हैं, उनका उद्रेचन घट जाता है। शिर के बालों के रंजक कणों का नाश होने लगता है। इस प्रकार प्रोटोप्लाज़्म की रचनाशक्ति निरंतर कम होती जाती है। किंतु शरीर की मृत्यु का तत्काल कारण किसी एक विशेष अंग का विकृत होकर अपने कर्म को छोड़ देना होता है। उस समय भी शरीर के दूसरे अंग, यदि उनको पोषण मिलता रहे, तो जीवित रह सकते हैं। किंतु तो भी वैज्ञानिक खोजों से यही मालूम होता है कि प्रत्येक जीवित पदार्थ

का स्वाभाविक अंत उसकी कर्म में अशक्ति अथवा मृत्यु है। ऐसा समय आना अनिवार्य और आवश्यक है जब उसकी शक्तियों का अंत हो जायगा और वह अपने जीवन के लिये आवश्यक क्रियाएँ करने में असमर्थ होगा।

किन्तु वृद्धावस्था में शरीर में जो परिवर्तन होते हैं, उनका क्या कारण है? कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि शरीर के बहुत से सेल, जो युवावस्था में बहुत ही लाभदायक काम किया करते हैं, दूषित हो जाते हैं। जीवन में शरीर की क्रियाओं से अनेक विष बना करते हैं। ये विष सेलों में एकत्रित होते रहते हैं। इन विषों द्वारा उन सेलों में विकार आ जाता है और वह सेल शरीर के तंतुओं का नाश करना आरंभ कर देते हैं। मेचनिकाफ़ ने ऐसे बहुत से सेलों के चित्र दिखाए हैं। उनका कहना है कि यह सेल उस विष के कारण पागल हो जाते हैं। वह अपना स्वाभाविक कर्म तो भूल जाते हैं और उसके स्थान में शरीर के तंतुओं का नाश करना आरंभ कर देते हैं। वृद्धावस्था में जो बाल श्वेत हो जाते हैं, उसका यही कारण है कि कुछ विशेष प्रकार के सेल रंजक कणों का भक्षण कर लेते हैं। अस्थियों के दुर्बल होने का कारण यह होता है कि अस्थिभंजक (Osteoclasts) नामक सेल जो पहले अस्थियों को बनाने में सहायता देते थे, वे उसके खनिज लवणों को अस्थियों में से निकाल लेते हैं। इस प्रकार चूने के लवण अस्थि से निकलकर रक्त में मिलकर धमनियों और शिराओं की दीवारों में पहुँचते हैं और वहाँ एकत्रित हो जाते हैं, जिससे धमनियाँ कड़ी हो जाती हैं। और उनके लचक का गुण नष्ट हो जाने से वह अपना कर्म करने में असमर्थ हो जाती हैं। इसी प्रकार इस विज्ञानवेत्ता की सम्मति में मांसपेशी का नाश करनेवाले भी

एक प्रकार के तंतु होते हैं। मस्तिष्क के सेलों का नाश करनेवाले सेलों को इसने Neurophag अर्थात् नाड़ीभक्षक का नाम दिया है। शरीर के दूसरे तंतुओं को भी भक्षण करनेवाले सेल बन जाते हैं, जो उनका नाश कर देते हैं।

इस प्रकार सब तंतुओं की वृद्धि कम होती चली जाती है; उनकी शक्तियों का नाश होता है; उनमें कर्म करने की सामर्थ्य नहीं रहती, उनकी क्षीणता अधिक हो जाती है और अंत को शक्तियों का पूर्ण ह्रास होने पर उनकी मृत्यु हो जाती है।

किन्तु जैसा कि हम रात-दिन देखते हैं अधिकतर मनुष्यों की अकाल मृत्यु होती है। सदा यही देखने में आता है कि मरनेवाले को कोई रोग होता है, जिससे उसके शरीर का अंत होता है। कभी कोई ऐसी घटना हो जाती है, जिससे उसके प्राणांत हो जाते हैं। मोटर, रेल, गाड़ी, युद्ध इत्यादि मनुष्य के जीवन को नाश करनेवाली सहस्रों ऐसी घटनाएँ होती हैं। स्वाभाविक अवस्था काल-मृत्यु होते बहुत ही कम देखा गया है, जहाँ शरीर का अंत केवल इसी कारण हुआ हो कि अंगों में कर्म करने की शक्ति बिलकुल क्षीण हो चुकी हो। कभी कदाचित् कोई ऐसी मृत्यु सुनी जाती हो। सदा मृत्यु का कारण कुछ न कुछ रोग होता है अथवा कभी-कभी घटनाएँ हो जाती हैं।

'शरीरं व्याधिमंदिरम्' का वाक्य अत्यंत ही बुरा प्रभाव डालनेवाला है। शरीर न कभी व्याधि का मंदिर था और न कभी होगा। प्रकृति ने उसको इस प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ प्रदान की हैं कि वह संसार में जो सहस्रों रोगों के कारण वर्तमान हैं, उनसे अपनी रक्षा कर सके। और वास्तव में शरीर उन सब कारणों से अपनी रक्षा करता है। शरीर के इस कार्य का

हमको तनिक भी पता नहीं होता; किन्तु वह निश्चयरूप से अनेक रोगोत्पादक जीवाणुओं को, जो उसके भीतर प्रवेश करते हैं, नाश करके अपनी रक्षा करता है। यदि हम अपने शरीर की पूर्णतया परीक्षा करवावें, तो हमको मालूम होगा कि हमारे शरीर के प्रत्येक भाग में कितने रोगों को उत्पन्न करनेवाले जीवाणु रहते हैं। हमारे मुँह ही में कम से कम छः प्रकार के जीवाणु सदा उपस्थित रहते हैं। हमारे अंत्रियों में इन जीवाणुओं का एक बहुत बड़ा उद्यान है, जहाँ यह अगणित जीवाणु रात-दिन उत्पन्न हुआ करते हैं। हमारे चर्म पर कितने जीवाणु रहते हैं। किन्तु तो भी हम रोगों से मुक्त रहते हैं। शरीर की असाधारण शक्तियाँ उनको नाश करके हमको स्वस्थ रखती हैं। हम उसी समय रोगी होते हैं जब प्राकृतिक नियमों का पूर्ण उल्लंघन करते हैं और प्रकृति हम से जो बात चाहती है उससे विरुद्ध कर्म करते हैं। प्रकृति हमको श्वास द्वारा शुद्ध वायु भीतर लेने के लिये आदेश करती है। किन्तु यदि हम कमरों के सब किवाड़ बंद करके उसमें दीवा जलाकर बारह-बारह घंटे उसके भीतर रहेंगे, तो प्रकृति अवश्य ही हमको ताड़ना करेगी। प्रकृति ने भोजन हमारे शरीर को उचित कार्य योग्य अवस्था में रखने के लिये दिया है। और पाचन-संस्थान की भी इसीलिये रचना की है कि वह भोजन के पदार्थों को पचाकर हमारे शरीर की शक्तियों को बनाए रखे। यदि हम इस नियम की अवहेलना करके केवल स्वाद के लिये उचित-अनुचित का विचार छोड़कर अपने जीवन को भोजन ही के लिये बना लें तो फिर प्रकृति हमको जो सज़ा दे उसके लिये उसको दोष देना अनुचित है। शरीर सदा सब प्रकार की व्याधियों से अपने को सुरक्षित रखता है। केवल उसी समय, जब हमारे कर्म अति की सीमा

से बढ़ जाते हैं, तब शरीर रोगों के चंगल में फँसता है। इससे यह समझना कि शरीर तो रोग होने ही के लिये बना है, जीवन को निराशमय बनाना और प्रकृति के साथ घोर अन्याय करना है। रोगों से जो इतनी अधिक मृत्यु होती हैं, उनका कारण यह है कि जहाँ संसार में अन्य असंख्यों प्राणी हैं, वहाँ रोग उत्पन्न करने-वाले जीवाणु भी उन्हीं प्राणियों की सृष्टि में वर्तमान हैं। उनका काम रोग उत्पन्न करना है और शरीर का काम अपनी रक्षा करना है। जब शरीर अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है, तो रोगोत्पादक जीवाणु उसको दबा लेते हैं। जब तक उसमें रक्षा की शक्ति रहती है, तब तक वह उनके चंगुल में नहीं आता। इस कारण शरीर की शक्तियों को उचित अवस्था में रखना आवश्यक है।

रोगोत्पादक जीवाणु सहस्रों हैं। इनमें से बहुतों का हमको अब तक ज्ञान भी नहीं है। यह जीवाणु अत्यंत सूक्ष्म जीव होते हैं। केवल एक सेल का इनका शरीर होता है। वह भी इतना छोटा होता है कि उसमें किसी केंद्र इत्यादि का का पता नहीं लगता। यही सूक्ष्म जीवाणु शरीर को दुर्बल पाकर उसके भीतर प्रविष्ट होकर उसमें अनेक उपद्रव मचा देते हैं। मनुष्य जो सृष्टि का स्वामी और शिरमौर है और जिसके अद्भुत मस्तिष्क की शक्तियों का अभी तक पूर्णतया पता नहीं लगा है, उनके सामने सिर झुका देता है। उसकी विचित्र कल्पनाशक्ति वहाँ काम नहीं करती। उसका श्वास फूलने लगता है, हृदय की गति बड़ी तेजी से होने लगती है, शारीरिक साम्राज्य में अराजकता फैल जाती है, रक्त तेज़ी से दौड़ने लगता है, सांवेदनिक और संचालक नाड़ियों का काम बढ़ जाता, कभी-कभी मस्तिष्क के सेल भी भ्रम में पड़ जाते हैं,

और मृत्यु उस सृष्टि के स्वामी के आँखों के सामने नाचने लगती है। कभी-कभी किसी भी प्रकार का साहस, कोई भी विधि, बुद्धिमत्ता, इत्यादि इन अदृश्य शत्रुओं की सेना को भगाने में सफल नहीं होते।

ज्यों-ज्यों विज्ञान की वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों हम इन शत्रुओं के स्वरूप को पहचानते जाते हैं। अब हम कृत्रिम साधनों द्वारा उनको संख्या बढ़ा सकते हैं। हमको मालूम हो गया है कि अमुक खाद्य वस्तुओं से उनका भली प्रकार पोषण होता है और अमुक रासायनिक वस्तुओं से उनका नाश। विज्ञान उनको जीतने के लिये निरंतर उत्तम उपाय और साधनों को ढूँढ़ रहा है और उसको बहुत कुछ सफलता होती जा रही है। हमने बहुत से जीवाणुओं से अपनी रक्षा करना सीख लिया है। इनके संबन्ध में जो हमने एक बड़ी बात का पता लगाया है, वह यह है कि Prevention is detter than cure रोग के उत्पन्न होने पर उसकी चिकित्सा से यह अच्छा है कि रोग को उत्पन्न ही न होने दिया जाय। चेचक रोग के जीवाणु को प्रवेश करके रोग को उत्पन्न करने के पूर्व ही हमको उसे रोक देने को या अकर्मण्य कर देने की विधि मालूम हो गई है। मलेरिया रोग के कारण, उसको रोकने और नष्ट करने की विधि से हम पूर्णतया परिचित हो चुके हैं। स्पायरोकीट पैलिडा (Spirochete Pallida) का जो सिफ़िलिस रोग का कारण है, नाश करने के उपाय विज्ञान ने निकाल लिए हैं। डिप्थीरिया (Diphtheria) के रोग का नाश करने का पूर्ण उपाय हमारे हाथ में है, और भी कई रोगों को हम पूर्णतया जान चुके हैं। किन्तु तो भी इन जीवाणु-जन्य रोगों से बहुत बड़ी मनुष्य-संख्या का प्रति वर्ष नाश होता है।

जिस जीवाणु ने आजकल संसार में सबसे अधिक उत्पात मचा रखा है और को प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में जीवन का नाश करता है, उसका नाम Bacillus Tuberculosis है। यह राजयक्ष्मा का जीवाणु है। प्रत्येक देश में, प्रत्येक नगर में सबसे अधिक संख्या इस रोग से ग्रस्त मनुष्यों की मिलती है। यद्यपि सहस्त्रों स्थानों में इस रोग पर प्रयोग और परीक्षाएँ हो रही हैं, सहस्त्रों वैज्ञानिक रात दिन अपने जीवन की परवाह न करके मनुष्य जाति को इस भयंकर रोग से मुक्त करने का उद्योग कर रहे हैं, तो भी अभी तक उनके प्रयोगों से आशातीत फल नहीं निकला है। हाँ, यह अवश्य मालूम हो चुका है कि इस रोग को रोकने के लिये कौन से उचित उपाय हो सकते हैं। शुद्ध वायु सबसे प्रथम आवश्यक वस्तु है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि इस रोग के सबसे बड़े शत्रु शुद्ध वायु और सूर्य प्रकाश हैं। इस कारण जहाँ तक संभव हो, गृह के बाहर खुले हुए स्थान में रहना चाहिए। मनुष्य को इतने वस्त्र पहन लेने चाहिये कि उसको ठंड न मालूम हो। इसके पश्चात् ठंडी हवा भी उसको कुछ नहीं बिगाड़ सकती। शुद्ध वायु के बराबर इस रोग की उत्तम ओषधि दूसरी नहीं मालूम हुई है। साथ में शरीर की शक्ति को जितना बढ़ाया जा सके उतना बढ़ाना चाहिए। इसका साधन उत्तम पाचनशील भोजन है। दूध सबसे उत्तम पदार्थ माना गया है। इस रोग की चिकित्सा विशेषकर शुद्ध वायु और उत्तम भोजन ही पर निर्भर करती है। यदि सदा ही शुद्ध वायु, उत्तम भोजन और इस रोग के रोगियों से दूर ही रहने का ध्यान रक्खा जाय, तो रोग होने की कोई संभावना नहीं मालूम होती।

मैलेरिया रोग से, यद्यपि इसकी बहुत उत्तम ओषधि मालूम हो

चुकी है, संसार में इस समय भी २०,००,००० मनुष्य प्रतिवर्ष अपने जीवन से हाथ धोते हैं। पीतज्वर और मैलेरिया के संबन्ध में विज्ञान की बहुत बड़ी विजय हुई है। जिस स्थान में कोई मनुष्य इन रोगों के भय से जाने का साहस नहीं करता था और जो स्थान 'White Mans' grave कहा जाता था, वह स्थान इस समय एक सेनिटोरियम की भाँति बन गया है। पनामा के प्रांत में जहाँ काम करने के लिये जाकर फ्रांस के सहस्रों व्यक्तियों के जीवन का इन रोगों के कारण नाश हो गया, इस समय विज्ञान ने वहाँ से इन रोगों के नाम तक को उड़ा दिया है; इस समय वहाँ पर कोई इन रोगों का नाम भी नहीं जानता।

गत शताब्दी के अंतिम वर्षों में मैलेरिया पर कार्य करते हुए Sir Ronalb Ross ने इस रोग के कारण को मालूम किया। उन्होंने इस रोग से पीडित मनुष्यों के प्लीहा में कुछ जीवाणुओं को सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखा। इसी आधार पर अन्वेषण करते-करते उन्होंने यह पता लगाया कि इस जीवाणु को एक रोगी से दूसरे मनुष्य तक पहुँचानेवाला एक विशेष जाति का मच्छर है; जिसको अनोफिलीज़ (Anopheles) कहते हैं। उन्होंने इस जाति के बहुत से मच्छरों के शरीर का व्यवच्छेद किया, जिससे उनको मच्छरों के अंत्रियों और मुख की नाना ग्रंथियों में यह जीवाणु मिले। इसी प्रकार और भी बहुत से प्रयोग किए गए और अंत को यह पूर्णतया निश्चय कर लिया गया कि मच्छर ही इस रोग का वाहक है। इस अन्वेषण से रोग का नाश करना बहुत सहज हो गया। यदि मच्छरों का नाश कर दिया जाय तो मनुष्य को रोग होना ही बंद हो जायगा। इसी आधार पर काम करते हुए यह मालूम किया गया कि मच्छर की उत्पत्ति किस प्रकार होती

है। यह मालूम हुआ कि मच्छर अपने अंडे जल में रखता है। जहाँ जल भरा रहता है बहुधा उसके किनारों पर मच्छर अंडे रखता है और वहीं मच्छर उत्पन्न होते हैं। अंडों से जो बच्चे उत्पन्न होते हैं वे जल में रहते हैं, किन्तु श्वास लेने के लिये उनको जल के ऊपर आना पड़ता है। यदि किसी प्रकार उनको वायु मिलना बंद किया जा सके तो उनका नाश हो जायगा। आजकल यह किया जाता है कि जहाँ पर यह मच्छर के बच्चे, जिनको लारवा (Larva) कहते हैं, होते हैं वहाँ पर जल के ऊपर मिट्टी के तेल का हलका सा परत फैला दिया जाता है, जिससे इन लारवों को वायु नहीं मिलती। इस प्रकार इनका नाश हो जाता है।

पनामा इत्यादि स्थानों में ऐसे ही कार्यों द्वारा मच्छरों का नाश किया गया। साथ में रोगी के शरीर में उपस्थित जीवाणु क्यूनीन द्वारा नष्ट किए गए। उसका परिणाम यह है कि अब उस स्थान में रोग का नाम तक भी नहीं है। इतनी बड़ी सफलता का सेहरा विज्ञान के सिर पर बँधा है। न केवल यही, किन्तु विज्ञान ने मनुष्य-जाति का इससे भी बड़ा उपकार उस समय किया, जब लार्ड लिस्टर (Lorh Lister) ने यह पता लगाया था कि आपरेशन के पश्चात् घावों में जो पूय व राध पड़ जाती है, उसका कारण पूय को उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं की उपस्थित है। इन जीवाणुओं का नाश करने के लिये उन्होंने अनेक रासायनिक पदार्थों की खोज की। जब उन्होंने इन पदार्थों द्वारा शस्त्र-कर्म के पूर्व शरीर के उस स्थान को जहाँ कर्म होनेवाला था और साथ में अपने औज़ार और शस्त्र-कर्म के समय में काम में आनेवाले वस्त्रों को भी शुद्ध करने के पश्चात् कर्म किया, तो घावों में पूय होना बंद हो गया। इस खोज ही के कारण कुछ दिनों के पश्चात् यह भी मालूम

हुआ कि प्रसव के पश्चात् जो ज्वर आने लगता है, जो प्रसूति-ज्वर कहलाता है, वह भी इन जीवाणुओं ही से उत्पन्न होता है। प्रसव के पश्चात् गर्भाशय और योनि एक खुले हुए घाव के समान होते हैं। अतः यह जीवाणु वहाँ सहज ही में पहुंच जाते हैं। इससे ज्वर आने लगता है। आजकल शल्यतांत्रिक (Surgeon) यह मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु में जीवाणुओं का निवास होता है। इस कारण शस्त्रकर्म से पूर्व सब वस्तुओं को पूर्णतया शुद्ध कर लिया जाता है, जिससे जीवाणुओं का नाश हो जाता है। आजकल घावों में पूय पड़ना एक असाधारण बात हो गई है। लार्ड लिस्टर की खोज से लाखों मनुष्यों की जान प्रतिवर्ष बचती है।

यद्यपि विज्ञान ने बहुत कुछ किया है और करता जा रहा है; किंतु तो भी इन जीवाणुओं के कारण प्रतिवर्ष मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या अपना जीवन खोती है। अब प्रश्न यह है कि यदि इन रोगों और अचानक भयानक घटनाओं से मृत्यु न हो, तो मनुष्य कितने दिन तक जीवित रह सकता है। आजकल सभ्य देशों में साधारणतया मनुष्य का जीवन-काल ४५-५० वर्ष है। हमारे देश में यह काल २५ वर्ष के लगभग है। यह काल रोग से मृत और आघात या घटनाओं से मरे हुए मनुष्यों की आयु का भी ध्यान रखते हुए निकाला गया है। इसको 'विशिष्ट जीवनकाल' कहा जाता है। यह दो बातों पर निर्भर करता है, एक शरीर को जीवित रहने की आंतरिक शक्ति, जिसे वह उत्पादक बीज से प्राप्त करता है; और दूसरी जिन दशाओं में वह रहता है, उन की शरीर को नाश करने की शक्ति। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों दशाएँ एक दूसरे के विरुद्ध हैं। रोग, भयानक घटना, मोटर से कुचल के मर जाना, युद्ध में प्राण खोना, रेल के टक्कर में जान देना, इस प्रकार

पेथ विल्सन क़द में अत्यंत नाटी थी। उसकी ऊँचाई दो फ़ुट से कुछ ही अधिक थी।

अठारहवीं शताब्दी में हेलर ने यह बात लिखी थी कि बहुधा दीर्घजीवी एक ही परिवार में पाए जाते हैं। टामसपार, जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है, के एक पुत्र था जो १२७ वर्ष की आयु को प्राप्त होकर मरा था। ऐसी दशाओं में यह मालूम होता है कि दीर्घजीवी होने का गुण एक पैतृक संस्कार है जो उत्पादक बीज के द्वारा माता-पिता से संतान को पहुँचता है और आगे को इसी प्रकार चला जाता है।

इस संबंध में वीज़मेन का मत विचार करने योग्य है। वह कहता है कि व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् भी जातियाँ जीवित रहती हैं। इसलिये उत्पादक सेलों का प्रोटोप्लाज़्म अमर है; उसकी मृत्यु नहीं होती। वह उत्पादक सेलों के प्रोटोप्लाज़्म को उत्पादक बीज कहता है। शरीर के सामान्य प्रोटोप्लाज़्म से उसको वह भिन्न मानता है। वह कहता है कि शरीर का प्रोटोप्लाज़्म परिमित है, उसका जीवन अनंत नहीं है। किंतु उत्पादक सेलों का प्रोटोप्लाज़्म अनंत है; उसकी मृत्यु नहीं होती, वह अमर है। उसके अनुसार यह गुण कुछ साधारण जंतुओं में भी पाया जाता है, जैसे अमीबा। वीज़मेन के इस कथन की परीक्षा करने के लिये अनेक प्रयोग हुए हैं और उनसे सब तरह के परिणाम निकले हैं। कुछ वीज़मेन के पक्ष का समर्थन करते हैं; कुछ उसके विरुद्ध जाते हैं। एक पेरोमिशियम नामक जंतु को, जो एक अत्यंत साधारण एक-सेलीय जीव होता है, लिया गया और उसको साढ़े तीन वर्ष तक कई प्रकार के पोषक पदार्थों में रखा गया। इस समय में प्रत्येक ४८ घंटे में उसके तीन भाग होते थे। इस प्रकार उसके शरीर

का २००० बार भाग हुआ। जिस महाशय ने प्रयोग किए थे, वह पाँच वर्ष तक इस प्रयोग को करते रहे। इस समय में जो भाग हुआ, उससे जो प्रोटोप्लाज़्म बना, वह पृथ्वी के घन फल से १,०१,००० गुणा अधिक था। इससे एक प्रकार से यही मालूम होता है कि उत्पादक-बीज अमर है।

रयूबनर (Rubner) नामक वैज्ञानिक का मत है कि वृद्धि किसी न किसी प्रकार के रासायनिक पदार्थों पर निर्भर करती है। वह समझता है कि शरीर में कुछ ऐसी रासायनिक वस्तुएँ होती हैं, जो शरीर को वृद्धि करने के लिये उत्तेजित करती रहती हैं। जब इन वस्तुओं की समाप्ति हो चुकती है तो शरीर की वृद्धि बंद हो जाती है। आंतरिक उद्रेचन के संबंध में यह कहा जा चुका है कि शरीर की कई प्रणाली-विहीन ग्रंथियाँ अस्थि-संस्थान की वृद्धि पर प्रभाव डालती हैं, उनके उद्रेचन के कम होने से व उनके नष्ट हो जाने से अस्थियाँ बढ़ना बंद कर देती हैं, किंतु उद्रेचन के अधिक होने से अस्थियाँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। बच्चे में जो बाल-ग्रंथि (Thymus) होती है, उसका अस्थियों की वृद्धि पर प्रभाव पड़ता है। एरोन (Aron) नामक प्रयोगकर्ता ने कई प्रकार से प्रयोग किए हैं और वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि यह वृद्धि की शक्ति स्वयं शरीर के तंतुओं ही में रहती हैं। यदि छोटे कुत्तों के पिल्लों को उचित भोजन न दिया जाय, तो भी वे बराबर बढ़ते ही जायँगे; यहाँ तक कि उनका अस्थि-संस्थान पूरा हो जायगा। वे दूसरे तंतुओं का आत्मीकरण कर लेंगे। किंतु अस्थियाँ अवश्य ही बढ़ती रहेंगी। इससे मालूम होता है कि तंतुओं में कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थ रहते हैं, जो अस्थियों के वृद्धि के उत्तरदायी हैं। ओस्बोर्न और मेंडल ने अपने कार्य द्वारा दिखाया

है कि शरीर की वृद्धि के लिये एक विशेष प्रकार के प्रोटीनों की आवश्यकता होती है। यदि वे प्रोटीन नहीं मिलते, तो वृद्धि बंद हो जाती है। दूसरे प्रकार के प्रोटीन शरीर को केवल इसी अवस्था में बनाए रखने के लिये पर्याप्त होते हैं ; कुछ इन दोनों में से एक भी काम नहीं कर सकते। उनसे न वृद्धि होती है और न शरीर का पोषण ही होता है। हम पहले देख चुके हैं कि आजकल के विद्वान् शरीर के लिये विटेमीन को आवश्यक समझते हैं।

यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य की वृद्धि में और उसके जीवनकाल में कोई विशेष संबंध है या नहीं। प्राचीन समय के कुछ लोगों का यह विचार था कि मनुष्य अथवा दूसरी पशु जातियों का जीवनकाल उनके वृद्धिकाल पर निर्भर करता है। अर्थात् यदि दस या बारह वर्ष तक उनकी पूर्ण वृद्धि होकर युवावस्था आ जाती है, तो समस्त जीवनकाल इस दस-बारह वर्ष का कोई गुणा होगा—स्त्तर हो अस्सी हो, किंतु उसका और इसका किसी प्रकार संबंध अवश्य होगा। बफ़्फ़न (Baffon) का कथन है कि "Total duration of life bore some definite relation to the length of the period of growth." अर्थात् वृद्धिकाल और जीवनकाल का आपस में कोई विशेष संबंध है। उसका विचार था कि जीवनकाल एक पूर्णतया निश्चित काल है, जिस पर भोजन, स्वभाव, आचार-व्यवहार का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, जैसा निश्चित हो चुका है वैसा ही रहेगा।

इस आधार के ऊपर उसका यह विचार था कि जीवनकाल वृद्धि-काल से ६ व ७ गुणा होता है। उसका कहना था कि मनुष्य में पूर्ण वृद्धि १४ वर्ष में हो चुकती है। इसलिये मनुष्य १४ वर्ष

के ६ व ७ गुणे वर्ष अर्थात् ९० या १०० वर्ष तक जी सकता है। घोड़ा चार वर्ष पर युवा हो जाता है; वह २८ या ३० वर्ष तक जीवित रह सकता है। बारहसिंघा ५ या ६ वर्ष पर पूर्ण युवा हो जाता है ; वह ३५ या ४० वर्ष तक जी सकता है।

फ्लौरेंस (Flourens) ने भी बफ्फ़न ही के अनुसार जीवन की गणना की है। किन्तु उसके विचार में बफ़्फ़न ने वृद्धि की जाँच करने में भूल की है। उसका विचार था कि पूर्ण वृद्धि उस समय पर समझनी चाहिए जब लम्बी अस्थियों के दोनों सिरे अस्थि के गात्र से जुड़ जायँ। इस प्रकार मनुष्य का वृद्धिकाल बीस वर्ष है। फ़्लौरेंस का यह मत है कि जीवनकाल वृद्धिकाल से पाँचगुणा होता है अर्थात् मनुष्य का जीवनकाल १०० वर्ष है। ऊँट आठ वर्ष में युवा होता है। वह ४० वर्ष जीता है। घोड़ा पाँच वर्ष तक वृद्धि करता है, इसलिये उसको २५ वर्ष तक जीना चाहिए।

बफ़्फ़न और फ़्लौरेंस दोनों के मत ठीक नहीं हैं। स्वयं वीज़मेन ने इन पर आक्षेप किया है। उसने घोड़े का उदाहरण लिया है। घोड़ा चार वर्ष की आयु पर पूर्ण युवा हो जाता है। उसमें संतान उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। वह पच्चीस या तीस वर्ष जीवित न रहकर कभी-कभी ४० वर्ष तक जीवित रहता है। इस प्रकार ५ व ७ गुणा न होकर उसका जीवनकाल १२ गुणा हो जाता है। चूहे बहुत जल्दी बढ़ते हैं। वे चार महीने की आयु पर संतानोत्पत्ति प्रारंभ कर देते हैं। फ़्लौरेंस के हिसाब से वे २० महीने जीवत रहने चाहिए, किन्तु वे ६० महीने तक जीवित रहते हैं। भेड़ बहुत धीरे-धीरे बढ़ती है। वह पाँच वर्ष पर जाकर युवावस्था को प्राप्त होती है। उससे पहले उसके स्थायी दाँत नहीं

निकलते। यदि पाँच वर्ष भी उसका वृद्धिकाल मान लिया जाय, तो भी उसका जीवनकाल वृद्धिकाल का पूर्णतया तिगुना भी नहीं होता। चौदहवें वर्ष में पहुँचकर वह बिलकुल बुड्ढी हो जाती है।

बफ़्फ़न का यह भी विचार था कि जीवनकाल का गर्भकाल के साथ कुछ संबन्ध है। जिन पशुओं का गर्भकाल अधिक होता है, वे अधिक समय तक जीवित रहते हैं; जिनका गर्भकाल कम होता है, उनका जीवन भी छोटा होता है। किन्तु यह विचार भी पहले विचार ही की भाँति असत्य है। तोते बहुत शीघ्रता से बढ़ते हैं। दो वर्ष का आयु पर पूर्णतया युवा हो जाते हैं और संतान उत्पन्न करना आरम्भ कर देते हैं। इनका गर्भकाल केवल २५ दिन है। पचीस दिन के पश्चात् अंडे से बच्चा बाहर आ जाता है। किन्तु यह तोते दीर्घ जीवन के लिये विख्यात हैं। हंस का उत्पत्ति-काल ३० दिन है, किन्तु वह ८० व १०० वर्ष तक जीवित रहता है।

कुछ लोगों का विचार था कि जो जाति बहुत जल्दी-जल्दी संतानोत्पत्ति करती है, उनका जीवन थोड़ा होता है। जिनमें उत्पत्ति धीरे-धीरे होती है, उनका जीवन दीर्घ होता है। उत्पत्ति जाति की रक्षा करने का एक साधन है। जो जातियाँ दूसरे जाति का शिकार बनती रहती हैं, उनको यदि जाति की रक्षा करनी है, तो अधिक संतान उत्पन्न करना आवश्यक है, जिससे कुछ संतानें तो दूसरों के द्वारा नष्ट होने से बच जायँ और वंश का नाश न होने पावे। अतएव उनके लिये यह आवश्यक है कि वह बहुत दिनों तक जीवित रहें, जिससे काफ़ी संतान उत्पन्न कर सकें; क्योंकि उन पक्षियों के बहुत-से शत्रु होते हैं, जो उनके अंडों को खा जाते हैं व नाश कर देते हैं। जितने हिंसक पक्षी हैं, वह वर्ष में केवल दो या एक ही बच्चा उत्पन्न करते हैं। जो पशु बहुत शीघ्रता

से संतान उत्पन्न करते हैं, उनको दीर्घ जीवन की कोई आवश्यकता नहीं है। वह अपना सांसारिक धर्म थोड़े ही काल में पूर्ण कर देते हैं और वह इस संसार से बिदा ले सकते हैं। चूहा, ख़रगोश इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

इससे बहुत लोगों का यह विचार है कि संतानोत्पत्ति से शरीर पर एक ऐसा प्रभाव पड़ता है, जो शरीर को कमज़ोर करता है, वह शरीर की शक्ति को मानो खींच लेता है। इस कारण जिनमें संतानोत्पत्ति शीघ्रता से होती हैं उनमें वृद्धावस्था जल्दी आ जाती है और उनकी मृत्यु भी शीघ्र ही होती है। यह साधारणतया देखा जाता है कि जिन स्त्रियों के संतान बहुत जल्दी-जल्दी और अधिक होती हैं, वे शीघ्र ही वृद्धा हो जाती हैं। इससे यह अर्थ न निकाल लेना चाहिए कि संतानोत्पत्ति की अधिकता लघु जीवन का कारण होती है। संतान के उत्पन्न होने में अधिक भार माता ही पर पड़ता है। वही गर्भ को नव मास तक धारण करती है और उत्पन्न होने के पश्चात् उसका पालन-पोषण करती है। किंतु अधिकतर यही देखा जाता है कि स्त्री और पुरुष का जीवनकाल समान ही होता है।

कुछ लेखकों का विचार था कि जीवन का भोजन के साथ संबंध है। M. Oustalct कहता है कि शाकाहारी पशुओं का जीवन मांसाहारियों से अधिक होता है। इसका कारण उनकी सम्मति में यह है कि शाकाहारियों को भोजन के प्राप्त करने में अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ता और उनको भोजन सहज ही में मिल जाता है। मांसाहारियों को भोजन पाने के लिये बहुत खोज करनी पड़ती है। चारों ओर दौड़-भाग और लड़ाई करने के पश्चात् उनको भोजन प्राप्त होता है। इनको बहुधा भूखा ही रहना पड़ता

है; क्योंकि उनका भोजन दूसरे पशुओं पर निर्भर होता है, जो स्वयं अपनी रक्षा करते हैं। हाथी, तोते आदि शाकाहारी पशु हैं। इनका जीवन बहुत दीर्घ होता है। किंतु साथ ही मांसाहारी पशु भी ऐसे हैं, जो बहुत समय तक जीवित रहते हैं। उल्लू, बाज इत्यादि मांस पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं; किंतु इनका जीवन बहुत लंबा होता है। गिद्ध भी बहुत दीर्घजीवी है।

इन विचारों और भिन्न-भिन्न मतों से यही पता लगता है कि किसी विशेष दशा का जीवन के दीर्घत्व के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। वंश का दीर्घजीवन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है; क्योंकि ऐसे परिवार देखे जाते हैं, जिनमें सभी व्यक्ति दीर्घजीवी होते हैं। साथ ही भोजन, जीवन के क्रम, आचार, स्वभाव इत्यादि का भी जीवन-काल पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। वीज़मेन स्वयं इस बात को मानता है कि उचित साधनों द्वारा जीवन को अधिक दीर्घ किया जा सकता है।

वृद्धावस्था का कारण—किंतु वृद्धावस्था क्यों आती है? इसका क्या कारण होता है और क्या वह किसी प्रकार रोकी नहीं जा सकती है? इस सम्बन्ध में प्रत्येक देश के फ़िलासफ़र अत्यंत प्राचीन समय से विचार करते आए हैं। मनुष्यजाति सदा ही अमृत पीने की लालसा में लिप्त रही है। अनेक संग्राम भी हुए हैं, किंतु अभी तक वह अमृत किसी को नहीं मिला।

Bitchsli का वृद्धावस्था के बारे में यह विचार था कि सेलों में जीवन को क़ायम रखनेवाली एक विशेष रासायनिक वस्तु है जिसके प्रभाव से सेलों में उत्पत्ति होती है। ज्यों-ज्यों उनमें उत्पत्ति अधिक होती है, त्यों-त्यों वह वस्तु दुर्बल होती चली जाती है। इसी से वृद्धावस्था का पदार्पण होता है। किंतु रासायनिक

विज्ञान के इतना उन्नति करने पर भी अभी तक किसी ऐसी वस्तु का कोई पता नहीं लगता है। वीज़मेन के अनुसार सेलों में उत्पत्ति की शक्ति के ह्रास के कारण वृद्धावस्था आती है। रात-दिन सेल नष्ट हुआ करते हैं। जिस समय वह अवस्था आ जाती है कि सेल नवीन सेलों की उत्पत्ति नहीं कर सकते, उस समय वृद्धावस्था उत्पन्न हो जाती है।

यह तो केवल एक घटना हुई, जो वृद्धावस्था में होती है। वृद्धावस्था के आने पर सेल उत्पत्ति कम कर देते हैं। यह क्योंकर कहा जा सकता है कि यही वृद्धावस्था का कारण है। वीज़मेन यह नहीं बताता कि वृद्धावस्था में सेलों में क्यों उत्पत्ति कम होती है। इसी प्रकार का अमरीका के प्रोफ़ेसर मिनट का मत है। वह कहते हैं कि सेलों की उत्पत्ति की शक्ति जीवन भर बराबर कम हुआ करती है। यहाँ तक कि वह समय आ जाता है जब व्यक्ति के शरीर में अपनी क्षति को पूर्ण करने की शक्ति नहीं रहती। बस, उस समय से शरीर का ह्रास आरंभ हो जाता है।

अब हमें देखना है कि यह बात कहाँ तक ठीक है। क्या वृद्धावस्था में सचमुच ही शरीर के सेल उत्पत्ति करना छोड़ देते हैं। डॉक्टर बुहलर के विचार में वृद्धावस्था में घाव जो देर से भरते हैं उनका कारण ही यह होता है कि नवीन सेल नहीं बनते और यदि बनते हैं तो बहुत थोड़े बनते हैं। किंतु यदि तनिक ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि यह बात ठीक नहीं है। बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनसे मालूम होता है कि शरीर के कम से कम कुछ सेलों की उत्पत्ति-शक्ति किसी प्रकार कम नहीं होती। वृद्धावस्था में बाल और नख वैसे ही उगते रहते हैं जैसे कि युवावस्था में। बल्कि कुछ लोगों का कहना है कि उनकी वृद्धि

अधिक होती है। यह बहुधा देखा जाता है कि स्त्रियों के ओष्ठों पर जो हलका सा रुआँ होता है, वह वृद्धावस्था में बड़ा हो जाता है और वहाँ पर बाल स्पष्टतया दिखाई देने लगते हैं। कुछ जातियों में, विशेषकर मंगोल जाति के पुरुषों में, दाढ़ी और मूँछ दोनों वृद्धावस्था में बड़ी तेज़ी से बढ़ते हैं; किंतु युवावस्थावाले लोगों में दाढ़ी और मूँछ दोनों बहुत कम होते हैं। इसी प्रकार नाखून भी वृद्धावस्था में तेज़ी से बढ़ते हैं।

वृद्धावस्था के संबंध में मेचनिकाफ़ का सिद्धांत, जिसका संक्षेप से पहले उल्लेख हो चुका है, बड़ा विचित्र है। वह कहता है कि वृद्धावस्था का मुख्य कारण हमारी अंत्रियाँ हैं, जिनमें असंख्य जीवाणुओं का वास है। यह जीवाणु सदा अपनी क्रिया से कुछ विष बनाया करते हैं, जो मल और मूत्र द्वारा शरीर से निकल जाते हैं। किंतु हमारी बृहद् अंत्रियों की बनावट ऐसी है कि वहाँ पर मल बहुत समय तक जमा रहता है और अंत्रियों का यह भाग मल के विषों का शोषण कर लेता है। अधिकतर विष तो शरीर से बाहर निकल जाते हैं; किंतु कुछ शरीर में संचार करते हैं। इस प्रकार यह विष शरीर में एकत्रित होते रहते हैं। इन विषों के द्वारा सौत्रिक तंतु और रक्त के श्वेताणु, जिनका काम रोग के जीवाणुओं का भक्षण करना है, विषाक्त हो जाते हैं; जिससे वह उन्मत्त हस्ती की भाँति जो वस्तु पाते हैं, उसका नाश करते हैं। वह अपने उचित कर्म को भूल जाते हैं और उससे बिलकुल विपरीत कर्म करने लगते हैं। मेचनिकाफ़ ऐसे सेलों को भक्षक सेल कहता है; क्योंकि वह शरीर के भिन्न-भिन्न तंतुओं का नाश करते हैं। सिर के बालों के रंग का उड़ जाने का कारण यही होता है कि यह सेल रंग के कणों का भक्षण कर लेते हैं।

मेचनिकाफ़ के अनुसार सारे भिन्न-भिन्न अंगों में यह भक्षक सेल संचार करके वहाँ के तंतुओं का नाश करने लगते हैं। वृद्धावस्था में पेशी जो कमज़ोर हो जाती है, उसका कारण यह होता है कि पेशी के तंतु क्षीण होने लगते हैं। यह देखा गया है कि उनमें केंद्रों की बहुत अधिकता हो जाती है और पीले रंग के कुछ कण वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। पेशी के जो सूत्र होते हैं, वह धीरे-धीरे रचनाविहीन होने लगते हैं और अंत में केंद्रों के समूह की भाँति दीखने लगते हैं। अस्थियों के दुर्बल होने का भी यही कारण होता है। उनमें एकत्रित चूने के लवण, जिनके कारण अस्थियों में दृढ़ता आती है, वहाँ से निकल जाते हैं। अस्थि की घनिष्ठता कम हो जाती है; वह झर्झरी हो जाती है और तनिक अनुचित भार पड़ने से टूट जाती है। चूने को वहाँ से निकालने-वाले एक प्रकार के सेल होते हैं। इनमें केंद्रों की संख्या अधिक होती है। यह सेल अस्थि के भीतरी स्तरों के चारों ओर एकत्रित हो जाते हैं और उनका नाश करते हैं। यह काम वह किस प्रकार करते हैं, इसका कुछ विशेष हाल मालूम नहीं है; किन्तु मेचनि-काफ़ की सम्मति में वह किसी प्रकार का अम्ल बनाते हैं, जिससे चूने के लवण घुल जाते हैं। यह चूना यहाँ से जाकर धमनी और शिराओं के भीतर एकत्रित हो जाता है, जिससे वह कड़ी पड़ जाती हैं।

इसी प्रकार मस्तिष्क के सेलों का भी नाश होता है। उनको भक्षण करनेवाले सेलों को मेचनिकाफ़ Neurophags कहता है। उसका कहना है कि शरीर की जीर्णता उत्पन्न करने में मस्तिष्क के सेलों के नाश का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। वह कहता है कि Neurophagy plays a most important part

in senesecnce' यह भक्षक सेल मस्तिष्क के सेलों को निगलते नहीं; किंतु वह उन पर चिपट जाते हैं और धीरे-धीरे उनको चूसते हैं। इस प्रकार यह उनका नाश कर डालते हैं। बहुत से वैज्ञानिक मेचनिकाफ़ के इस मत से सहमत नहीं हैं। वह किसी प्रकार के भक्षक सेलों को नहीं मानते। विशेषकर मस्तिष्क के भक्षक सेलों के तो वह लोग बिलकुल ही विरुद्ध हैं। किंतु मेचनिकाफ़ पूर्ण विश्वास के साथ इन सेलों के न माननेवालों को ललकारता है। उसने ऐसे सेलों के बहुत से फ़ोटो लिए हैं और उसने दीर्घ जीवन पर जो पुस्तक लिखी है, उसमें उनको प्रकाशित किया है।

मेचनिकाफ़ के सिद्धांत के अनुसार वृद्धावस्था का कारण बृहद् अंत्रियाँ हैं। यहाँ पर बहुत समय तक मल के एकत्रित रहने के कारण हमारा शरीर विष से संचरित हो जाता है। यदि किसी प्रकार इस विष से शरीर की रक्षा की जा सके, तो संभव है कि वृद्धावस्था बहुत समय तक न आए और इससे मृत्यु भी कुछ काल के लिये हट जाय। मेचनिकाफ़ को इसकी बड़ी आशा है। वह वृद्धावस्था को एक प्रकार का रोग समझता है, जो उचित प्रकार के साधनों द्वारा बहुत समय तक दूर रक्खा जा सकता है। इसके लिये उसने कई प्रकार के साधनों को बताया है।

वह कहता है कि यदि शरीर से बृहद् अंत्र को निकाल दिया जाय, तो इस रोग की संभावना बहुत कम रह जायगी; क्योंकि जब वह स्थान ही, जो सारे विकार को उत्पन्न करनेवाला है, निकल जायगा तो विकार की जड़ कट जायगी। मेचनिकाफ़ ने अनेक प्रकार से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विकार का मूल बृहद् अंत्र है, जहाँ भोजन का शेष एकत्रित होकर सड़ता है। बहुत

से पक्षियों में, जैसे तोते, यह भाग बहुत ही कम विकसित होता है। उनके शरीर को इस भाग से वह हानि नहीं पहुँचती, जो हमको व अन्य स्तनधारी पशुओं को पहुँचती है। मेचनिकाफ़ के विचारों के अनुसार इसमें तनिक भी संदेह करने का अवसर नहीं है कि बृहद् अंत्रि ही सारे दुख का मूल है।

दूसरा उपाय जो मेचनिकाफ़ बताता है, वह शरीर के भिन्न-भिन्न तंतुओं की शक्ति को बढ़ाना है। इसके लिये उसकी सम्मति में उन्हीं तंतुओं के रस को इनमें प्रविष्ट करना चाहिए। ऐसा करने से उनमें उत्तेजना पहुँचती और वह अधिक दृढ़ हो जाते हैं। किंतु इन दोनों उपायों को कार्यरूप में परिणत करना कठिन है। बृहद् अंत्रियों को निकालने के आपरेशन के लिये लोग जल्दी प्रस्तुत नहीं होंगे।

तीसरा उपाय जिस पर मेचनिकाफ़ ने सबसे अधिक ज़ोर दिया है, वह अंत्रियों में ही जीवाणुओं के नाश करने का उपाय है। उसका कहना है कि चोर को पकड़ने के लिये चोर ही को छोड़ना चाहिए। इसी प्रकार अंत्रियों के जीवाणुओं को मारने के लिये जीवाणुओं ही को काम में लाना चाहिए। सारे जीवाणु रोग उत्पन्न करनेवाले नहीं होते। कुछ जीवाणुओं से हमको लाभ पहुँचता है। Bacillus Lacti-नामक जीवाणु एक ऐसे ही जीवाणुओं की जाति है, जो अंत्रियों में उपस्थित दूसरे जीवाणुओं को मारते हैं। दूध से जो दही जमता है, वह इन्हीं जीवाणुओं की क्रिया के कारण होता है। अतएव दही में इनकी बड़ी संख्या उपस्थित रहती है। यह खट्टे दही में अधिक होते हैं। अतएव मेच-निकाफ़ खट्टे दही, मट्ठे, केफ़िर इत्यादि के प्रयोग करने के लिये बहुत जोर देता है। उसने स्वयं इसका प्रयोग किया है और वह

जीवन-पर्यंत बराबर प्रयोग करता रहा। इसके द्वारा वह अपने पिता व वंश के अन्य कुटुम्बियों की अपेक्षा अधिक समय तक जीवित रहा।

दही व मट्ठे के साथ यह जीवाणु अंत्रियों में पहुँचकर एक प्रकार का अम्ल उत्पन्न करते हैं, जो दूसरे जीवाणुओं के लिये हानिकारक होता है। यह एक साधारण सी बात है कि अम्ल वस्तुओं को सड़ने नहीं देता। बहुत सी वस्तुओं को बहुत समय तक सुरक्षित रखने के लिये उनको अम्ल में रख देते हैं। अम्ल उन जीवाणुओं को, जो वस्तु को सड़ाते हैं, नाश कर देता है। शर्करा से भी यही होता है। जिन फलों को शक्कर में रखकर सुरक्षित कर देते हैं, वे नहीं सड़ते। कारण यह है कि उनमें फरमेंटेशन होने लगता है और इस क्रिया के कारण कुछ जीवाणु होते हैं, जो अम्ल बनाते हैं।

अंत्रियों में जो सड़न होती है, उस पर इन जीवाणुओं का प्रभाव अध्ययन किया गया है। स्वयं जीवाणु खाए गए हैं। दूसरे प्रयोग लेक्टिक अम्ल के साथ किए गए हैं। इन प्रयोगों द्वारा यह पूर्णतया सिद्ध हो चुका है कि लेक्टिक जीवाणु अंत्रियों के हानिकारण जीवाणुओं का नाश करता है और वहाँ की सड़न को रोकता है। अतएव वह विष, जो सड़न से उत्पन्न होकर शरीर में फैलते हैं, बहुत कम हो जाते हैं। इस कारण मेचनिकाफ़ इनको अंत्रियों के भीतर काफ़ी संख्या में पहुँचाने का आग्रह करता है।

किंतु स्वयं यह जीवाणु व लेक्टिक अम्ल अंत्रियों में न पहुँचने चाहिए। उनको खट्टे दही व मट्ठे के रूप में अंत्रियों में भेजना उचित है। इन वस्तुओं का हमारे देश में बहुत प्रयोग होता है, बहुत से अन्य देशों में यहाँ से भी अधिक प्रयोग होता है।

मानवजाति सदा से इन वस्तुओं द्वारा अपने शरीर को शुद्ध करने का प्रयत्न करती आई है। और बिना जाने हुए उसने अपने जीवनकाल को दीर्घ बनाने का उद्योग किया है।

संसार में कई देशों के निवासी व जातियों का दही और मट्ठा मुख्य भोजन-पदार्थ है। रूस में मट्ठे से दो प्रकार के पदार्थ बनते हैं और उनका प्रयोग किया जाता है। अमरीका के उष्ण प्रांतों के निवासियों का मुख्य भोजन मट्ठा है। जेम्सरिले नामक लेखक ने लिखा है कि उसको एक बार सन् १८१५ में अरब के जंगल में घूमने का अवसर पड़ा। उस समय उसे मालूम हुआ कि वहाँ के जंगली निवासियों का ऊँट के दही पर ही निर्वाह होता है। वह सब प्रकार का दही चाहे वह ताज़ा हो व खट्टा हो, प्रयोग करते थे। उनका स्वास्थ्य उत्तम था, उनके शरीर में काफ़ी तेज़ी थी और उनमें से बहुतों की बहुत अधिक आयु हो चुकी थी। रिले का कहना है कि उनमें से कोई-कोई तो दो वा तीन सौ वर्ष के वृद्ध थे। इन अंकों को सत्य मानना कठिन है। हाँ, उन लोगों की आयु अवश्य ही अधिक मानी जा सकती है।

इसी प्रकार बलगेरिया के निवासी दूध पर ही, जिससे वे मट्ठा बनाते हैं, अपना जीवननिर्वाह करते हैं। इस देश में सौ वर्ष से अधिक आयुवाले बहुत लोग मिलते हैं। M. Simine ने, जो कोकेसस में एक इंजिनियर थे, सन् १९०४ में एक पत्र में निम्न-लिखित सूचना लिखी थी। "गौरी" (Gori) के प्रांत में स्बा (Sba) ग्राम में ओस्टेट जाति की एक स्त्री रहती है, जिसका नाम थैंस ऐबल्वा (Thense Aba1va) है। इसकी आयु १८० वर्ष की कही जाती है। यह अभी तक अपने गृह के कार्यों को करने के योग्य है और वस्त्र सी सकती है। यद्यपि उसकी कमर

झुक गई है, तो भी वह अच्छी तरह चल-फिर सकती है। उसने कभी शराब नहीं पी है। वह प्रात:काल उठती है। इसका मुख्य भोजन जौ की रोटी और मट्ठा है।"

मेचनिकाफ़ ने आठ वर्ष तक मट्ठा, दही इत्यादि का प्रयोग किया। इसका कहना है कि—"Am well pleased with the result and I think that my experiment has gone on long enough to justify my view.

यदि अंत्रियाँ ही हमारे जीवन के अन्त का वा उसकी क्षीणता का कारण हैं तो मेचनिकाफ़ के बताए हुए प्रयोग की अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हमारे रोगों का मुख्य कारण हमारी पाचन-प्रणाली ही में स्थित है। शरीर की दुर्बलताएँ वहीं से उत्पन्न होती हैं। दुर्भाग्य से विज्ञान अभी तक ऐसा भोजन नहीं बना सका है, जिसको 'आदर्श भोजन' कहा जा सके; जिससे शरीर की सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जायँ और उससे कुछ ऐसा शेष भाग न बचे कि वह अंत्रियों में एकत्रित होकर लाभ पहुँचाने के स्थान में हानि पहुँचाए। यदि ऐसा भोजन बन सके कि जो शरीर को पूर्णतया पोषित करे और उससे तनिक भी मल न बने, तो कदाचित् मनुष्यजाति के बहुत से कष्ट दूर हो सकें।

किंतु जब तक यह नहीं होता, तब तक अपने शरीर को उत्तम अवस्था में रखने, अपनी मानसिक शक्तियों को क्षीण न होने देने और शरीर की कार्यशक्ति का पूर्ण विकास चाहनेवालों को इन उपायों का प्रयोग करना चाहिए और साथ में सरल शुद्ध और प्रकृति के नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। इससे जीवन के दीर्घ होने की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

किंतु दिवस के पश्चात् रात्रि, कार्य के पश्चात् विश्राम, क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया का प्रकृति का अटल नियम है। जीवन के पश्चात् मृत्यु अवश्य होती है। संसार में यात्रा करने के पश्चात् "अपनी-अपनी गैल पथी सब जैहैं कोई।" संसार भी एक अद्भुत कार्यक्षेत्र है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्म करना होता है, और करने के पश्चात् चला जाना होता है। जो अपने कार्य में चूक जाते हैं, उन पर यह संसार कलंक का टीका लगा देता है जो संसार की भलाई के लिए कुछ काम कर जाते हैं, उनके सिर पर यश का सेहरा बाँध देता है।

'गच्छतीति जगत्' जो चलता-फिरता रहे वह जगत् है। यहाँ प्रत्येक वस्तु आती-जाती रहती है। कोई वस्तु स्थिर नहीं है:—

दुनिया अजब सराय फ़ानी देखी ;
हर चीज़ यहाँ की आनी-जानी देखी।
आके न जाय वह बुढ़ापा देखा ;
जाके न आय वह जवानी देखी।

शब्दानुक्रमणिका

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
	अ	
अक्षतन	३१०	Axon
अक्षि लोम	४४५	Eye libs
अंकुर (अपरा के)	५३०	Villi
अंड	४९७	Testis
अंडकोष	४९८	Tunica Allenginea
अंडधारक रज्जु	५०६	Spedmatic cord
अंडवेष्ट	४९८	TunicaAllenginea
अधिवृक्क	४२६	Supra renals
अनुकूलन	४५६	Accomodation
अनोफ़िलिज़	६१५	Anopheles
अंतःपटल	४४६	Retina
अंतरोत्पादक	५२५	Entoderm
अंतर्लसीका	४८१	Endolymph
अंतःस्थकर्ण	४७५	Internal Ear
अंतमातृका धमनी	४७३	Internal corotial Artery
अंधस्थान	४६५	Blind spot
अपरा	५२७	Placenta
अमैथुनी विधि	४९६	A sexual reproduction
अमोनिया	२६३	Ammonia

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
अर्धचंद्राकार नलिका	४७६	Semicircular Canal
अल्ट्रावायलेट किरण	३३५	Ultra violet rays
अवटुकाग्रंथि	४१८	Thyroid gland
असमदृष्टि	४६१	Astigmatism
अस्थिभंजक	६०६	Osteoclast
अश्रुग्रंथि	४४५	Lacrimal gland
अश्रुनलिका	,,	Lacrimal duct
	आ	
आनुवंशिक परंपरा	५८२	Heredity
आंतरिक उद्रेचन	४१८	Internal secretion
आंतरिक कर्णगुहा	४७३	Cavity of internal Ear
आयरिस	४४६	Iris
आयरिस का कोण	४४८	Iridic angle
आर्तव	५१५	Menstruation
	इ, ई	
इक्षुमेह	२०७	Diabetis
	उ, ऊ	
उत्तेजना	३८२	Impulse
उत्पादक बीज	५८६	Germ plasm

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
उत्पादन	४९३	Reproduction
उदर	२६३	Abdomen
उन्नतोदर	४६०	Convex
उपचर्म	३१६,३२२	Epidermis
उपवटुका	४२५	Paralthyroid
उपांड	४९७	Epididymis
उभयोत्पादक	४९६	Hermaphrodite

ए, ऐ

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
एक्रोमोगेली	४३१	Acromegaly
ऐडीसन का रोग	४२७	Addison's disease
ऐड्रिनेलिन	४२८	Adrenalin
ऐपोजेनिसिस	४८५	Epigenesis
ऐल्गी	४९५	Algae

क

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
कनीनिका	४४७	Cornea
कनीनिका का सच्छिद्र बंधन	४४८	Ligamentum pectinatum Iridis
कमल	५४९	Placenta
कर्णकुटी	४७३	Vestibule
कर्णकुटी का पश्चात् कोष्ठ	४७७	Saccule
,, ,, पूर्व कोष्ठ	,,	Utricle
कर्ण-कंठ-नाली	४७३	Eustachian tube

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी शब्द
कर्णपटह	४७३	Tympanic membrane
कर्णपाली	,,	Lobe of ear
कर्णपृष्ठ का यंत्र	४७४	Auroscope
कर्णेंद्रिय	४७२	Ear
कलल अवस्था	५२७	Morula stage
किरण-केंद्र	४५३	Focus
कुपोला	४८३	Cupola
केंचुवे	३४३	Earthworm
केलशियम आक्जेलेट	३१९	Calcium oxalate
कोक्लिया	४७३	Cochlea
कोर्टीका यंत्र	४८६	Cortis organ
क्रिटिनिज़्म	४२०	Cretinism
क्रियेटीनीन	२६३	Cretinin
क्रोमोसोम	५२०	Chrmosome

ख

खातवेष्टितांकुर	४३८	Circum vallate papiltae

ग

गंड	३८७	Ganglion
गर्भकाल	५५४	Period of pregnancy

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
गर्भाधान	५२१	Fertilization
गर्भाशय	५१२	Uterus
गवीनी	२६८,३०२	Spherical aberration
गोलापेरण	४६३	Suppressed character
गौण	५६८	Ureter
	घ	
घ्राणखंड	३५१	Oljactory lobe
घ्राणेंद्रिय	४४२	Organ of smell
	च	
चक्रांग	३४६	Convolutions
चर्म	३१६	Dermis
	छ	
छत्रिकांकुर	४४०	——
	ज	
जिह्वा	४३८	Tongue
जिह्वा कंठिका नाड़ी	४४२	Glossophraryngeal
जेली मछली	३४२	Jelly fish
	ट	
ट्रिपिल फास्फेट	३१४	Tripple phosphate

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
	ड	
डिप्थीरिया	६१३	Diphtheria
डिंभ	५११,५१२	Ovum
डिंभकोष	५१०	Grafian follicle
डिंभ-ग्रंथि	४५५,५१०	Ovary
डिंभ-प्रणाली	५११,५१२	Fallopian tube
	त	
तारा	४४७	Pupil
ताल	४४६	Lens
त्वचा	३१७	Skin
	थ	
थायरो-आयोडीन	४२५	Thyro-iodin
	द	
दंड और शंकु	४४९	Rods and cones
दंद्र	३९०	Dendron
दूरदृष्टि	४६०	Hyper metropea
द्विध्रुवीय सेल	३८८	Bipolar cells
	ध	
धूसर पदार्थ	३५५	Grey matter

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
ध्रुवीय कण	५१९	Polar bodies

न

नतोदर	४५८	Concave
नाड़ी-अक्ष	३७६	Axis fibre
नाड़ी का ध्वंस	,,	Degeneration of nerve
नाड़ी-मस्तक	६१०	Neurophaly
नाड़ी-मंडल	३३६	Nervus system
नाड़ी-सूत्र	३७६	Nerve fibre
नाड़ी-सेल	३८६	Nerve cells
नाड्याणु	३९०	Nevron
नाड्याश्रय	३९४	Nevroglia
नाति	५६६	जाति
नाल	५३६	Umbilical cord
निःस्रोत ग्रंथि	४१८	Ducllers gland
निद्धरिक	५८७	Determinants
निद्रा	४०५	Sleep
निद्रालुविष	४०९	Hypnotoxins
निरंतरता	५८६	Continuity
नेत्र	४४४	Eye
नेत्रगुहा	४४५	Orbit
नेत्रगोलक	,,	Eyeball
नेहाई	४७५	Incers

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
	प	
पतंग-समुदाय	४६९	Insects
परावर्तन	४०३	Reflex
परावर्तित क्रिया	४००	Reflex action
परिपक्वीकरण	५१९	Maturation
पश्चात् कोष्ठ	४५६	Posterior chamber
पश्चात् प्रतिबिंब	४६६	After images
पश्चात् मूल	३५०	Posterior root
पाश्चात्य ध्रुव	३५१	Occipital lobe
पिट्यूटरीन	४३२	Pituitrin
पीत बिंदु	४४८	Yellow spot
पीतांग	५११	Corpus lutenno
पीयूष ग्रंथि	४३०	Pituitory gland
पुरुष-पूर्वकेंद्र	५२३	Male pronucleus
पूर्व कोष्ठ	४५६	Anterior chamber
पूर्व मूल	३५०	Anterior root
पौरुष ग्रंथि	५०१	Prostate
प्रत्यावर्तक क्रिया	४००	Reflex action
प्रधान संस्कार	५४८	Dominant character
प्रसव	५५५	Labour
प्रसूति-काल	५६६	Puerperium
प्लीहा	४१३	Spleen
प्लैहिक धमनी	४१५	Splenic Artery

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
	फ	
फलक	४७९	Septum
फ़्लाउरेंस (नाम)	३६८	Flourens (name)
	ब	
बहिःपटल	४४६	Sclera
बहिर्लसीका	४८१	Perliymph
बहुध्रुवीय सेल	२८९	Multipolar cells
बाल	३२३	Hair
बालकोष	,,	Hair follicle
बाल-ग्रंथि	४२५	Thymus
बोमेन (नाम)	३०६	Bowman (name)
वृद्धावस्था दृष्टि	४६०	Prisbyopia
वृद्धि	६०२	Growth
वृद्धिक्रम	५४२	Development
बृहद् मस्तिष्क	३४७	Cerebrum
ब्राउन सीकर्ड	४३४	Brown Sequard (name)
	भ	
भ्रूणसेल	५२७	Embryonic cell
	म	
मध्यकर्ण	४७५	Middle ear

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
मध्यपटल	४४६	Choroid
मध्योत्पादक	५२५	Mesoderm
मस्तिष्क के केंद्र	३६०	Centres of Brain
मस्तिष्क के कोष्ठ	३५३	Ventricles of Brain
मस्तिष्कीय नाड़ियाँ	३५०	Cerebral nerves
महासंयोजक	,,	— —
मिक्सोडरमा	४२०	Myxoderma
मीनार	२६८	Pyramid
मुद्गर	४७५	Mallens
मूत्र-त्याग	३११	Micturition
मूत्र-प्रणाली	२६६	Urinary tubules
मूत्र-प्रवाहक	३०८	Dieuretics
मूत्रवाहक संस्थान	२६६	Urinary system
मूत्राशय	३०३	Urinary bladder
मूत्रोत्सिका	२६६	Glomerulus
मेदस्पिधान	३७६	Medullary sheath
मैथुनी विधि	४६६	Sexual reproduction
मैंडेल का सिद्धान्त	५६७	Mendalism
मोलस्क	५८६	Molluse
मौखिकी नाड़ी	४७३	Facial nerve
	य	
यूरिक अम्ल	३१३	Uric acid

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेजी-शब्द
यूरिया	२६२, ३०४, ३०६	Urea
योनि	५१४	Vagina
	र	
रकाब	४७५	Stapes
रजोनिवृत्ति	५१६	Menopause
रंजक कण	४५०	Pigments
रश्मि	४५२	Ray of light
राजयक्ष्मा	२६४	Tuberculosis pulmonary
	ल	
लघु मस्तिष्क	३४८	Cerebellum
लडविग (नाम)	३०५	Ludwig (name)
लब्ध	५३२	Acquired
ललाट ध्रुव	३५१	Frontal lobe
लसीका स्थान	३०७	Lymph hearts
लारवा	६१६	Laerva
लोमेश सेल	४८७	Prickle cells
	व	
वर्ण	४२४	Colour

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
वर्णापेरण	४६४	Chromatic aberration
वर्तन	४५३	Refraction
वंशानुगत	५६२	Inherited
वाष्पीभवन	३३४	Evaporation
वाह्यकर्ण	४७५	External ear
वाह्य कर्णगुहा	४७३	Cavity of external ear
वाह्य कला	४५०	External limiting membrane
वाह्योत्पादक	५२५	Ectoderm
विकासमत	५८५	Evolution
विष त्याग	३२८	Excretion of toxins
विशिष्ट जीवन-काल	६१७	Specific duration of life
वृक्क	२६३	Kidney

स

संगम	३६४	Synapse
संचालक नाड़ी	३७६	Motor nerve
समीप दृष्टि	४५७	Myopia
समीप स्थान	४५६	Near point
संस्कार	५८६	Character
संज्ञा	३२४	Sensation
सांवेदनिक नाड़ी	३७६	Sensory nerve

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
शलाका	३११	Catheter
शिफा प्रवर्द्धन	३७३	Styfoid process
शिश्न	५०७	Penis
शुक्र	५०२	Semen
शुक्र-ग्रंथि	४३२	Testis
शुक्र-नलिका	४६७	Seminiferous tubules
शुक्र-प्रणाली	,,	Ductus deferens
शुक्राणु	४३२,४६६	Sperms
शुक्राणुजनक सेल	५२०,५७६	Spermatocyte
शुक्राशय	५०१	Seminal vesicles
श्रवण-नाड़ी	४७८	Auditory nerve
श्वेत पदार्थ	३५५	White matter
	ह	
हारमोन	४६८	Harmone
हृदय का प्रसार	४२४	Dilation of heart
	ज्ञ	
ज्ञानेंद्रिय	४३७	Organs of sense

